(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के नियमसार
शास्त्र पर सन् १९७१ के प्रवचन)

नियम का सार

भाग ७

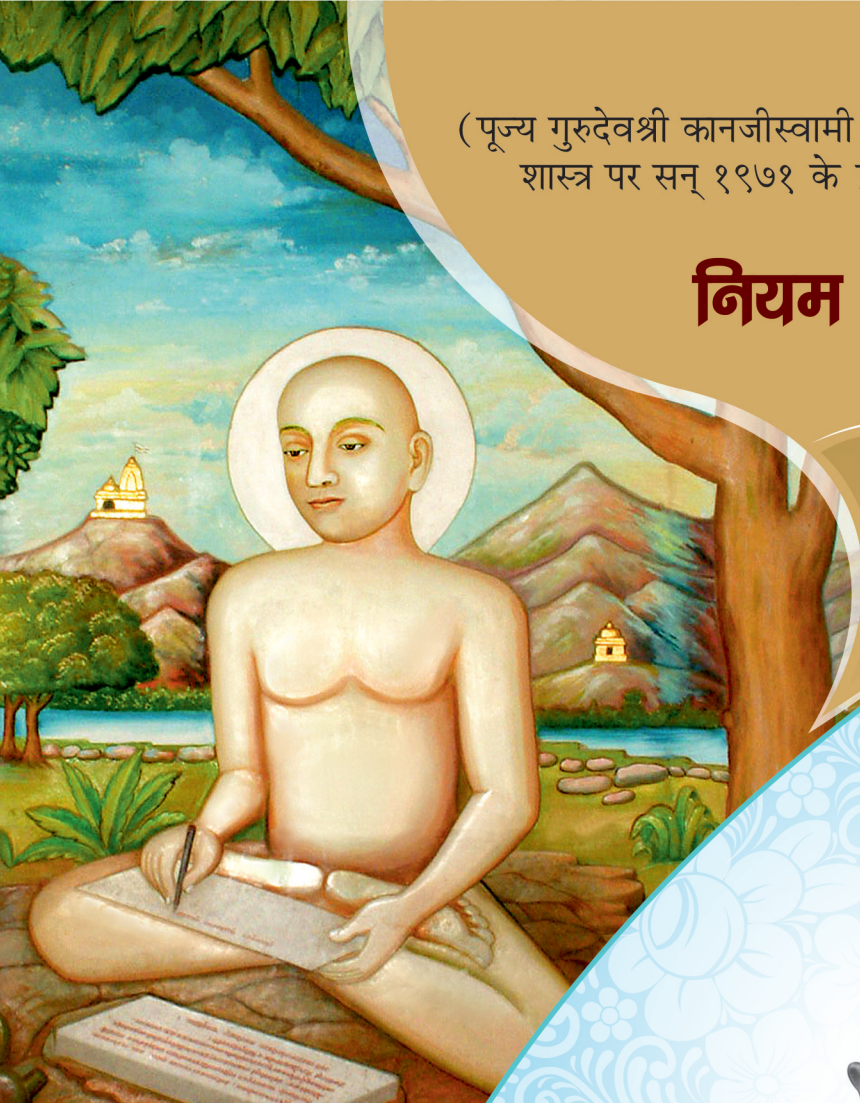

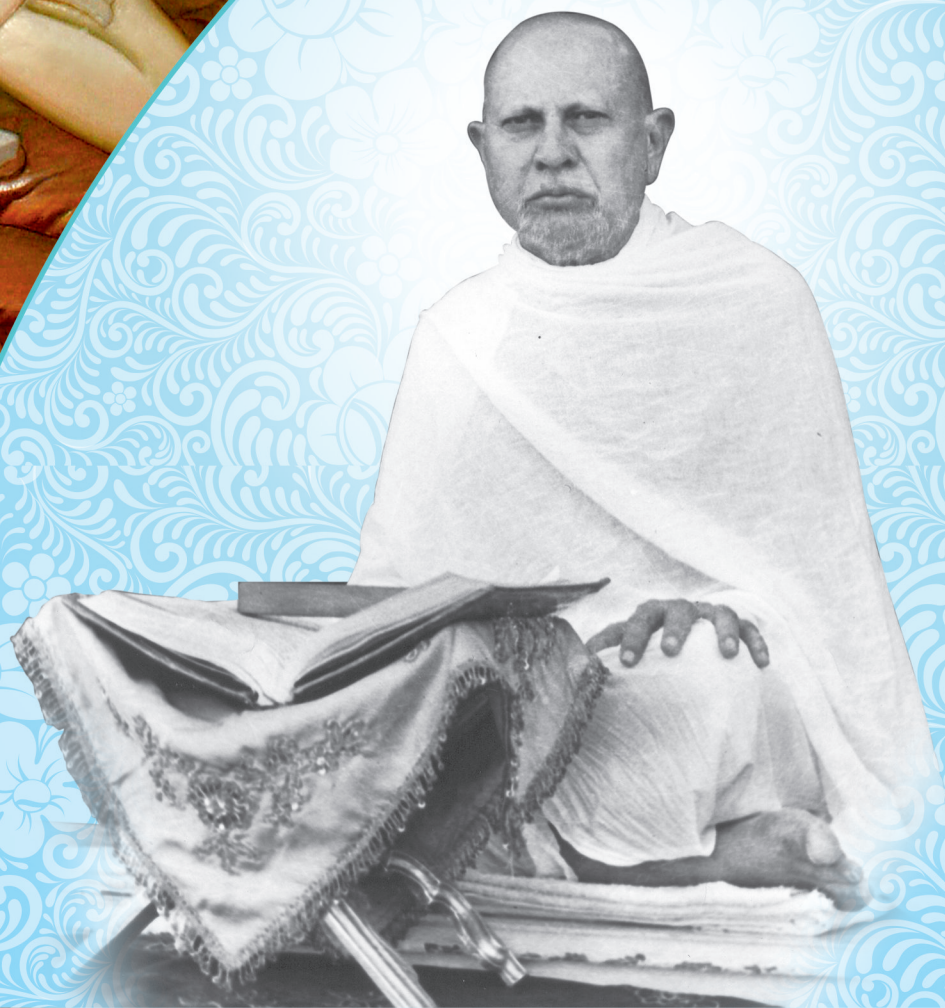

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

नियम का सार

(भाग 7)

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत
श्री नियमसार परमागम के शुद्धोपयोग अधिकार पर
अध्यात्म युगप्रवर्तक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
ईसवी सन् 1971 के वर्ष के धारावाहिक शब्दशः प्रवचन

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री दिग बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

: सह-प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

विक्रम संवत	वीर संवत	ई. सन
2079	2549	2023

—: प्रकाशन :—

भगवान महावीरस्वामी निर्वाणोत्सव

कार्तिक कृष्ण अमावस्या, दिनांक 13 नवम्बर 2023

के पावन अवसर पर

—: प्राप्ति स्थान :—

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250 फोन : 02846-244334

2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046

www.vitragvani.com, email - info@vitragvani.com

टाईप सेटिंग :

विवेक कम्प्यूटर

अलीगढ़।

ॐ

Hear Chidanand.

प्रकाशकीय

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैन धर्मोस्तु मंगलं।।

भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद जिनके नाम का उल्लेख किया जाता है, ऐसे भरत के समर्थ आचार्य, साक्षात्, सदेह विदेहक्षेत्र जाकर सीमन्धर भगवान की दिव्यध्वनि का प्रत्यक्ष रसपान करनेवाले श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव महान योगीश्वर हैं। अनेक महान आचार्य उनके द्वारा रचित शास्त्रों के आधार देते हैं, इससे ऐसा प्रसिद्ध होता है कि अन्य आचार्य भी उनके वचनों को आधारभूत मानते हैं।

वे निर्मल पवित्र परिणति के धारक तो थे ही, परन्तु पुण्य में भी समर्थ थे कि जिससे सीमन्धरभगवान का साक्षात् योग हुआ। महाविदेह से वापस आने के पश्चात् पोन्नूर तीर्थधाम में साधना करते-करते उन्होंने अनेक शास्त्रों की रचना की। जिसमें श्री समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, अष्टपाहुड़—यह पाँच परमागम तो प्रसिद्ध हैं ही, परन्तु इनके उपरान्त भी अनेक शास्त्रों की रचना उन्होंने की है।

'श्री समयसार' इस भरतक्षेत्र का सर्वोत्कृष्ट परमागम है। उसमें नवतत्त्वों का शुद्धनय की दृष्टि से निरूपण करके जीव का शुद्धस्वरूप प्रकाशित किया है। 'श्री प्रवचनसार' में नाम के अनुसार जिन प्रवचन का सार झेला है और उसे ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन, ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन और चरणानुयोगसूचक चूलिका नामक तीन अधिकारों में विभाजित किया है। 'श्री नियमसार' में मुख्यरूप से शुद्धनय से जीव, अजीव, शुद्धभाव, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित, समाधि, भक्ति, आवश्यक, शुद्धोपयोग इत्यादि का वर्णन है। 'श्री पंचास्तिकायसंग्रह' में कालसहित पाँच अस्तिकायों का (अर्थात् छह द्रव्यों का) और नवपदार्थपूर्वक मोक्षमार्ग का निरूपण है। तथा 'श्री अष्टपाहुड़' एक दार्शनिक ग्रन्थ है, जिसमें सम्यक् रत्नत्रय एक ही मोक्षमार्ग है, इसकी दृढ़तापूर्वक स्थापना की गयी है।

श्री नियमसार परमागम मुख्यरूप से मोक्षमार्ग के निरूपचार निरूपण का अनुपम ग्रन्थ है। 'नियम' अर्थात् जो अवश्य करनेयोग्य हो, वह अर्थात् रत्नत्रय। 'नियमसार' अर्थात् नियम का सार अर्थात् शुद्ध रत्नत्रय। इस शुद्ध रत्नत्रय की प्राप्ति परमात्मतत्त्व का आश्रय करने से ही होती है। निगोद से लेकर सिद्ध तक की सर्व अवस्थाओं में—शुभ, अशुभ और शुद्ध विशेषों में—रहा हुआ जो नित्य-निरंजन टंकोत्कीर्ण शाश्वत् एकरूप शुद्धद्रव्य सामान्य, वह परमात्मतत्त्व है। वही शुद्ध अन्त:तत्त्व, कारणपरमात्मा, परमपारिणामिकभाव इत्यादि नामों से कहा जाता है। इस परमात्मतत्त्व की उपलब्धि अनादि काल से अनन्त-अनन्त दु:ख को अनुभव करते हुए जीव ने एक क्षणमात्र भी नहीं की और इससे सुख के लिये उसके सर्व प्रयत्न (द्रव्यलिंगी मुनि के व्यवहाररत्नत्रय तक) सर्वथा व्यर्थ गये हैं। इसलिए इस परमागम का एकमात्र उद्देश्य जीवों को परमात्मतत्त्व की उपलब्धि अथवा आश्रय कराने का है।

इस शास्त्र में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव की प्राकृत गाथाओं पर तात्पर्यवृत्ति नाम की संस्कृत टीका लिखनेवाले मुनिवरश्री पद्मप्रभमलधारिदेव हैं। वे श्री वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य हैं और विक्रम की १३वीं शताब्दी में हो गये हैं। श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के हृदय में रहे हुए परम गम्भीर आध्यात्मिक भावों को अपने अन्तर्वेदन के साथ मिलानकर इस टीका में स्पष्ट रीति से अभिव्यक्त किया है। इस टीका में आनेवाले कलशरूप काव्य अतिशय मधुर हैं और अध्यात्म मस्ती से तथा भक्तिरस से भरपूर हैं। टीकाकार मुनिराज ने गद्य तथा पद्यरूप से परमपारिणामिकभाव को तो बहुत-बहुत गाया है। पूरी टीका मानो कि परमपारिणामिकभाव का और तदाश्रित मुनिदशा का एक महाकाव्य हो, ऐसा मुमुक्षु हृदय को मुदित करता है। संसार दावानल समान है और सिद्धदशा तथा मुनिदशा परम सहजानन्दमय है—ऐसे भाव का एकधारा वातावरण पूरी टीका में ब्रह्मनिष्ठ मुनिवर ने अलौकिक रीति से सृजित किया है और स्पष्टरूप से दर्शाया है कि मुनियों की व्रत, नियम, तप, ब्रह्मचर्य, त्याग, परीषहजय इत्यादिरूप से कोई भी परिणति हठपूर्वक, खेदयुक्त, कष्टजनक और नरकादि के भयमूलक नहीं होती परन्तु अन्तरंग आत्मिक वेदन से होनेवाली परम परितृप्ति के कारण सहजानन्दमय होती है।

श्री नियमसार में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने 187 गाथायें प्राकृत में रची हैं। उन पर श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका लिखी है। ब्रह्मचारी श्री शीतलप्रसादजी ने मूल गाथाओं का तथा टीका का हिन्दी अनुवाद किया है। श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा इस नियमसार की मूल गाथायें, उनका गुजराती पद्यानुवाद, संस्कृत टीका और उस गाथा-टीका का अक्षरश: गुजराती-हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया गया है। इस शास्त्रजी में प्रतिपादित विषयवस्तु को निम्नानुसार बारह अधिकारों में प्रस्तुत किया गया है।

(1) जीव अधिकार, (2) अजीव अधिकार, (3) शुद्धभाव अधिकार, (4) व्यवहार चारित्र अधिकार, (5) परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार, (6) निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार, (7) परम आलोचना अधिकार, (8) शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्त अधिकार, (9) परम समाधि अधिकार, (10) परम भक्ति अधिकार, (11) निश्चय परमआवश्यक अधिकार, (12) शुद्धोपयोग अधिकार।

यह नियमसार ग्रन्थ पूज्य गुरुदेवश्री को अत्यन्त प्रिय था। आचार्यदेव ने निज भावना के निमित्त रचना की होने से कारणपरमात्मा को बहुत ही घोंटा है, जो गुरुदेवश्री को अपने आचार्य गुरुवर की उत्कृष्ट साधना स्मरण कराता था। उन्होंने इस पर बहुत ही गहराई से स्वाध्याय किया था और प्रसिद्ध में बहुत बार इस ग्रन्थ पर प्रवचन भी किये थे। इन प्रवचनों में से अपने पास छह बार के प्रवचन पूरे उपलब्ध हैं। यहाँ प्रस्तुत प्रवचन उनमें से एक बार के प्रवचन हैं, जो वीर संवत् 2497 (ई.स. 1971) वर्ष के दौरान नियमसार शास्त्र पर 202 प्रवचन हैं। पूज्य गुरुदेवश्री को निरन्तर ऐसी भावना रहती थी कि मुमुक्षु नितरते सत्धर्म का श्रवण करके निज कल्याण के मार्ग में आगे बढ़ें। इसी उत्कृष्ट भावना से ऐसे गहन शास्त्र कि जो कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने निज भावना के लिये रचा है, उसे पूज्यश्री ने छह-छह बार प्रसिद्ध सभा में लिया था। ये गहन प्रवचन यहाँ अक्षरश: शास्त्ररूप से प्रस्तुत किये जा रहे हैं। इस प्रकार यह शास्त्र वास्तव में पूज्य गुरुदेवश्री के प्रभावना का ही फल है। अध्यात्म का गहरा रहस्य समझाकर पूज्य गुरुदेवश्री ने जो अपार उपकार किया है, उसका वर्णन वाणी से करने में हम असमर्थ हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की दिव्यदेशना की उपलब्धि सी.डी., डी.वी.डी., वेबसाईट (www.vitragvani.com) तथा ऐप (Vitragvani App) तथा सोशल मीडिया (www.youtube.com/c/vitragvani) जैसे साधनों द्वारा श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, विलेपार्ला, मुम्बई द्वारा की गयी है। इस कार्य के पीछे ट्रस्ट की ऐसी भावना है कि वर्तमान के आधुनिक साधनों द्वारा पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा समझाये गये तत्त्वज्ञान का अधिकतम लाभ सामान्यजन प्राप्त करें कि जिससे यह वाणी शाश्वत् बनी रहे। पूज्य गुरुदेवश्री के प्रत्येक प्रवचन अक्षरश: ग्रन्थारूढ़ हो, ऐसी भावना के फलस्वरूप नियमसार शास्त्र पर 1971 में हुए 202 प्रवचन यहाँ प्रकाशित किये जा रहे हैं। उसमें से नियम का सार, भाग-7 में यहाँ (12) शुद्धोपयोग अधिकार पर हुए धारावाही 20 प्रवचन प्रस्तुत करते हुए हर्ष का अनुभव कर रहे हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की दिव्यदेशना को ओडियो टेप में उतारने का महान कार्य शुरु करनेवाले श्री नवनीतभाई झबेरी का इस प्रसंग पर आभार व्यक्त करते हैं तथा श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ ने इस पवित्र कार्य को अविरतधारा से चालू रखा और सम्हालकर रखा, तदर्थ उनके आभारी हैं।

सर्व प्रवचनों को सुनकर ग्रन्थारूढ़ करने में सावधानी रखी गयी है। वाक्य रचना को पूर्ण करने के लिये कहीं-कहीं कोष्ठक किया गया है। यह प्रवचन सुनकर गुजराती में ग्रन्थारूढ़ करने का कार्य श्री निजेश जैन, सोनगढ़ द्वारा किया गया है। प्रवचनों को जाँचने का कार्य श्रीमती पारुलबेन सेठ, विलेपार्ला; श्री दिनेशभाई शाह, विलेपार्ला; श्री अतुलभाई जैन, मलाड और श्रीमती आरतीबेन जैन, मलाड द्वारा किया गया है।

प्रस्तुत प्रवचनों का हिन्दी रूपान्तरण पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां, जिला-भीलवाड़ा (राज) द्वारा किया गया है। इस प्रसंग पर ट्रस्ट सभी के प्रति आभार व्यक्त करता है।

जिनवाणी प्रकाशन का कार्य गम्भीर तथा उत्तरदायित्व पूर्ण होने से अत्यन्त जागृतिपूर्वक तथा उपयोग की एकाग्रतापूर्वक किया गया है। तथापि प्रकाशनकार्य में प्रमादवश अथवा अजागृतिवश कोई भूल रह गयी हो तो त्रिकालवर्ती वीतराग देव-शास्त्र-गुरु के प्रति क्षमायाचना करते हैं। सभी मुमुक्षुओं से निवेदन है कि अशुद्धियों की नोंध ट्रस्ट को प्रेषित करें जिससे आगामी आवृत्ति में सुधार किया जा सके। यह प्रवचन vitragvani.com तथा vitragvani app पर उपलब्ध हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी तथा तद्भक्त प्रशममूर्ति भगवती माता पूज्य बहिनश्री के करकमल में सादर समर्पित करते हैं। पाठकवर्ग इन प्रवचनों का अवश्य लाभ लेकर आत्मकल्याण को साधे ऐसी भावना से विराम लेते हैं। इति शिवम्।

ट्रस्टीगण

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,

विलेपार्ला, मुम्बई

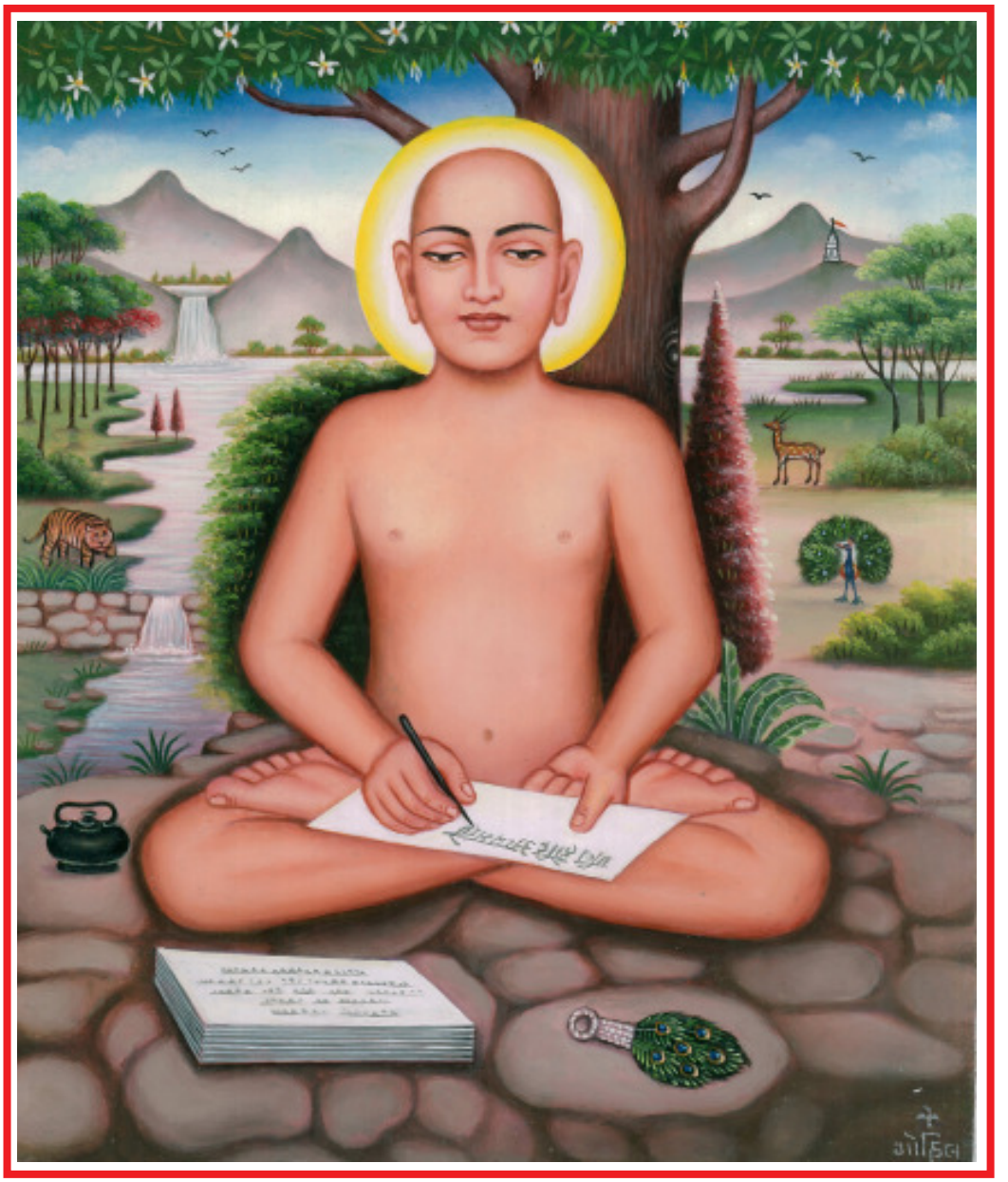

कलिकाल सर्वज्ञ श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव

अध्यात्मयुगसर्जक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म**

का श्रावक हूँ। सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर,

पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त

पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन नं.	दिनांक	गाथा / श्लोक नं.	पृष्ठ नं.
१८६	२६-११-१९७१	१५९	१
१८७	२७-११-१९७१	१५९-१६०, २७२	१६
१८८	२८-११-१९७१	२७३-२७४	३३
१८९	२९-११-१९७१	१६१-१६२, २७५-२७७	४९
१९०	३०-११-१९७१	१६२-१६४, २७८-२७९	६६
१९१	०१-१२-१९७१	१६४-१६६, २८०-२८२	८२
१९२	०३-१२-१९७१	१६७-१६८, २८२-२८३	९९
१९३	०४-१२-१९७१	१६८-१७०, २८४-२८५	११६
१९४	०५-१२-१९७१	१७०-१७१, २८६-२८७	१३१
१९५	०६-१२-१९७१	१७२-१७४, २८८-२८९	१४६
१९६	०७-१२-१९७१	१७५-१७६, २९०-२९२	१६२
१९७	०८-१२-१९७१	१७७, २९३-२९६	१७९
१९८	०९-१२-१९७१	१७८, २९७	१९४
१९९	१०-१२-१९७१	१७९, २९८-२९९	२०७
२००	१२-१२-१९७१	१८०	२२२
२०१	१३-१२-१९७१	१८१-१८२, ३००-३०१	२३६
२०२	१४-१२-१९७१	१८२-१८४, ३०२-३०३	२५१
२०३	१५-१२-१९७१	१८५-१८६, ३०४-३०५	२६६
२०४	१६-१२-१९७१	१८७, ३०६-३०७	२८०
००१	१८-१२-१९७१	१-३, ३०८-३११	२९६

ॐ

॥ श्री परमात्मने नमः ॥

नियम का सार

(भाग - ७)

श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यवर प्रणीत श्री निमयसार परमागम पर अध्यात्मयुगप्रवर्तक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के ई.स. १९७१ वर्ष के अक्षरशः प्रवचन

— १२ —

शुद्धोपयोग अधिकार

मागसर शुक्ल ९, शुक्रवार, दिनांक - २६-११-१९७१
गाथा-१५९, प्रवचन-१८६

शुद्धोपयोग अधिकार। केवलज्ञान और केवलदर्शन—आत्मा की परिपूर्ण पर्याय, उसे यहाँ शुद्ध उपयोग कहते हैं। उसका स्वभाव क्या है, वह बताते हैं। यह अधिकार थोड़ा सूक्ष्म है। टीका फिर से (लेते हैं)।

टीका : यहाँ, ज्ञानी को... अर्थात् कि केवलज्ञानी को **स्व-पर स्वरूप का प्रकाशकपना...** वह स्व को जाने और पर को भी जाने, ऐसा उसका स्वभाव है। उस **स्वरूप का प्रकाशकपना कथंचित् कहा है।** अर्थात् कि किसी अपेक्षा से व्यवहार से पर को जाने और किसी अपेक्षा से अपने ज्ञान के अतिरिक्त दूसरे गुण को भी जाने, वह निश्चय है। अपने ज्ञान को जाने और (दूसरे) गुणों को जाने, वह निश्चय है। (दूसरे गुण) हैं ज्ञान से पर, तथापि वह व्यवहार नहीं, परन्तु वह निश्चय है। आहाहा! और

ज्ञान अपने को जाने और पर को जाने, वह व्यवहार है। चैतन्य का स्वभाव क्या है, वह वर्णन करते हैं। अन्दर ज्ञानसूर्य है यह चैतन्य, उसकी पूर्ण दशा प्राप्त होने से निश्चय से भी स्व-परप्रकाशक ही है। व्यवहार से परप्रकाशक है, निश्चय से, स्व—अपने को और अपने गुण को प्रकाशित करे, ऐसा स्व-परप्रकाशक निश्चय से भी आत्मा है। समझ में आया?

वह किसी का करनेवाला नहीं और किसी से उसमें कार्य हो, ऐसा वह नहीं है। वह तो स्व-पर के स्वरूप को जानने के प्रकार में व्यवहार... तो पर में तन्मय हुए बिना जाने, इसलिए 'व्यवहार से जानता है' कहा (और) अपने स्वरूप को जाने, वह तन्मय होकर जानता है, इसलिए उसे निश्चय कहा।

मुमुक्षु : व्यवहार अर्थात् खोटा।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार अर्थात् उपचार, निश्चय की अपेक्षा से तो उपचार है। उसे जानना, वह उपचार है। स्व-पर का ज्ञान अपना है, वह निश्चय है, परन्तु यह 'पर को जाने', ऐसा जो उपचार करना, वह व्यवहार है।

'पराश्रितो व्यवहारः (व्यवहार पराश्रित हैं)' ऐसा (शास्त्र का) वचन... भगवान का वचन है। **व्यवहारनय से वे भगवान...** सर्वज्ञ परमात्मा **परमेश्वर परमभट्टारक**—परमसूर्य **आत्मगुणों का घात करनेवाले घातिकर्मों के नाश द्वारा...** यह अर्थ हो गया है सब। दो दिन पहले हो गया है। **प्राप्त सकल-विमल केवलज्ञान और केवलदर्शन द्वारा...** भगवान आत्मा परमेश्वर का एक समय का ज्ञान सकल केवलज्ञान और केवलदर्शन द्वारा **त्रिलोकवर्ती**—तीन लोक में वर्तनेवाले पदार्थ और **त्रिकालवर्ती**—तीन काल में वर्तनेवाले पदार्थ, उन्हें एक समय में जाने और देखे। **सचराचर**—कोई गतिमान और कोई स्थिर, ऐसे **द्रव्य-गुण-पर्यायों को...** द्रव्य अर्थात् वस्तु; गुण अर्थात् उसकी शक्ति—स्वभाव; पर्याय अर्थात् उसकी दशा, उसे **एक समय में जानते हैं और देखते हैं।** कहो, भगवान के ज्ञान में तीन काल और तीन लोक (वर्ती) द्रव्य, गुण और पर्याय एक समय में जानने में आते हैं। समझ में आया?

तीन कालवर्ती पदार्थों को जाने तो तीनों काल को जाने। ज्ञान का स्वभाव ही

ऐसा है कि तीन काल को जाने। यदि तीन काल को जाने, तब तो भूतकाल में हो गयी अवस्था (जिसकी) आदि नहीं, उसे जाने, भविष्य की अवस्था का कहीं अन्त नहीं, उसे जाने और वर्तमान मध्य में जिस समय में जिस द्रव्य की जो पर्याय जिस काल में, जिस प्रकार से होती है, उसे जाने। समझ में आया? क्रमबद्ध जो पर्याय होती है, उसे जाने, ऐसा कहते हैं। जगत के पदार्थ समय-समय में जो उनका क्रम है, उस प्रकार से परिणमा ही करते हैं। परिणमने में वर्तमान में ही कहीं अटकना, ऐसा उसे है नहीं, धारावाही परिणमते हैं। उसमें जिस समय में जो अवस्था होनी है, वह होनेवाली है, उसे केवलज्ञानी जानते-देखते हैं। समझ में आया?

ऐसी श्रद्धा करनेवाला स्वयं धर्मी जीव, मैं एक ज्ञायक आत्मा हूँ और जिस समय में मेरी और पर की अवस्था हो, उसे मैं जाननेवाला हूँ—देखनेवाला हूँ—ऐसा धर्मी सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा जनता और ऐसा मानता है। समझ में आया? सूक्ष्म मार्ग है, भाई! केवलज्ञानी का मार्ग अर्थात् कि आत्मा के स्वभाव का मार्ग सूक्ष्म है। यहाँ कहते हैं, तीन लोक में वर्तनेवाले और तीन काल में रहनेवाले—वर्तनेवाले सबको केवलज्ञान जाने। इसका अर्थ क्या हुआ? केवलज्ञानी जिस प्रकार से जानते हैं, उस प्रकार से सामने होता है (और जैसा) होता है, उस प्रकार से (जानते हैं)। आगे-पीछे कुछ होता नहीं, इसका अर्थ यह हुआ। समझ में आया?

ऐसी केवलज्ञान और केवलदर्शन की शक्ति स्व और पर को जानने की है। इस प्रकार से जो जीव अन्दर में मानता है, जानता है, उसकी दृष्टि स्वभाव-सन्मुख होती है। स्वभाव-सन्मुख होने पर उसे पर्याय में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है। उस सम्यग्ज्ञान में धर्मी ऐसा जानता और मानता है कि जिस समय में जो अवस्था मेरी और पर की होनेवाली है, वह होती है। पर की (अवस्था) तो कर सकता नहीं, परन्तु मेरी करूँ—ऐसा विकल्प ज्ञानी को होता नहीं। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म... सूक्ष्म... बहुत सूक्ष्म। तत्त्व ऐसा सूक्ष्म है। यह व्यवहार से जानते हैं, ऐसा कहा यहाँ तो। पर की अपेक्षा आयी न? केवलज्ञानी का ज्ञान स्व और जाने पर को, यह उपचार—व्यवहार हुआ। समझ में आया? इसलिए इसका अर्थ ऐसा नहीं कि व्यवहार से पर को जाने, इसलिए पर का जानना ही खोटा है। ऐसा नहीं है। पर का जानना और स्व का जानना,

वह तो अपने में अपने से हुआ सच्चा है, परन्तु 'पर को जानना' ऐसा कहना इतना उपचार है। समझ में आया? अरे... अरे! गजब बातें यह!

शुद्धनिश्चय से... (पहली) व्यवहार से बात की है। वह बात आ गयी है दो दिन पहले। छठ्ठ, छठ्ठ। सप्तमी-अष्टमी को तो यह वाँचन नहीं था न। परन्तु वास्तव में शुद्ध यथार्थदृष्टि से—निश्चय से **परमेश्वर महादेवाधिदेव...** तीर्थंकर सर्वज्ञ आदि परमेश्वर **सर्वज्ञवीतराग...** एक समय में सर्वज्ञ पूर्ण जाने और वीतराग है, उन्हें **परद्रव्य के ग्राहकत्व**—पर को ग्रहण करना, पर को देखना और पर का जानना **आदि के विविध विकल्पों की सेना की उत्पत्ति मूलध्यान में अभावरूप होने से...** मूल ऐसा कहना है कि उन्हें पर का ग्रहण करना, पर को जानना और पर को देखना—यह उनमें है नहीं। जरा अन्दर भूल है (इसलिए) अशुद्धि है, (ऐसा लिखा है)। परमेश्वर एक समय में पर को जाने या ग्रहण करे, ऐसा है नहीं। पर को तो स्पर्श भी नहीं करते। अपना ज्ञान, वह पर को तो छूता भी नहीं। उसे तन्मय होकर जानता नहीं, भिन्न होकर जानता है तो उसे व्यवहार कहा। अपने में तन्मय होकर अपने को जानता है।

वह भगवान पर का **ग्राहकत्व, दर्शकत्व, ज्ञायकत्व...** (अर्थात् कि) जानना और देखना ऐसा उसमें नहीं, ऐसा कहते हैं। **वे भगवान त्रिकाल-निरुपाधि,...** स्वयं भगवान आत्मा त्रिकाल निरुपाधि आत्मा है। **निरवधि (अमर्यादित),...** है। मर्यादा कैसी? त्रिकाल रहनेवाला है न आत्मा। **नित्यशुद्ध ऐसे सहजज्ञान और सहजदर्शन द्वारा...** उसमें ऐसा था कि सकल विमल केवलज्ञान और केवलदर्शन द्वारा। यहाँ, **सहजज्ञान और सहजदर्शन द्वारा निज कारणपरमात्मा को,...** निज कारणपरमात्मा अर्थात् वस्तु त्रिकाली अपना द्रव्यस्वरूप, अविनाशी रहनेवाला ऐसा जो कारणपरमात्मा अर्थात् कारणजीव, उसका ध्रुवस्वरूप।

स्वयं कार्यपरमात्मा होने पर भी, जानते हैं और देखते हैं। यहाँ तो (कहा कि) त्रिकाली द्वारा... नित्य शुद्ध सहजज्ञान, सहजदर्शन जो त्रिकाल, उसके द्वारा निज कारणपरमात्मा को अर्थात् कि अन्दर स्वाभाविक ज्ञान और दर्शन जो नित्य है, उसके द्वारा त्रिकाली द्रव्य को जानने का—देखने का ही जिसका स्वभाव है। **स्वयं कार्यपरमात्मा होने पर भी,...** वर्तमान में केवलज्ञान, केवलदर्शन ऐसी कार्यदशा— **कार्यपरमात्मा होने**

पर भी, जानते हैं और देखते हैं। उस त्रिकाली ज्ञान और दर्शन द्वारा त्रिकाली द्रव्य को जानते हैं, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : त्रिकाली में कार्य कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : कार्य की बात कहाँ कही? जानते हैं, ऐसा देखने का कहा। त्रिकाली को त्रिकाली ज्ञान-दर्शन द्वारा जानते-देखते हैं, बस इतना। कार्यपरमात्मा तो पर्याय हुई। कार्यपरमात्मा होने पर भी, ऐसा। पर्याय में कार्यपना प्रगट होने पर भी, त्रिकाली ज्ञान-दर्शन द्वारा त्रिकाली को जानते-देखते हैं, ऐसा कहते हैं। अटपटी बात है। समझ में आया? आत्मा ज्ञान की मूर्ति प्रभु, उसका जहाँ पूर्ण रूप—कार्य प्रगट हुआ, उस काल में भी अन्तर के सहज ज्ञान-दर्शन द्वारा... अन्तर के... कार्यपरमात्मा होने पर भी, इतनी बात यहाँ तो है। कार्यपरमात्मा द्वारा जानते हैं, ऐसा यहाँ नहीं लेना। ऐई! वस्तु जो आत्मा है, वह अविनाशी अनादि-अनन्त है। वस्तु है न अन्दर आत्मा। वह तो अनादि-अनन्त (है अर्थात्) आदि नहीं और अन्त नहीं। अब उसका ज्ञान-दर्शन भी आदि-अन्त रहित त्रिकाली स्वभाव है। वह केवलज्ञान कार्यरूपदशा होने पर भी, उसके त्रिकाली ज्ञान और दर्शन द्वारा नित्य द्रव्यरूप कारणपरमात्मा को जानते और देखते हैं। समझ में आया?

भगवान आत्मा ज्ञान का प्रकाश जहाँ पूर्ण प्रगट हो गया... उसमें उसे ऐसा कहा था कि केवलज्ञान, केवलदर्शन कार्य से तीन काल—तीन लोक को देखते हैं। ऐसा कहा था। वह कार्यपना दशा होने पर भी, भगवान स्वयं अन्तर के नित्य शुद्ध सहज ज्ञान-दर्शन द्वारा कारणपरमात्मा को जानते-देखते हैं। समझ में आया? बापू! जानने की चीज़ कला बहुत सूक्ष्म है। आहाहा! यह पुण्य-पाप के विकल्प जो राग हैं, वह तो चीज़ ही पर है। वह आत्मा की चीज़ नहीं। पुण्य और पाप के शुभ और अशुभभाव, वे कहीं आत्मा की चीज़ नहीं। उसकी चीज़ तो दर्शन और ज्ञानस्वरूप है। अब वह दर्शन-ज्ञानस्वरूप कार्यरूप हो, तो कहते हैं कि लोकालोक को—तीन काल, तीन लोक को जानते-देखते हैं। वह वस्तु स्वयं त्रिकाल दर्शन और ज्ञान उसका स्वभाव है, उस द्वारा उसे—त्रिकाली कारणपरमात्मा को जानते-देखते हैं। समझ में आया? जानते-देखते हैं अर्थात् कि ऐसा स्वभाव ही है। आहाहा! कठिन बात, भाई! किस प्रकार से?

इस ज्ञान का धर्म तो, दीपक की भाँति, स्व-परप्रकाशकपना है। भगवान आत्मा का ज्ञानस्वभाव दीपक की भाँति स्व-परप्रकाशक ही है। समझ में आया? स्व को और पर को जाने—प्रकाशित करे, ऐसा उसका स्वभाव है। **घटादि की प्रमिति से प्रकाश-दीपक (कथंचित्) भिन्न है...** फिर है न 'कथंचित् भिन्न' इसलिए यहाँ डाला। इसमें तो 'कथंचित् नहीं' (परन्तु) फिर वह कलश का है न, इसलिए आधार दिया है। 'प्रमिति' है न कलश में? **प्रमिति से (ज्ञप्ति से) कथंचित् भिन्न है।** बाद में है न कलश? **'कथंचित् प्रमितेः पृथक्'** इसका यहाँ डाला है। जरा सा सूक्ष्म है, हों! घट-पट की प्रमिति अर्थात् घट-पट (रूप) परपदार्थ को प्रकाशित करे, ऐसी जो क्रिया, उससे प्रकाश-दीपक कथंचित् भिन्न है। उस दीपक में घट-पट को प्रकाशित करने की जो क्रिया है, उससे कथंचित् वह भिन्न है। एक समय का है न वह प्रकाश। त्रिकाली वस्तु भिन्न है। यह पूरा अधिकार बहुत सूक्ष्म है।

ज्ञान का धर्म तो दीपक की भाँति स्व-परप्रकाशक है। **घटादि की—**घट-पट की **प्रमिति** (अर्थात्) उसे प्रकाशित करना जो दीपक में है, ऐसी प्रमिति (अर्थात्) दीपक की प्रकाशित करने की क्रिया, उस क्रिया से दीपक कथंचित् भिन्न है। क्योंकि प्रकाशित करने की क्रिया एक समय की है और दीपक शाश्वत् है। समझ में आया? जगत के भटकने का जानपना करना हो तो गहरा-गहरा उतरे अन्दर (और) यह भगवान क्या आत्मा को कहते हैं, उसकी इसे खबर नहीं। यह आत्मा का स्वभाव क्या, आत्मा क्या कर सकता है, उसकी सामर्थ्य क्या और पर को जानना, वह क्या, स्व को जानना वह क्या—इसकी खबर बिना उसका कल्याण होगा? तीन काल में होगा नहीं। आहाहा!

कहते हैं कि **घटादि की प्रमिति से प्रकाश-दीपक (कथंचित्) भिन्न होने पर भी स्वयं प्रकाशस्वरूप होने से स्व और पर को प्रकाशित करता है;...** लो, दीपक स्व को और पर को प्रकाशित करता है। **आत्मा भी ज्योतिस्वरूप होने से...** चैतन्यज्योति जलहल जलती चैतन्यज्योति है। **व्यवहार से त्रिलोक और त्रिकालरूप पर को तथा स्वयं प्रकाशस्वरूप आत्मा को (स्वयं को) प्रकाशित करता है।** लो, यह व्यवहार की बात की। तीन लोक और तीन कालरूप पर को और स्वयं अपने को प्रकाशित करता है। पर को प्रकाशित करता है, यह व्यवहार; स्व को प्रकाशित करे यह निश्चय। ऐसा करके

दोनों इकट्ठा स्व-परप्रकाशकपना व्यवहार से कहा गया है। पर आया न इकट्ठा, इसलिए (व्यवहार कहा)। लो, यह अरिहन्त का ऐसा स्वरूप है, ऐसा बताते हैं। 'णमो अरिहंताणं... णमो अरिहंताणं' करे और अरिहन्त कैसे होते हैं, उसकी खबर नहीं होती। अरिहन्त का केवलज्ञान और केवलदर्शन ऐसा होता है। पर को प्रकाशित करे, ऐसा कहना और ऐसी जो एक समय की प्रकाश की क्रिया, उससे भी वह त्रिकाली वस्तु भिन्न है। समझ में आया?

और स्वयं अपने को जानता है। और केवलज्ञान, केवलदर्शन द्वारा स्व को जानते हैं, ऐसा नहीं लिया यहाँ। भाई! ऐसे (पर को) जाने, वह व्यवहारनय। ऐसे अपने को अपने त्रिकाली ज्ञान-दर्शन से जाने, ऐसा लिया। नहीं तो कार्य से कारण को जाने... केवलज्ञान से अपने को जाने, यह निश्चय, केवलज्ञान से पर को जाने (यह) व्यवहार— ऐसा नहीं लिया। समझ में आया? भगवान आत्मा चैतन्यप्रकाश का नूर पूर, वह पूर्ण प्राप्त होने पर, कहते हैं कि स्व और पर को जाने, उसमें 'पर को जाने' कहना, यह व्यवहार हुआ और स्व को जाने अर्थात् कि केवलज्ञान द्वारा स्व को जाने, यह निश्चय यह यहाँ बात नहीं है।

मुमुक्षु : यहाँ तो त्रिकाल त्रिकाली को जाने, ऐसा लिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : समझ में आया? वर्तमान ज्ञान की पर्याय पर को—लोकालोक को जानती है कहना यह व्यवहार और उपचार है, क्योंकि उसमें तन्मय नहीं इसलिए। और उसका ज्ञान और दर्शन जो शाश्वत् त्रिकाली स्वभाव है, उसमें कारण (परमात्मा) को जानने की शक्ति है वह उसे जानता-देखता है, यह निश्चय। ध्रुव के गुण से ध्रुव त्रिकाली को जानता है, इतना भेद किया न! उसके ध्रुवगुण से गुणी को जाने, ऐसा भेद किया।

मुमुक्षु : गुण-गुणी....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह निश्चय। और पर्याय पर को जानती है, यह व्यवहार। पर्याय स्व को जानती है, ऐसा यहाँ नहीं लिया। कहो, समझ में आया?

ऐसा उसका स्वरूप ही है। राग, द्वेष और विकल्प तो उसकी चीज़ में है नहीं। यह शरीर, वाणी तो जड़ मिट्टी है। यह तो उसमें है नहीं, परन्तु यह पुण्य और पाप— शुभ दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम और हिंसा, झूठ, चोरी के भाव, वे आत्मा में हैं

नहीं। समझ में आया? यदि हो तो केवलज्ञान होगा नहीं। उसमें नहीं, इसलिए छूटकर अकेला केवलज्ञान हो जाता है। ऐसे ज्ञान के स्वभाव से पर को जानना, ऐसा कहना, वह व्यवहार। आहाहा! पर को करना, वह व्यवहार, वह तो है नहीं। क्या कहा, समझ में आया? ज्ञान राग को करे या लोक को करे, ऐसा तो है नहीं। आहाहा! धर्मी जीव को भी बीच में राग आवे, उसे करे, ऐसा उसके स्वरूप में नहीं है। 'उसे जानना', ऐसा कहना, वह व्यवहार है। आहाहा! समझ में आया?

सम्यग्दर्शन में परिपूर्ण प्रभु आत्मा प्रतीति और अनुभव में ज्ञेयरूप से ज्ञात हुआ है। उसका ऐसा स्वभाव ज्ञात हुआ कि वह स्वयं अपने को जानता है, यह निश्चय, आहाहा! तथा वह पर्याय राग को जानती है, यह व्यवहार। वह पर्याय को-राग को रचे, धर्मी की ज्ञानदशा राग को रचे, ऐसा स्वरूप नहीं है। समझ में आया? राग को रचे, तब तो रागवाला और विकारवाला पूरा हो गया। वह तो पूरा ज्ञान और दर्शनवाला है। समझ में आया? ऐसा भगवान... यहाँ तो त्रिकाली ज्ञान-दर्शन द्वारा त्रिकाली को जानता-देखता है, यह निश्चय कहा। उसका स्वभाव है न! गुण का स्वभाव है न पूर्ण, तो पूर्ण को जाने। समझ में आया? और एक समय की पर्याय, वह तो व्यवहार है, त्रिकाली की अपेक्षा से तो व्यवहार हुआ। क्या कहा? केवलज्ञान की पर्याय भी त्रिकाली की अपेक्षा से व्यवहार हुआ। और वह व्यवहार पर को जाने, वह व्यवहार कहने में (आया)। और वह व्यवहार स्व को जाने, यह बात यहाँ नहीं ली। क्योंकि वह पर्याय व्यवहार है न!

मुमुक्षु : स्व को जाने, वह व्यवहार में आ गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्व को जाने, वह उसमें आया नहीं। उसमें नहीं आया।

मुमुक्षु : स्वयं प्रकाशमान आत्मा को प्रकाशता है....

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा को प्रकाशता है, ऐसा। वह आत्मा को वह द्रव्य-ज्ञान है, वह प्रकाशता है, ऐसा आया न। **स्वयं प्रकाशस्वरूप आत्मा को प्रकाशित करता है।** ऐसा। स्वयं प्रकाशस्वरूप आत्मा को प्रकाशता है।

मुमुक्षु : यह व्यवहार हुआ या निश्चय?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो व्यवहार से हुआ यह वह। व्यवहार से आया न! व्यवहार

डाला न। एक समय की पर्याय उसे जाने, यह भी व्यवहार हुआ। पर्याय स्वयं व्यवहार है न, इसलिए इस अपेक्षा से बात ली है। वह निश्चय में नहीं लिया, ऐसा मेरा कहना है। व्यवहार से है न। **व्यवहार से त्रिलोक और त्रिकालरूप पर को तथा स्वयं प्रकाशस्वरूप आत्मा को प्रकाशित करता है।** ऐसा कहा है न!

मुमुक्षु : स्वयं प्रकाशमान, वह भी व्यवहार....

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं प्रकाश में व्यवहार से और निश्चय से, ऐसा नहीं कहा। निश्चय में तो यही लिया। ज्ञान-दर्शनस्वभाव त्रिकाली, त्रिकाली कारण को जाने। कठिन बात! एक समय की पर्याय उसे जाने, ऐसा नहीं लिया। व्यवहार से ऐसा कहा न! वह और फिर लेंगे उसमें। व्यवहार से त्रिलोक और त्रिकालरूप पर को और व्यवहार से स्वयं प्रकाशरूप आत्मा को, ऐसा हुआ न। व्यवहार साथ में गया न वहाँ? निश्चय से नहीं, ऐसा मेरा कहना है यहाँ तो।

उसकी पर्याय तो द्रव्य-गुण को जाने पूरे को ऐसे अथवा तीनों काल अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने, ऐसा नहीं लिया। पर्याय है, वह द्रव्य-गुण-पर्याय स्वयं को तीनों को जाने, वह निश्चय, ऐसा नहीं लिया। पर्याय, वह आत्मा को ऐसे जाने पर्याय, वह व्यवहार में डाल दिया। और वह पर्याय पर को जाने, वह भी व्यवहार में डाला। समझ में आया? स्व को प्रकाशता निश्चय, ऐसा आना चाहिए। द्रव्य-गुण... यह आयेगा, बाद में आयेगा। इसमें ही आयेगा। स्वाश्रित में यह आयेगा। निश्चय से स्व-परप्रकाशक है। किस प्रकार? यह दूसरे प्रकार की क्रिया है। इसी गाथा का अर्थ है मूल पूरा। यह तो यहाँ है न देखो न! यह दो पद की व्याख्या हुई। '**जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं**' यह व्यवहार की बात हुई। '**केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।**' यह बाद का पेराग्राफ आयेगा। समझ में आया?

गजब! ऐसा कहाँ उसमें, निवृत्ति ऐसी कहाँ है उसमें? नवनीतभाई! वह मशीन के कारण उसमें निवृत्ति कहाँ? आहाहा! किसी के करने के विकल्प में निवृत्ति नहीं होती। कर सकता नहीं, हो! वह कारखाना-बारखाना आत्मा करे, हिलावे, (ऐसा) तीन काल में, तीन लोक में नहीं। उसे जानता है, ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है अभी तो। करने की तो बात ही कहाँ? आहाहा! गजब बात भाई! समझ में आया? और निजपर्याय

को जाने कि ऐसा होती है, होती है, वह व्यवहार है। क्योंकि उसमें तन्मय होकर नहीं जानता, इसलिए व्यवहार है। और वह ज्ञान की पर्याय अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को जानती है सब पूरा, वह व्यवहार में जाता है। आहाहा! पर्याय के अतिरिक्त दूसरा आया न द्रव्य-गुण, ऐसा। कठिन बात, भाई! ओहोहो! वरना तो ऐसा आवे स्वप्रकाशक में पूरे अपने द्रव्य-गुण को प्रकाशित करे केवलज्ञानी और परप्रकाशक में पर को प्रकाशित करे। ऐ डॉक्टर! ऐसा सब कभी सुना नहीं वहाँ सूरत में, नहीं? रात्रि में बहुत प्रसन्न होते थे। ऐसा सुनने को मिले, वह भी महाभाग्य और योग्यता है। ऐसी बात है। यह तो अन्तर का मार्ग है, बापू! आहाहा! गजब बात है!

आत्मा को प्रकाशित करे, ऐसा तो लिया, परन्तु डाला व्यवहार में। समझ में आया? पर्याय का अंश है न! प्रकाशक है न! स्वयं प्रकाशरूप आत्मा को प्रकाशित करे—स्वयं को प्रकाशित करे, वह तो व्यवहार में लिया। आहाहा! यह पहले दो पद की ही व्याख्या है यह। उसमें डाला कि कार्यपरमात्मा पर्यायरूप से प्रगट होने पर भी, उसके त्रिकाली ज्ञान-दर्शन द्वारा कारण (परमात्मा) को जाने, वह निश्चय, ऐसा कहा। समझ में आया?

अब, **६९ पाखण्डियों पर विजय प्राप्त करने से जिन्होंने विशाल कीर्ति प्राप्त की है, ऐसे महासेनपण्डितदेव ने भी (श्लोक द्वारा) कहा है कि:—** लो, भिन्न कहते हैं न। उसकी क्रिया भिन्न कहते हैं न, इसलिए फिर व्यवहार कहा ऐसा। भिन्न....

यथावद्वस्तु-निर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीप-वत्।
तत्स्वार्थव्यवसायात्मक कथञ्चित् प्रमितेः पृथक्॥

लो, वहाँ स्पष्टीकरण कर दिया। **श्लोकार्थः वस्तु का यथार्थ निर्णय, सो सम्यग्ज्ञान है।** भगवान आत्मा और पर जैसी वस्तु है, वैसा निर्णय, वह सम्यग्ज्ञान। **वह सम्यग्ज्ञान, दीपक की भाँति, स्व के और (पर) पदार्थों के निर्णयात्मक है...** देखा! स्व और पर के निर्णयस्वरूप है। **तथा प्रमिति से (ज्ञप्ति से)...** अर्थात् जानने की क्रिया से **कथंचित् भिन्न है।** ज्ञप्ति (अर्थात्) जानने की क्रिया। यह अर्थ किया है अपने प्रवचनसार में। इन्होंने—शीतलप्रसाद ने फिर प्रमिति का अर्थ ऐसा किया, प्रमाण का फल। अर्थात् जानने की क्रिया, जानने में आया सब, ऐसा। फल है न! ऐसा तो प्रमाण का फल वीतरागता

कही है। यह (अर्थ) यहाँ नहीं है, अन्यत्र है। **वस्तु का यथार्थ निर्णय, सो सम्यग्ज्ञान है।** वह सम्यग्ज्ञान, दीपक की भाँति, स्व-पर के निर्णयस्वरूप है। प्रमिति से—ज्ञप्ति की क्रिया से कथंचित् सम्यग्ज्ञान भिन्न है, ऐसा हुआ न! समझ में आया?

जानने की क्रिया को यहाँ तो निर्णय कहा, वह भी सम्यग्ज्ञान है, प्रगट है। वह प्रगट है दोनों। यह सम्यग्ज्ञान दीपक की भाँति स्व-पर के निर्णयात्मक है तथा प्रमिति से—उस प्रकार की क्रिया जानने की, उससे वह ज्ञान कथंचित् भिन्न है, ऐसा कहा। ज्ञान का प्रमाणपना स्व-पर को जानना, वह कथंचित् ज्ञान से जानना भिन्न सिद्ध हुआ, ऐसा करके प्रमाणरूप कर डाला। ऐसा कि प्रमाण का फल जानना है। है तो वही क्रिया, जानने की क्रिया। परन्तु ज्ञान से कथंचित् भिन्न (कही)। ऐसे तो जानने की यहाँ निर्णयात्मक पर्याय ली है। है न? क्योंकि वस्तु का निर्णय, वह वर्तमान पर्याय ली, त्रिकाली नहीं ली। वह सम्यग्ज्ञान, दीपक की भाँति, स्व और पर पदार्थ में निर्णयस्वरूप है, वर्तमानरूप है। आहाहा!

तथा प्रमिति से कथंचित् भिन्न है। जानने का प्रकार हुआ न यह। पाठ में है न, '**कथंचित् प्रमितेः पृथक्** इसीलिए फिर स्पष्टीकरण करना पड़ा न पहले गाथा में... किसी अपेक्षा से... किसी अपेक्षा, क्योंकि पूरा रूप, जानने की क्रिया हुई, वह उसका पूरा रूप ज्ञान नहीं, ऐसा। कथंचित् उसका भिन्न है। ज्ञान का पूर्णरूप का परिणमन हुआ एक अपेक्षा से भिन्न हुआ। यह व्यवहार में समझाया। यह व्यवहार के लिये दृष्टान्त दिया न सब। यह श्लोक तो व्यवहार को पहले सिद्ध (किया)। पहले पेरेग्राफ में तो उसे साबित किया। अब दूसरा। जरा यह सूक्ष्म है। ज्ञान की पर्याय को जानने की क्रिया से कथंचित्—किसी अपेक्षा से भिन्न है। जानने की क्रिया ज्ञान की पर्याय से, ज्ञान की पर्याय जो है जानने की क्रिया... जानने की क्रिया तो स्व-पर की सब अपनी ही है पूरी, तथापि कथंचित् भिन्न कही है। कथंचित्, सर्वथा नहीं। पर को जानता है न, ऐसा निर्णय किया न।

स्व और पर को जानने की क्रिया, ऐसा कहा न? पर को जानना आया न इसमें? पर का जानना आया न यह... यह... यह... यह... उससे यह जानने की क्रिया ज्ञान से अर्थात् कि जानने के भाव से उसे... उसे जानता है ... से भिन्न कहा गया है। ऐसा है। विशेष विचारा नहीं इसमें। कहो, समझ में आया? गम्भीर वस्तु है। कहो, वीरजीभाई!

मौके में आये। मौके में तो दोपहर में था कल। आहाहा! अरे! उसमें यह राग का सम्बन्ध वह क्या हुआ यह? परसमय, ऐसा दोपहर में था। आहाहा! एकपने में निमित्तपना कहाँ से आया? आहाहा! यह तो व्यवहार से व्यवहार की बात की। यह कहीं निश्चय से नहीं। उसका जो स्व-पर का निर्णय की ज्ञान की पर्याय—स्व-पर को जानने की ज्ञप्ति की जो पर्याय, वह जानने की क्रिया यह... यह... ऐसा जरा अन्तर हुआ इतना, इस अपेक्षा से कथंचित् भिन्न कही गयी है। एकरूपता में इसका यह... यह... यह... उसे कथंचित् भिन्न कहा गया है। ऐसा आता है अन्दर से। ... काम चलता है यहाँ। ऐसी बात है।

अब 'स्वाश्रितो निश्चयः' दूसरे पद की व्याख्या है। **'केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।' (निश्चय स्वाश्रित है)...** व्यवहार, वह पराश्रित है। **ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से,...** आत्मा के **(ज्ञान को) सतत निरुपराग निरंजन स्वभाव में लीनता के कारण...** रूप-राग रहित निर्विकारी केवलज्ञान है। **निश्चयपक्ष से भी...** ऐसा कि वह व्यवहारपक्ष से तो स्व-परप्रकाशकपना कहा था, वह फिर यहाँ कथंचित् डाला था पहले। अब निश्चयपक्ष से भी **स्व-परप्रकाशकपना है ही।** भगवान आत्मा को स्वाश्रित(पने) में भी स्व-परप्रकाशकपना है। पराश्रितपने में स्व-परप्रकाशकपना था, वह दूसरी अपेक्षा थी। वह पर को जानने की अपेक्षा से व्यवहार कहा था। समझ में आया? यहाँ अपने ही पर (-दूसरे) गुणों को जानना, ऐसा स्व-परप्रकाशक निश्चयपक्ष में है। समझ में आया?

निरन्तर निरुपराग—राग रहित **निरंजन स्वभाव में लीनता के कारण...** भगवान का ज्ञान निश्चयपक्ष से भी स्व-परप्रकाशकपना है ही। आहाहा! **(वह इस प्रकार :) सहज ज्ञान आत्मा से संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा से भिन्न नाम तथा भिन्न लक्षण से (तथा भिन्न प्रयोजन से) जाना जाता है,...** क्या कहा? आत्मा और ज्ञान दो नाम पड़े न भिन्न। संज्ञा पड़ी न दो के नाम। यहाँ एक आत्मा और ज्ञान। नामसंज्ञा भेद पड़ा न। प्रयोजन से भी भिन्न। आत्मा का प्रयोजन, यहाँ ज्ञान का प्रयोजन। ऐसा संज्ञा, लक्षण... लक्षण भिन्न। ज्ञान का लक्षण जानना, द्रव्य का लक्षण सबको रखना। **प्रयोजन की अपेक्षा से भिन्न नाम तथा भिन्न लक्षण से (तथा भिन्न प्रयोजन से) जाना जाता है,...** कौन? यह आत्मा और ज्ञान। उसका और उसका, हों! आहाहा!

आत्मा और ज्ञान, वह आत्मा से सहजज्ञान संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन अपेक्षा से भिन्न नाम, भिन्न लक्षण से और भिन्न प्रयोजन से **जाना जाता है, तथापि वस्तुवृत्ति से (अखण्ड वस्तु की अपेक्षा से) भिन्न नहीं है;...** ज्ञान और आत्मा दो अभिन्न है। वस्तुवृत्ति से— वस्तु के स्वरूप से देखो तो वह ज्ञान और आत्मा एक है, परन्तु नामभेद से, लक्षणभेद से, प्रयोजनभेद से दोनों में भेद है। आहाहा! राग और पुण्य की तो बात ही कहाँ करना? यहाँ तो ज्ञान और आत्मा में संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन से भेद है, तथापि वस्तुवृत्ति से एक है। आत्मा के प्रदेश अलग और ज्ञान के प्रदेश अलग, ऐसा नहीं है। यह सूक्ष्म बात है, भाई! कुन्दकुन्दाचार्य ने इस ग्रन्थ में कहा कि मेरी भावना के लिये तो मैंने यह बनाया है। सूक्ष्म में सूक्ष्म डाला है। निज की भावना के लिये, अन्दर मन्थन के लिये, स्व के घोलन के लिये यह बनाया है। समझ में आया? आहाहा!

सहज ज्ञान आत्मा से संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा से भिन्न नाम तथा भिन्न लक्षण से (तथा भिन्न प्रयोजन से) जाना जाता है, तथापि वस्तुवृत्ति से (अखण्ड वस्तु की अपेक्षा से) भिन्न नहीं है;... यह ज्ञान, **इस कारण से...** यह ज्ञान... यहाँ आया वह **आत्मगत।** उसमें आता है न एकत्वगत। बहुत जगह आता है। मोक्षगत और आत्मगत ऐसे शब्द उसमें बहुत आते हैं। गत अर्थात् **(आत्मा में स्थित)** देखा! **'एयत्तणिच्छयगदो'** (समयसार गाथा ३)। आत्मगत—आत्मा में रहे हुए **दर्शन, सुख, चारित्र आदि को जानता है...** देखा! वह पर हो गया ज्ञान की अपेक्षा से। तथापि वह अपना है, इसलिए निश्चय से जानता है। स्व और पर को जानना, वह निश्चय है, परन्तु यह पर। स्वज्ञान को जाननेवाला ज्ञान स्व को जाने और समकित है यह, श्रद्धा है यह, चारित्र है यह, आनन्द है यह—ऐसा जो जानना, वह निश्चयपक्ष से स्व-परप्रकाशक कहा जाता है। ज्ञान ज्ञान को प्रकाशित करता है और ज्ञान अपने (अतिरिक्त के) अनन्त गुणों को प्रकाशित करता है, यह निश्चयपक्ष से स्व-परप्रकाशक है। साधारण व्यक्ति को तो इसमें कहीं अता-पता सूझे नहीं। सब अता-पता सूझे ऐसी ही बात है।

कहते हैं कि पहले ऐसा कहा था कि स्व-परप्रकाशकपना, (उसमें) पर को प्रकाशित करता है, वह व्यवहार कहा था। समझ में आया? यहाँ कहते हैं कि स्व-पर प्रकाशित करे, उसे हम निश्चय कहते हैं। किस अपेक्षा से? कि ज्ञान ज्ञान को जाने,

(यह स्व) और ज्ञान दूसरे अनन्त गुणों को जाने, इस अपेक्षा से पर हुआ, परन्तु है अभेद अखण्ड, इसलिए निश्चयपक्ष से स्व-परप्रकाशक, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? वीतरागमार्ग ऐसा सूक्ष्म है, चन्दुभाई! अब इसे अन्यमति के साथ में मिलाना। यह सर्वज्ञ परमेश्वर का यह मार्ग है, उसे दूसरे के साथ समन्वय करो। परन्तु किसके साथ समन्वय करे? यह चीज़ ही जहाँ अन्यत्र नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : भिन्न है। भिन्न है परन्तु वह... है, है—ऐसा नहीं। दोनों में मेल है ऐसा। दोनों को मेल है, इसका नाम समन्वय, ऐसा वे कहते हैं। मेल कहाँ है? बापू! तेरी जाति में जो चीज़ है, उससे विरुद्ध तू मान और इन दोनों का मिलान खाये, किस प्रकार खाये?

ओहोहो! निश्चय क्यों कहा और पर क्यों कहा, इसकी व्याख्या करते हैं। कि स्वयं वस्तुवृत्ति से भिन्न नहीं ज्ञान। इस कारण के कारण सहजज्ञान—आत्मज्ञान आत्मा में रहे हुए—आत्मगत दर्शन-सुख-चारित्र को जानता है और **और स्वात्मा को—कारणपरमात्मा के स्वरूप को—भी जानता है।** ऐसा ठीक। यह ज्ञान की दशा स्व-आत्मा को त्रिकाली को जाने और ज्ञान ज्ञान को जाने और ज्ञान अनन्त गुण को जाने। कहो, समझ में आया? यह निश्चयपक्ष से स्व-परप्रकाशक हुआ। उसमें व्यवहार नहीं। भले पर कहलाये, आत्मा के ज्ञान से अनन्त आनन्दादि पर कहलाये। समझ में आया? अरेरे! और अकेला आत्मा कारणपरमात्मा भी ज्ञान से पर कहलाये। भाई! ज्ञान से दूसरे गुण पर कहलाये और ज्ञान से आत्मा (पर), ऐसा कहलाया, तथापि है सब निश्चय से स्व। समझ में आया? आहाहा! वीतरागमार्ग सर्वज्ञ का कहा हुआ अलौकिक पंथ है। उसे समझना... उसे समझे बिना कहीं कोई रास्ता कल्याण का दूसरा नहीं है।

मुमुक्षु : महाराज! यह भेददृष्टि तो व्यवहार है। ऐसा क्यों कहा कि भेद को जानता है, इसलिए निश्चय? ज्ञान अपने गुणों को जानता है, आत्मा को जानता है। आत्मा और ज्ञान सर्व भेद निषेध....

पूज्य गुरुदेवश्री : भेद नहीं, परन्तु स्व है, इसलिए निश्चय।

मुमुक्षु : स्व का भेद है, इसलिए अभेद में ले लिया?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। अभेद में नहीं, यह तो अपने में है, इसलिए स्व। परन्तु है तो भेद न! ज्ञान पर को जाने, वह भी भेद हुआ, पर हुआ, परन्तु फिर भी वह निश्चय है, अपने में है इसलिए। और ज्ञान त्रिकाली आत्मा को जानता है तो यह भी भेद, परन्तु है स्व का, तो हो गया निश्चय।

पहले से कठिन आया। ऐसा है। उन गुण को भी जानता है, ज्ञान दूसरे गुणों को भी जानता है और आत्मा को जानता है। ऐसी दो बातें हुईं। आहाहा! समझ में आया? वहाँ ऐसा कहा था कि ज्ञान पर को भी जानता है और स्वयं प्रकाशरूप आत्मा को जाने, वह व्यवहार से कहा। समझे न? अन्त में, भाई। वहाँ उसे व्यवहार कहा था। यहाँ (निश्चय) किस अपेक्षा से? उसमें है, इस अपेक्षा से। समझ में आया? पर को जानना, वह कहीं परवस्तु आत्मा में नहीं। वे (दूसरे गुण) तो उसमें है। ज्ञान ज्ञान को जाने; ज्ञान पर को जाने अर्थात् अनन्त गुणों को और ज्ञान आत्मा को जाने। यह आत्मगत होने से स्व-परप्रकाशक निश्चय यथार्थ से कहा जाता है। आहाहा! केवलज्ञान को मथा है। आहाहा! समुद्र, भगवान आत्मा अकेला ज्ञान का समुद्र है। ज्ञानसागर ऐसा भगवान आत्मा। आहाहा!

और स्वात्मा को—कारणपरमात्मा के स्वरूप को—भी जानता है। कोष्ठक में ऐसा लिया है, गुण-गुणी की अपेक्षा ली है। स्वात्मा को—कारणपरमात्मा के स्वरूप को जानता है, यह बात नहीं आयी यहाँ। समझ में आया? दो पक्ष लिये—दो प्रकार। एक आत्मा ज्ञान से—केवलज्ञान, केवलदर्शन द्वारा सभी तीन काल, तीन लोक को जाने, यह व्यवहार हुआ। समझ में आया? और वह आत्मा अपने को और पर को, यह ज्ञान अपेक्षा से पर अर्थात् वह वस्तु और आत्मा उसे जाने, परन्तु उसे व्यवहार में डाला था। यहाँ कहते हैं कि आत्मा, उसका ज्ञान ज्ञान को जाने और ज्ञान (के साथ) अनन्त गुण एकसाथ अविनाभाव रहे हुए हैं, उन्हें जाने। परन्तु हैं ज्ञान से पर, इसलिए परप्रकाशक। परन्तु है निश्चय। स्व में रहे हुए हैं। वह तो पर (आत्मा) में नहीं था, समझ में आया? आहाहा! पर्याय। यहाँ तो पर्याय की बात है न। ऐसे पाठ में तो सहजज्ञान लिया है। अर्थ में लिया है... परन्तु वह ज्ञान की पर्याय है न। उसे स्वयं को जाने गुण और दूसरे सबको भी जाने, वह भी निश्चय है और आत्मा अखण्ड आत्मा को जाने, वह भी निश्चय है। ऐसा उसका स्वरूप केवलज्ञान और केवलदर्शन में भी है। विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर शुक्ल १०, शनिवार, दिनांक - २७-११-१९७१
गाथा-१५९-१६०, श्लोक-२७२, प्रवचन-१८७

नियमसार, शुद्धोपयोग अधिकार। पहली गाथा है न, उसका कोष्ठक है कोष्ठक। नहीं? बाकी है न? पहले ऐसा आया कि व्यवहारनय से आत्मा पर को जानता है और अपने को जानता है—दो होकर व्यवहारनय कहा जाता है। ऐसा स्व-परप्रकाशकपना... शुद्धनिश्चय पक्ष में भी अन्तर के ज्ञान-दर्शन आदि भाव द्रव्य को जाने—त्रिकाली द्रव्य को जाने, यह शुद्धनिश्चय में आया। स्वाश्रित में ज्ञान की दशा—ज्ञान, वह ज्ञान ज्ञान को जाने, वह ज्ञान दूसरे गुणों को जाने। वह स्व-परप्रकाशकपना निश्चय से आया। समझ में आया? और आत्मा को जाने निश्चय में, वह स्व-आश्रित। ज्ञान ज्ञान को जाने, ज्ञान अपने (साथ में) रहे हुए अनन्त दूसरे गुणों को जाने, ज्ञान त्रिकाली आत्मा को जाने, उसे स्व-आश्रित निश्चयनय से कहा जाता है। उसमें पर की अपेक्षा आयी नहीं। उसके कोष्ठक में।

सहजज्ञान—स्वाभाविकज्ञान **स्वात्मा को तो स्वाश्रित निश्चयनय से जानता ही है और इस प्रकार स्वात्मा को जानने पर उसके समस्त गुण भी ज्ञात हो ही जाते हैं। अब सहजज्ञान ने जो यह जाना, उसमें भेद-अपेक्षा से देखें तो सहजज्ञान के लिए ज्ञान ही स्व है...** ज्ञान ज्ञान को जाने, वह स्व है। **और उसके अतिरिक्त अन्य सब—दर्शन, सुख आदि—पर है;...** आहाहा! समझ में आया? शरीर, वाणी, कर्म, वह तो पर है, पुण्य-पाप के परिणाम, वे भी पर हैं। पर को जानना, वह पर, उपचार। अब यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा ज्ञान से ज्ञान को जाने, ज्ञान से उसमें रहे हुए गुणों को जाने और ज्ञान से द्रव्य को जाने। वह निश्चयपक्ष है। स्वाश्रय में पर की अपेक्षा आयी नहीं। गुण की (अपेक्षा) आयी, परन्तु वह तो स्व में रहे हुए की आयी, इससे उसे परप्रकाशकपना कहते हैं। ज्ञान को ज्ञान जाने, यह स्वप्रकाशक और ज्ञान समस्त गुणों को जाने, वह परप्रकाशक, परन्तु वह निश्चय(नय) से। ऐसी सूक्ष्म बात है। समझ में आया?

इसलिए इस अपेक्षा से ऐसा सिद्ध हुआ कि निश्चयपक्ष से भी ज्ञान स्व को तथा पर को जानता है। बीच में निश्चय आया था, वह दूसरा निश्चय आया था शुद्धनिश्चय। यह तो अन्तर ज्ञान, दर्शनादि... ज्ञानगुण जो है, वह अपने द्रव्य को जाने, ऐसा आया था वहाँ। वह ध्रुव... ध्रुव। समझ में आया? **सहजज्ञान और सहजदर्शन द्वारा निज कारणपरमात्मा को,...** ऐसा। जाने-देखे। वह गुण... गुण... गुण जो है, वह द्रव्य को जाने-देखे, ऐसा। समझ में आया? यहाँ तो ज्ञान की पर्याय, वह ज्ञान ज्ञान को जाने, ज्ञान दूसरे गुणों को जाने, ज्ञान द्रव्य को जाने—उसमें सब स्व आया। भले पर कहा, परन्तु वह आत्मा में रहे हुए गुण, इस प्रकार से पर कहा, ज्ञान की अपेक्षा से। समझ में आया? इस प्रकार स्व-परप्रकाशकपना ज्ञान में साबित—सिद्ध होता है। ऐसा सब क्या होगा यह सब? यह उसका स्वतः स्वभाव कैसा है? और पर को जाने, ऐसा कहना वह उपचार है। क्योंकि पर में तन्मय होता नहीं। समझ में आया? यहाँ तो ऐसा भी लिया कि पर को जाने, स्व को जाने—दोनों होकर व्यवहार कहा। स्व-परप्रकाशक में दूसरा आया न! समझ में आया? ऐसे कठोर प्रकार हैं। इसमें याद रहे?

इसी प्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में १९२वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:— यह मोक्ष अधिकार का अन्तिम कलश है। समयसार का मोक्ष अधिकार है, उसका अन्तिम कलश है यह। यह अपने आधार के लिये इसे देते हैं। वहाँ तो मोक्ष अवस्था ही लेते हैं स्पष्ट इसमें तो। मोक्ष अधिकार है न, वहाँ अर्थात् उसकी अवस्था ही लागू पड़ती है बस।

बन्धच्छेदात्कलय-दतुलं मोक्ष-मक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम्।
एकाकार-स्वरस-भरतोऽत्यन्त-गम्भीर-धीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलित-मचले स्वस्य लीनं महिम्नि॥

कहते हैं कि केवलज्ञान—पर्याय जो केवलज्ञान की, वह कैसी हुई? कैसी है? **श्लोकार्थः कर्मबन्ध के छेदन से अतुल...** जो ज्ञान की पर्याय कर्मबन्ध के छेद से जिसे उपमा नहीं, ऐसा केवलज्ञान **अक्षय (अविनाशी) मोक्ष का अनुभव करता हुआ,...** लो। समझ में आया? परमात्मा की केवलज्ञान की दशा, कहते हैं कि कर्मबन्ध के छेद

से—कर्मबन्ध का छेद होने से अतुल (अर्थात्) जिस ज्ञान की उपमा नहीं, ऐसा अक्षय अर्थात् अविनाशी मोक्ष को... अतुल और अक्षय ऐसे मोक्ष को अनुभवता हुआ **नित्य उद्योतवाली (जिसका प्रकाश नित्य है ऐसी)...** नित्य है न केवलज्ञान। है पर्याय, परन्तु कायम रहनेवाली है। **सहज अवस्था जिसकी विकसित हो गयी है ऐसा, एकान्त शुद्ध (कर्म का मैल न रहने से जो अत्यन्त शुद्ध हुआ है ऐसा), तथा एकाकार (एक ज्ञानमात्र आकार से परिणमित)...** ज्ञेयों के आकार को यहाँ गौण कर दिया है। है ज्ञेयाकार नहीं, (परन्तु) ज्ञेय सम्बन्धी का अपना ज्ञान ज्ञानाकार परिणमा है। समझ में आया? लोकालोक के ज्ञेय हैं, उस सम्बन्धी का ज्ञान अपना है, वह ज्ञानाकार एकाकार परिणमित है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

निजरस की अतिशयता से... अपने बल की विशेषता से, निजशक्ति के बल की विशेषता से **जो अत्यन्त गम्भीर...** है। केवलज्ञान अत्यन्त गम्भीर है। **और धीर है,...** कायम रहनेवाला है, ...धीर है, धीर-शान्त है। **ऐसा यह पूर्ण ज्ञान...** लो, यह सबमें अन्तिम विशेषण यह आया। **ऐसा यह पूर्ण ज्ञान जगमगा उठा (सर्वथा शुद्ध आत्मद्रव्य जाज्वल्यमान प्रगट हुआ),...** भगवान आत्मा में 'ज्ञ' स्वभाव था—सर्वज्ञस्वभाव था, उसमें एकाकार होकर पर्याय में सर्वज्ञपर्याय एकाकार ज्ञान की दशा, जिसमें कोई परज्ञेय का आकार है नहीं। ऐसी एकाकार ज्ञानपर्याय... द्रव्य प्रगट हुआ। द्रव्य अर्थात् आत्मा इस प्रकार से पर्याय में परिणमा। ओहोहो! समझ में आया?

अपनी अचल महिमा में लीन हुआ। अपना जो ज्ञान और आनन्दादि त्रिकाली स्वभाव, उसकी ज्ञानपर्याय, उसमें लीन हो गयी। उन्हें अरिहन्त कहते हैं और उसे केवलज्ञान कहते हैं। समझ में आया? 'णमो अरिहंतांण... णमो अरिहंताणं' करे, परन्तु अरिहन्त कौन है, उनका ज्ञान क्या, उनका सामर्थ्य क्या, स्व को कैसे जाने, पर को जाने तो कैसे उपचार कहना—इसकी स्थिति जाने बिना अरिहन्त को यथार्थरूप से जानता नहीं, वह आत्मा को भी यथार्थरूप से नहीं जानता।

मुमुक्षु : पशु कहाँ जानता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : पशु जानता है अन्दर से। दिव्यशक्ति अपनी जानी, उसमें यह आ गया सब। यह मोक्ष का ज्ञान उसे आ गया उसमें। मोक्ष कहो या केवलज्ञान कहो।

पशु के अन्तर में ज्ञायकस्वभाव चैतन्य सम्पूर्ण शक्तिवन्त आनन्दमय है, ऐसी जहाँ प्रतीति हुई, साथ में पूर्ण करने की ओर के साधन में वर्तता है, भले 'पूर्ण' शब्द न जाने। समझ में आया? इसलिए पूर्ण करने के लिये प्रयत्न करता है, वही मोक्ष को जानता है। कहो, समझ में आया? कठिन बातें! उसके नाम न जाने, (परन्तु) भाव जानता है अन्दर।

सहज आनन्दस्वरूप और ज्ञान की मूर्ति, ऐसा जो अन्तर पकड़ अनुभव में आया, पूरा ऐसा स्वरूप ऐसा अनुभव में आया, वह अनुभव, वह संवर और निर्जरा की पर्याय हुई और संवर-निर्जरा की पर्यायवाले गुरु होते हैं, वे भी उसके ज्ञान में आ गये। और वह संवर साधक होने पर पूर्ण साधना, पूर्ण होने, एकरूप होने को प्रयत्न करता है, यह अपूर्ण है, इसलिए ऐसे ढलकर, फिर ढलना न रहे, ऐसी एकरूपदशा करने को प्रयत्न करता है, वह एकरूपदशा पूर्ण हो, उसे मुक्ति कहते हैं। वह मुक्ति देव का स्वरूप है। संवर-निर्जरा गुरु का स्वरूप है। धर्म, वह स्वयं शुद्ध आनन्द का अनुभव हुआ, वह धर्म और उसका—धर्म का फल पूर्ण मुक्ति—सब भाव उसमें आ जाता है। समझ में आया?

आत्मा ज्ञानस्वभाव और उसकी मूडी—पूँजी का क्या स्वरूप है, यह उसके माहात्म्य में आया नहीं। उसका माहात्म्य आने पर नौ तत्त्वों का सब ज्ञान अन्दर हो जाता है, ऐसा कहते हैं। कहो! **अचल महिमा में लीन...** पशु भी... सातवें नरक का नारकी लो न, वह भी आत्मा के आनन्द को जहाँ अनुभव करता है, जिसमें आनन्दस्वरूप पूर्ण वह आत्मा, आनन्द से उल्टी शक्ति बिना के तत्त्व, वे अजीव; आनन्द से सुलटा अन्दर में रागादि हो, वह दुःख।—यह आस्रव, पुण्य-पाप और बन्ध, उसका ज्ञान उसमें आ गया। समझ में आया? यह तो चैतन्य बादशाह की क्रीड़ा है। समझ में आया? कहो, यह अब पशु को ऐसी खबर नहीं? और यह ऐसा कहे कि क्यों उसे समकित है और अनुभवता है? ऐसा कहते हैं।

पूर्व में सुना हुआ, परन्तु अनुभव में नहीं लिया हुआ। शुद्ध आत्मा आनन्दस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप। ऐसा जहाँ अनुभव में लिया कि यह तो ज्ञान एकरूप। भले शब्द न (आवे), परन्तु एकरूप स्वभाव है, वह त्रिकाल है। उसके अनुभव में आया, वह पर्याय, उसमें द्रव्य का ज्ञान हुआ, पर्याय स्वयं हुई, उसका भी उसमें ज्ञान है। परन्तु वह स्वभाव में ढलना चाहता है, अभी ऐसा का ऐसा एकाग्र होना (चाहता है), इसका अर्थ कि पूर्ण

होना चाहता है, वह मुक्ति। समझ में आया? मोक्षमार्गप्रकाशक में लिया है। नौ तत्त्व को तुम सम्यग्दर्शन कहते हो, परन्तु नौ तत्त्व के उसको नाम भी आते नहीं न? मोक्षमार्गप्रकाशक में लिया है। सब आता है उसमें, सुन न! भाषा का क्या काम है यहाँ? आहाहा!

और (इस १५९वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं):— यह १५९ गाथा चली न, उसका सार संक्षिप्त में कहते हैं।

आत्मा जानाति विश्वं ह्यनवरतमयं केवलज्ञानमूर्तिः,
मुक्तिश्रीकामिनीकोमलमुखकमले कामपीडां तनोति।
शोभां सौभाग्यचिह्नां व्यवहरणनयाद्देवदेवो जिनेशः,
तेनोच्चैर्निश्चयेन प्रहतमलकलिः स्वस्वरूपं स वेत्ति॥२७२॥

ओहोहो! **श्लोकार्थ : व्यवहारनय से यह केवलज्ञानमूर्ति आत्मा...** व्यवहार अर्थात् जिसमें पर का आश्रय आवे, उसका नाम व्यवहार। यह उसमें टीका में आया है। **निरन्तर विश्व को वास्तव में जानता है...** केवलज्ञानमूर्ति आत्मा निरन्तर विश्व को वास्तव में जानता है। देखो! 'वास्तव में' शब्द रखा। व्यवहार से बराबर जानता है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : व्यवहार तो खोटा है....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह खोटा नहीं, यह तो तन्मय की अपेक्षा से खोटा। उसका जानना तो बराबर है। 'वास्तव में' शब्द प्रयोग किया है देखा! यह व्यवहारनय से बात कहते हैं। ऐसा कि विश्व को भी जानता है **और मुक्तिलक्ष्मीरूपी कामिनी...** अर्थात् अपनी केवलज्ञान की पूर्ण पर्याय, उसका **कोमल मुखकमल पर कामपीड़ा को तथा सौभाग्यचिह्नवाली शोभा को फैलाता है।** वह अपनी पर्याय को शोभा देता है, ऐसा कहते हैं। अपनी पर्याय को भी जानता है। समझ में आया?

अथवा वह अपने को जानता है और पर को जानता है—(ऐसे) दो होकर व्यवहार कहने में आता है। स्व-परप्रकाशक सिद्ध करना है न यहाँ! भगवान आत्मा अपने ज्ञान में यह विश्व सब बराबर जानते हैं, ऐसा। समझ में आया? और अपने को भी जानता

है। यह दो होकर व्यवहारनय कहे जाते हैं। समझ में आया? ... अपनी आनन्ददशा, ज्ञानदशा, उन सबको शोभाते हैं, पर्याय में उन्हें जानता है। आहाहा! परन्तु उसमें दो आये सही न—पर और स्व, इससे उसे व्यवहार कहने में आया है। आता है न उसमें, नहीं? रहस्यपूर्ण चिट्ठी। अन्तःतत्त्व और बहिःतत्त्व की श्रद्धा, वह व्यवहार है। है न इसमें कहाँ? छठवीं गाथा? कौन सी? इसमें न? लो। किस गाथा में है? बारह। बारह पृष्ठ पर है। बहिःतत्त्व और अन्तःतत्त्वरूप परमार्थ तत्त्व के दो भेदोंवाला... देखो! तत्त्व—बहिःतत्त्व, अन्तःतत्त्व परमार्थ भेदोंवाले, यह व्यवहार हुआ और जीव-अजीव आदि सात प्रकार से, वह भी व्यवहार हुआ। क्या कहा यह? अन्तःतत्त्वरूप परमात्मा और बहिःतत्त्वरूप यह—इन दो की श्रद्धा, उसे व्यवहार समकित कहना।

यह स्पष्ट तो कितना होता है। दो हुआ वहाँ व्यवहार हुआ, एक रहा वहाँ निश्चय हुआ। अब यह बात तो हो गयी स्पष्ट। समझ में आया? अन्तःतत्त्व परमात्मा अपना स्वरूप और सात पर्याय बहिःतत्त्व, उसमें दोनों को इकट्ठा जानता है, इसलिए दो हुए; इसलिए व्यवहार हो गया। कहो, समझ में आया? कहो, पण्डितजी! अकेला भगवान आत्मा स्वयं अपने को जाने, ज्ञान ज्ञान को जाने, दूसरे गुणों को जाने—उसे जाने, वह निश्चय। समझ में आया? यह तो सादी भाषा से आता है, परन्तु अब इस विषय की बात का अभ्यास ही नहीं, बाहर के क्रियाकाण्ड के अभ्यास सब जो रागरूप, पुण्यरूप क्रिया परिणाम है। परन्तु यह आत्मा अन्दर क्या? वह तो आत्मा, कहते हैं कि व्यवहारनय से तो विश्व को जाने। जाने, विश्व को करे—रचे नहीं। समझ में आया?

कहते हैं न कि जगत का ईश्वर कर्ता है, विश्व को रचता है। है, उसे रचे क्या? इससे पहले विश्व नहीं था? इससे पहले सर्वज्ञ नहीं था? सर्वज्ञ कब हुआ वह? सर्व वस्तु हो तो सर्वज्ञ हो। परन्तु सर्वज्ञ स्वयं बनावे, तब सर्वज्ञ तो है नहीं पहले। समझ में आया? आत्मा विश्व को जाने। है विश्व लोकालोक पूरा। जैसा है, उसे जाने, अपने को जाने। ऐसे दो होकर... दो आये न? इसलिए निश्चय में दो नहीं होते, निश्चय में अकेला आवे, निश्चय में दो न आवे। अकेला स्व आवे, उसका नाम निश्चय। समझ में आया? चेतनजी! ऐसा भारी सूक्ष्म। उसके ज्ञान की महिमा बतलाते हैं।

भगवान! तेरा ज्ञान का ऐसा स्वरूप है कि पर को जानता है, ऐसा कहना, वह

व्यवहार। और पर सहित स्व को जाने—ऐसे दोनों को जाने, यह कहना भी व्यवहार। और अकेले स्व को जाने, अपने द्रव्य-गुण-पर्याय और अनन्त गुण को, वह निश्चय। और उसमें स्व-पर डाला, वह तो ज्ञान स्व है और ज्ञान की अपेक्षा से दूसरे पर हैं, परन्तु है वह आत्मगत में रहे हुए। विश्वगत पर में नहीं। समझ में आया? यह व्यवहार कहा। बात समझ में नहीं आती? कि आत्मा स्व... स्व... स्व के आश्रय से स्व को जाने, इसका नाम निश्चय। भले उसके ज्ञान को ज्ञान जाने (और) ज्ञान अनन्त गुण को जाने, परन्तु है वह स्व-परप्रकाशक निश्चय। स्व-परप्रकाशक निश्चय, क्योंकि स्व में है, वह सब। और विश्व है, वह स्व से पर है। लोकालोक को जाने, वह तो व्यवहार है, परन्तु उसके सहित आत्मा को भी जाने, दो इकट्ठे, वह भी व्यवहार है।

निश्चय से तो, जिन्होंने मल और क्लेश को नष्ट किया है,... यह २७२। जिसने निश्चय से तो मल और क्लेश को नष्ट किया है, **ऐसे वे देवाधिदेव जिनेश...** केवली **निज स्वरूप को अत्यन्त जानते हैं।** जिसमें तन्मय होकर अनुभव करे, जाने, उसका नाम 'अत्यन्त जानता है'। कहो, समझ में आया? केवलज्ञान में सब विवाद उठाते हैं अभी। यह कहकर दूसरी गाथा में यही शुरु करेंगे। एक मत है न पूरा श्वेताम्बर का। एक समय में दो उपयोग नहीं होते, या ज्ञान उपयोग हो केवली को या दर्शन उपयोग हो। दो में से एक होता है, दोनों एक साथ नहीं होते। यह सिद्ध करने के लिये यहाँ बात शुरु की है। एक समय में दोनों उपयोग होते हैं। समझ में आया?

आत्मा एक है और उसके गुण दो साथ में इकट्ठे हैं। इसलिए गुणों का कार्य एक समय में दो उपयोग है। ज्ञान-उपयोग और दर्शन-उपयोग। एक मत ऐसा है सिद्धसेन दिवाकर का कि एक समय में दो नहीं, एक ही उपयोग है। वह झूठा है। और एक समय में एक और दूसरे समय में दूसरा उपयोग, वह भी झूठा है। उस अखण्ड ज्ञान का भान नहीं, इसलिए ऐसे सब तर्क उठे हैं, ऐसा कहते हैं। दूसरे क्या कहते हैं, उसके सामने उसका निर्णय टिका रहना चाहिए या नहीं? जो वस्तु है, इस प्रकार से निर्णय कब टिकेगा? पाँचवीं गाथा में आया, समयसार। अन्यमति के भावों से... क्या आया है या नहीं? निस्तुष। समयसार। कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा नहीं? पाँचवीं गाथा में कहा नहीं?

देखो! आया। **समस्त जो विपक्ष—अन्यवादियों से ग्रहण किये गये सर्वथा**

एकान्तरूप नयपक्ष, उनके निराकरण में समर्थ.... उनके सामने यह बात है और यह नहीं—ऐसा ज्ञान बिना टिक नहीं सकते। दूसरे यहाँ भरायेंगे कुछ... तो पूरा गुलाँट खा जायेगा। समझ में आया? **अतिनिस्तुष निर्बाध युक्ति के अवलम्बन से उसका जन्म हुआ है,...** कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मेरे ज्ञान के वैभव की उत्पत्ति आगम की सेवा से और दूसरे कहते हैं, उनकी युक्ति का नाश करने से—निराकरण करके मेरा वैभव उत्पन्न हुआ है। समझ में आया? यह क्या जैन में आकर कितने ही केवली... केवली माने, परन्तु दूसरे कुछ जरा कहे तो, हाँ, ... यह सच्चा लगता है। कहो, समझ में आया?

यहाँ की बात निश्चयवाली (सुना हो) वे भी कितने ही रजनीश का सुनकर फिर कहे, हाँ, महाराज कहे ऐसा ही है यह तो। वे भाई कुण्डलावाले कहते जयन्तीभाई। महाराज जैसा है। उनकी बहू को कहते थे, महाराज जैसा है, हों! उनकी बहू कहे, परन्तु ऐसा हम नहीं मानेंगे, महाराज के निकट स्वीकार कराओ। तो महिला अन्दर की... कुण्डलावाले, नहीं? घाटकोपर है न। ऐसे दूसरे यह चन्दुभाई। ऐई! तुम्हारे पिताश्री वहाँ रजनीश में गये थे। खबर है? उन्हें ऐसा था कि... लगता है तो अच्छा। उनके जैसा लगता है। यहाँ सुनने के बाद कहे, ओय...! चन्दुभाई। फिर तो बहुत... बोले थे। और आज भी कोई कहता था। दो-चार दिन पहले वे मोहनभाई आये थे न? मोहनभाई कामदार, नहीं? छोटाभाई।

छोटालाल कामदार कहते थे कि अपने पक्ष में से कोई वहाँ कहते हैं। रजनीश का भी महाराज जैसा ही है, हों! कहे। कहो, अब ऐसे के ऐसे। वाड़ा की बातों में से निकले, वहाँ वापस वह निश्चय की बात कैसी और क्यों है, उसकी खबर बिना (कहे कि) वह भी ऐसा कहता है। वे कहते थे छोटाभाई। आहाहा! यहाँ बहुत सब... मूर्खों के गाँव कहीं अलग होते हैं? भान नहीं होता, यह क्या चीज़ है। ऐसी सर्वज्ञ की चीज़, वह चीज़ कहीं तीन काल में, तीन लोक में अन्यत्र कहीं नहीं है। आहाहा! सब रजनीश और वेदान्त और अरविन्द और वे हैं न? वे क्या कहलाते हैं? रमण महर्षि। सब वेदान्ती, गप्प गप्प मारनेवाले। समझ में आया?

यह तो सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर एक समय में न्याय-लॉजिक-युक्ति, अनुभव से बैठ सके, ऐसी बात है। अब उन सब पहलुओं से न समझे और एक पहलू ऐसा कुछ

लगे तो कहे, हाँ, उनके जैसा लगता है, हों! समझ में आया? इसीलिए उसे बराबर जितने विपरीत शल्य डाले हैं, उतने सुलटे समझने की दरकार करनी पड़ेगी।

मुमुक्षु : पहले से ही आपकी बात सुनकर उल्टे न चढ़े हो, उसे क्या दिक्कत है?

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! उल्टे तो हों। न हों क्या? वह बाहर में न हो, परन्तु अन्दर के तो हो न! राग से धर्म होता है, पुण्य से धर्म होता है, देह की क्रिया मैं करता हूँ—ऐसी विपरीतता तो होती है न इसे अनादि की। ऐई! आहाहा!

यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव वीतराग परमात्मा के मुख से निकली हुई वाणी, वह कहीं है नहीं ऐसी। समझ में आया? किसी के साथ मिलान नहीं। उसका मिलान उनके साथ है। ऐसी बात है। **देवाधिदेव जिनेश**—वीतराग के ईश्वर परमात्मा केवली तीर्थंकर निजस्वरूप... वाडावालों को जहाँ खबर नहीं, वह कहे दया पालन करो और प्रौषध करो, वह कहे यात्रा करो, वह कहे कि ऐसा खाना, नहीं खाना। अर्थात् वहीं के वही फँस गये। तत्त्व रह गया कहीं। समझ में आया? तीनों सम्प्रदाय को देखा है न। सब बराबर देखा है सबको। वह कहे दया पालन करो... दया पालन करो... दया पालो, व्रत करो और अपवास करो। उसमें क्या आया? दया कौन पाले? पर की कौन पालता था? हो गया तब, सिरपच्ची में नहीं पड़ा तो मिथ्यात्व में पड़ा रहा उसमें। ऐई पोपटभाई! आहाहा!

किसका करे? किसकी दया पाले? पर की? परपदार्थ स्वतन्त्र है। उनकी पर्याय उनसे होती है, उसमें करे कौन उसकी? और परपदार्थ के आशीष मिले तो यहाँ लाभ हो—ऐसा है आत्मा? और कोई कहे न कि गुरु की कृपा हो जाये तो मुक्ति हो जाये। विपरीतता कुछ है। यह आवे, परन्तु किस अपेक्षा से आता है? ऐई! इसका अर्थ कि जो सर्वज्ञ ने और परमगुरु सन्तों ने कहा... उसमें भी आयेगा आगे। इसमें आयेगा देखो, २७३। यह २७२ कलश है। २७३ में आयेगा, देखो! दूसरे पृष्ठ पर। जैसे सूर्य (के निमित्त से) जगत के जीवों को नेत्र प्राप्त होते हैं। **(सूर्य के निमित्त से)**... जगत के **जीवों के नेत्र देखने लगते हैं), उसी प्रकार ज्ञान और दर्शन (युगपद्) होते हैं... सर्वज्ञ भगवान को ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं और फिर सर्वज्ञ भगवान के निमित्त से जगत के जीवों को ज्ञान प्रगट होता है।)**

है ? इसका अर्थ क्या ? कि सर्वज्ञ एक समय में ऐसा ज्ञान तीन काल, तीन लोक को जाने, ऐसा ज्ञान जिसके लक्ष्य में आवे, उसे द्रव्य की ओर दृष्टि जाकर अनुभव हुए बिना नहीं रहता। उसकी आँखें खुल जाती हैं, ऐसा कहते हैं। आँखें बन्द हो और सूर्य उगा, वह कार्य को देखे, वह कार्य को करे और देखे और दूसरे को देखे। उसी प्रकार ज्ञान में जगत के सभी कार्य कैसे, उन्हें देखे और अपना कार्य करे स्वभाव का, सर्वज्ञ की प्रतीति और सर्वज्ञ की बराबर अन्दर दृष्टि पड़े तो। इतना सर्वज्ञ का निमित्त कहा जाता है, यह करे तो। समझ में आया ? सूर्य उगा परन्तु आँखें उघाड़े बिना खड़ा रहे तो ? इसी प्रकार भगवान सर्वज्ञसूर्य उगे हैं, परन्तु जो आँखें उघाड़े उसे न ? आहाहा!

एक समय में जिसका अन्त नहीं काल, द्रव्य, क्षेत्र, भाव आदि अनन्त, उसे राग के अवलम्बन बिना, ज्ञेय के अवलम्बन बिना... आहाहा! एक समय की पर्याय ऐसा जाने, भाई! यह बात वह कैसी कुछ! समझ में आया ? उसका इसे अन्तर भरोसा आवे, तब वह सर्वज्ञ के प्रकाश में अपनी आँखें उघड़ गयी, उन सर्वज्ञ का निमितत है, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया ? श्रीमद् ने कहा है न, 'करुणा हम पावत है तुमकी, यह बात रही सुगुरुगमकी।' कहाँ गये डॉक्टर ? आता है न ? 'करुणा हम पावत है तुमकी,...' भगवान की करुणा से होगा ? वहाँ तो ऐसा कहा। 'करुणा हम पावत है तुमकी...' आहाहा! सर्वज्ञ के ज्ञान में हमारा आत्मा इस समय में इस प्रकार से प्राप्त होगा, ऐसा जो आपके ज्ञान में था, वह ज्ञान की—आपकी हमारे ऊपर करुणा है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

भजन में आता है न! भजन में नहीं आता ? 'मेरे सिर सीमन्धरस्वामी सदा मेरी रक्षा...' 'सदा' शब्द है ? 'अखण्ड मेरी रक्षा करे।' भगवान रक्षा करते होंगे ?

मुमुक्षु : भगवान को मानना किसलिए ?

पूज्य गुरुदेवश्री : मानना, भगवान अपना इतना है, ऐसा जानने को मानना। दर्पण में देखना है कि मेरा चित्र कैसा है ? समझ में आया ? इसी प्रकार वे भगवान आदर्श हैं। दर्पण है। ऐसा केवलज्ञान... आहाहा! वह राग से प्राप्त नहीं होता, निमित्त से प्राप्त नहीं होता। आहाहा! ऐसी केवलज्ञानदशा... ऐसी केवलज्ञानदशा जिसे बैठी, उसे तो केवलज्ञान

का पिण्ड प्रभु आत्मा अन्दर बैठा उसे। आहाहा! ऐसी बात है। भारी कठिन काम है। वैसे तो 'णमो अरिहंताणं' करके मर गया अनन्त बार। अनन्त बार णमोकार गिना है। समझ में आया? अनन्त बार जैन का साधु हुआ, दिगम्बर साधु अनन्त बार हुआ। क्या हुआ उसमें? उसके ज्ञाननेत्र खुले नहीं। सर्वज्ञ तो ज्ञाननेत्र खोलने में निमित्त है। समझ में आया?

सर्वज्ञ भगवान के निमित्त से जगत के जीवों को... ...उसने नहीं किया। मैंने देखा कि उसने किया है? है शीतलप्रसाद का। यहाँ, '**जगतां लोचनं जायतेऽस्मिन्**' ऐसा है न तीसरी लाईन? '**जगतां लोचनं जायतेऽस्मिन्**' जगत के जीव को लोचन उत्पन्न होते हैं सूर्य के कारण से। ऐसा न्याय आना चाहिए न वापस। जगत के जीव को सर्वज्ञ परमात्मा से, ऐसा प्रकाश परमात्मा का पूर्ण है, ऐसा जिसने जाना, उसे सर्वज्ञ के निमित्त से ज्ञान खुला, ऐसा कहा जाता है। समझ में आया? यह तो अन्दर की बातें हैं, भाई! बाहर से कुछ खुल्ला पड़े, ऐसा नहीं है। यह २७२ हुआ। कलश है, हों! गाथा १६०।

जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयर-पयास-तावं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं॥१६०॥

ज्यों ताप और प्रकाश रवि के एक सँग ही वर्तते।
त्यों केवली को ज्ञानदर्शन एक साथ प्रवर्तते॥१६०॥

टीका : यहाँ वास्तव में केवलज्ञान और केवलदर्शन का युगपत् वर्तना दृष्टान्त द्वारा कहा है। देखो! श्वेताम्बर में बड़ा अन्तर है पूरा। श्वेताम्बर एक समय में केवलज्ञान का उपयोग मानते हैं, दूसरे समय में केवलदर्शन का मानते हैं। यह तत्त्व से, सत्य से दूर—विरुद्ध है। यह कहते हैं न यह। यह सिद्ध होता है न क्योंकि द्रव्यकर्ता एक है, उसके गुण दो हैं, तो उनका एक समय में एक ही कर्ता है, इसलिए एक समय में ही दो उपयोग होते हैं। समझ में आया? एक समय में एक उपयोग और दूसरे समय में दूसरा हो, वह तो खण्ड-खण्ड हो गया। केवलज्ञान भी आधा केवलज्ञान और आधा केवलदर्शन, ऐसा हुआ। एक साथ केवलज्ञान, केवलदर्शन नहीं। बड़ा अन्तर है। समझ में आया?

श्रीमद् में यह आता है कि दिगम्बरों ने केवलज्ञान को शक्तिरूप से माना है और

श्वेताम्बरों ने सत्तारूप से माना है। परन्तु स्पष्टीकरण किया गया, क्योंकि लोग ऐसे तैयार नहीं थे। बड़ा अन्तर, शक्ति और सत्ता का बड़ा अन्तर पूर्व और पश्चिम का। समझ में आया? सत्तारूप का यह अर्थ कि केवलज्ञान तो अन्दर है, परन्तु आवरण से ढँका हुआ है, इसलिए प्रगट नहीं। और शक्ति का अर्थ ऐसा कि ज्ञान शक्तिरूप से समर्थ है, प्रयोग करे—अन्दर में एकाग्र हो तो प्रगट हो। बड़ा अन्तर, पूर्व-पश्चिम का अन्तर है। लोगों को पकड़ में नहीं आता। समझ में आया? दोनों धर्म समान हैं। किसी के प्रति विरोध नहीं, किसी व्यक्ति के प्रति द्वेष नहीं। चाहे तो विरोधी पूरा नास्तिक हो, है वह पर्याय में, भाई! उसके प्रति विरोध—द्वेष, ऐसा नहीं होता। वस्तुस्थिति है, ऐसी जानना। समझ में आया?

कुन्दकुन्दाचार्य ने पुकार करके तो उपयोग का अधिकार लिया है। समझ में आया? ऐसा न माने तो, ज्ञानगुण से अखण्ड आत्मा है और उसकी पर्याय एक समय में अखण्ड प्रगट हो, ऐसा नहीं माना उसने। एक समय में केवलज्ञान जाने, तब दूसरी ज्ञान की पर्याय प्रगट हुई, उसने क्या किया उस समय? आवरण एक साथ दो नहीं गये? आवरण तो एक साथ है दोनों ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय के गये हैं। एक साथ... तो एक साथ में दो पर्याय उपयोग होती है। समझ में आया? यह थोड़े-थोड़े में बड़ा अन्तर है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हो गया तब फिर, एक समय में (दो) उपयोग नहीं, इसका अर्थ क्या? वह सब... आगम अर्थात् परन्तु उनके कल्पित हुए न? भगवान के आगम कहाँ हैं? ऐई! अपने तो सत्य है, वह यह है।

मुमुक्षु : ....होता है आगम?

पूज्य गुरुदेवश्री : कल्पित आगम कहते हैं... बिल्कुल कल्पित है सब बातें। वास्तव में तो... बहुत सूक्ष्म बातें पड़े। दृष्टि मिथ्या होने के पश्चात् शास्त्र रचे गये हैं ३२-४५ सब होकर—ऐसा है। ऐई! ऐसी बात आवे नहीं अन्दर। केवलज्ञान एक समय में और दूसरे समय में केवलदर्शन। यह क्या है यह वह कुछ? यह कहीं वस्तु का स्वरूप है? सादि-अनन्त, परन्तु किस प्रकार से? यह तो जिस समय में हुआ, ऐसा का ऐसा

केवलज्ञान सादि-अनन्त, दर्शन भी जो हुआ ऐसा सादि-अनन्त। उसमें... नहीं रहा। एक समय में (ज्ञान) उपयोग रहा, उस समय दर्शन नहीं रहा, दर्शन के उपयोग (के समय में) ज्ञान नहीं रहा। सादि-अनन्त कहाँ रहा?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : आता है, परन्तु कहाँ विशेष स्थिति उसने कहा है न सिद्धसेन दिवाकर ने? सादि-अनन्त तो कहा शास्त्र में, इसलिए एक उपयोग पहले और पश्चात् दूसरा, ऐसा नहीं होता। शास्त्र में कहा है न? तब फिर उसने गप्प मारा दूसरा। यह तो अन्य की अपेक्षा से कहा है। वहाँ तो स्पष्ट पाठ के पाठ सैकड़ों भरे हैं। केवलज्ञानी जिस समय में जाने, उस समय में देखते नहीं, जिस समय में देखे, उस समय जानते नहीं— ऐसे पाठ के पाठ भरे हैं। ऐसा नहीं चलता। ऐसा कोई न्याय बैठना चाहिए न? सत्य का सत्य स्वरूप क्या है? समझ में आया?

मुमुक्षु : लब्ध....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु लब्ध उन्हें होगा? छद्मस्थ को लब्ध (और) उपयोग होता है। यह कहते हैं खबर है। चारों ज्ञान इकट्ठे हों... उसकी एक-एक बहुत बात हो गयी है। वे हजारों बोल निकाले हैं, लिखे हुए हैं यहाँ। दिगम्बर और श्वेताम्बर के बीच हजारों बोल का अन्तर है, मुद्दे के बोल का अन्तर है। हजारों निकाले हुए हैं। एक बार (सर्वार्थसिद्धि) पढ़ता था न, ... के साथ लिखकर मिलाये हुए हैं सब। बाहर कहाँ निकालना विवाद में? यह तो मार्ग कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। एक ही समय में सूर्य को आताप और प्रकाश है, इसी प्रकार केवलज्ञानी को एक ही समय में केवलज्ञान और केवलदर्शन होता है। समझ में आया? श्रीमद् ने जिन्हें सद्गुरु स्वीकार किया है कुन्दकुन्दाचार्य को, वे ऐसा कहते हैं और दूसरे ऐसा (उल्टा) कहते हैं। दोनों इकट्ठे मानना?

मुमुक्षु : अपेक्षा हो न?

पूज्य गुरुदेवश्री : अपेक्षा कैसी? हो, उसकी अपेक्षा या न हो, उसकी अपेक्षा? सिद्ध को भी वर्तमान दुःख है, ऐसी अपेक्षा है। है अपेक्षा वहाँ? वह किस अपेक्षा से?

वर्तमान दु:ख है, दु:ख को वेदते हैं—ऐसा नहीं होता। वह तो इन्द्रिय का ज्ञान नहीं, उसे वर्तमान, इस अपेक्षा से उसे ज्ञान नहीं, ऐसा कहा। यह वह क्या अपेक्षा है? वेदन में दु:ख होता है सिद्ध को? तब कहे, भूतकाल की अपेक्षा से कहा। परन्तु वह कहाँ, यह तो वर्तमान भाषा लेनी है यहाँ। ऐई जेठाभाई! ऐसा है, बापू! आहाहा! भाई! मार्ग ऐसा कठिन है, क्या हो?

आचार्य कहते हैं, देखो! **यहाँ दृष्टान्तपक्ष से किसी समय बादलों की बाधा न हो,...** सूर्य को बादल आड़े न हो, **तब आकाश के मध्य में स्थित सूर्य के प्रकाश और ताप...** यह सूर्य को प्रकाश और ताप **जिस प्रकार युगपत् वर्तते हैं,...** एक समय में दोनों होते हैं। प्रकाश पहले और ताप बाद में, ऐसा होगा? दृष्टान्त तो ऐसा दिया है। आचार्य ने स्वयं दिया है, देखो! '**दिनकरप्रकाशतापौ**' पाठ है। सूक्ष्म न्यायों के भाव की खबर नहीं होती... श्रीमद् भी कहते हैं कि भाई! महावीर के बोध का पात्र तो सूक्ष्म बोध का अभिलाषी, सूक्ष्म बोध का अभिलाषी (हो) वास्तविक। यह तो सब स्थूल है। समझ में आया? 'सदैव' सूक्ष्म बोध का अभिलाषी। किसी समय सूक्ष्म ठीक पड़े और किसी समय ठीक न पड़े—ऐसा नहीं। ऐसी बात है, बापू! बहुत कठिन काम है। साधक अर्थात् महावीर के बोध का पात्र। शुरुआत में आया है, सदैव सूक्ष्म बोध का अभिलाषी। सूक्ष्म बोध... वह क्या क्षयोपशम है। आहाहा! झगड़ा... झगड़ा ऐसा। ...काल... सत्य तो सत्य ही था।

जिस प्रकार बादल की खलल—आड़ न हो, तब आकाश के मध्य में रहे हुए सूर्य के प्रकाश और ताप युगपद वर्तते हैं, **उसी प्रकार भगवान परमेश्वर तीर्थाधिनाथ को...** त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव को... अनन्त तीर्थंकर हुए, अभी भगवान विराजते हैं सीमन्धर परमात्मा। महाविदेहक्षेत्र में तीर्थंकर, लाखों केवली विराजते हैं। सिद्ध हुए, वे तो अनन्त हैं। उसी प्रकार... यहाँ डाला है। भगवान परमेश्वर तीर्थाधिनाथ को **त्रिलोकवर्ती और त्रिकालवर्ती,...** तीन लोक में वर्तनेवाले और तीन काल में वर्तनेवाले **स्थावर-जंगम द्रव्यगुणपर्यायात्मक ज्ञेयों में...** स्थावर और जंगम (अर्थात्) स्थिर रहनेवाले और गति करनेवाले। 'सचराचर' आया था न?

द्रव्यगुणपर्यायात्मक ज्ञेयों में सकल-विमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान और

केवलदर्शन... सब द्रव्य-गुण-पर्याय ऐसा ज्ञेयों में सकल-विमल केवलज्ञान और केवलदर्शन **युगपत् वर्तते हैं।** एक समय में दोनों होते हैं। समझ में आया? इसीलिए तो यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य की साबिती में पूरा अधिकार लिया है। अकेला नहीं, पूरा लिया है नियमसार। समझ में आया? सिद्धसेन दिवाकर ने एक समय में एक उपयोग गिना। श्वेताम्बर ने एक समय में एक और दूसरे समय में दूसरा। दोनों बातें झूठी हैं। गुण दो और उपयोग एक, ऐसा कैसे हो सकता है? समझ में आया? और आवरण दोनों के गये और एक समय में एक उपयोग और दूसरे समय में (दूसरा), ऐसा कैसे हो सकता है? यह सब जानने का प्रयत्न करे तो समझ में आये ऐसा है, हों! नवनीतभाई! ऐसा का ऐसा बिना भान के पड़ा रहे, ऐसा नहीं चलता। कहाँ एकान्त हो जाता है, इसे समझे बिना खबर नहीं पड़ती। समझ में आया?

भगवान सर्वज्ञ परमात्मा को तो... जैसे बादल के अभाव में आकाश में मध्य में रहा हुआ सूर्य आताप और प्रकाश से एक समय में शोभता है अथवा एक समय में आताप और प्रकाश होता है। इसी प्रकार भगवान को आवरण के अभाव में अपनी ज्ञान और दर्शन पर्याय खिल गयी है एक समय में। एक समय में दो उपयोग होते हैं। समझ में आया? कुन्दकुन्दाचार्य का डालना पड़ा ऐसा। स्वयं और कहेंगे आगे कि मेरी भावना के लिये यह बनाया है। क्योंकि वस्तु की स्थिति ही ऐसी है। समझ में आया? केवली परमात्मा देव का स्वरूप कैसा है, यह जानना पड़ेगा या नहीं इसे? त्वमेव सत्यं... क्या परन्तु सत्यं? देव कैसे, गुरु कैसे, शास्त्र कैसे, सिद्धान्त क्या है, धर्म कैसे हो, कैसे हो—उसके ज्ञान बिना, बिना भान के कूटा है अनादि से। जैन का साधु हुआ है बड़ा, ध्यान में जंगल में हजारों वर्ष रहा। समझ में आया? परन्तु वास्तविक तत्त्व—द्रव्य क्या है, गुण क्या है, पर्याय क्या है, उसकी पूर्णता क्या—इसका बराबर यथार्थ भान बिना कोरा रह गया, कुछ हाथ नहीं आया।

इस समय अपने यह २५०० वर्ष भगवान का माननेवाले हैं। महावीर भगवान को २५०० वर्ष होते हैं न। तो सबको संप (संगठित) करना। यह बराबर है। इससे सब इकट्ठे होकर ऐसा भाव करना। मनाने को, परन्तु इससे कहीं विचारभेद है, वह कहीं मिट जाये, ऐसा है? यह तो बाहर का, ऐसा कहते हैं। उसके लिये आये थे साहूजी, जयपुर।

सब इकट्ठे होकर... भाव है २०-२५ लाख, परन्तु वह धर्म नहीं कुछ। कहा था उनसे हों, जयपुर (में) साहूजी। ... कहा था, हमने कहा था। भाई स्थानकवासी, मन्दिरमार्गी, दिगम्बर, श्वेताम्बर... भगवान का आता है। भाव तो ... है। इससे उनके मतभेद हैं, वे कहीं मिट जाये, ऐसा है? आहाहा! मतभेद मिटे, तब तो निहाल हो जाये न! बहुत काल से पकड़ा हो, बड़े-बड़े आचार्यों ने पोषण दिया हो, वह कहाँ मिटे? स्वयं मिटावे तो मिटे। सबका मिटा दिया इसने... ऐसा कुछ होता नहीं। यह अपने आ गया है सब।

निधि को पाकर अकेला... हो। एक सरीखे विचारवाले हों, ऐसा जगत में होगा नहीं। बहुत ऐसी उतावल करना नहीं समझाने की कि झट समझ जाये, झट समझे। यह आवे, परन्तु इतनी उतावल नहीं कि तू ऐसा भूलकर तू ऐसा कर दे। बराबर समझा दूँ। किस प्रकार से समझायेगा, बापू? उसकी योग्यता बिना, उसकी लायकात बिना नहीं समझेगा। लाख प्रयत्न कर। भगवान की दिव्यध्वनि सुनी उसने, परन्तु केवली आगळ रह गया कोरा। आता है न श्वेताम्बर में, 'केवली आगळ रह गयो कोरो।' केवली के पास गया, परन्तु ऐसा का ऐसा निकला। सभा में गया, सुना, परन्तु जो इसकी श्रद्धा थी, वह लेकर ऐसा का ऐसा बाहर निकाला। कुछ फेरफार हुआ नहीं। सब जानना पड़ेगा जगुभाई! वहाँ और सोना-चाँदी के धन्धे से कुछ भला हो, ऐसा नहीं है। वह तो हैरान... हैरान है पाप।

कहते हैं कि **और (विशेष इतना समझना कि), संसारियों को दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होता है...** लो, और वापस डाला द्रव्यसंग्रह का। संसारी प्राणी छद्मस्थ को पहले दर्शन और फिर ज्ञान (होता है)। केवली को ऐसा नहीं होता। ऐसी बात की... **(अर्थात् प्रथम दर्शन और फिर ज्ञान होता है, युगपत् नहीं होते)**। छद्मस्थ को युगपद् होता नहीं।

इसी प्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसार में (६१वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:— लो!

णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी।
णट्ठ-मणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं॥

गाथार्थ : ज्ञान पदार्थों के पार को प्राप्त है... भगवान का ज्ञान पार को प्राप्त है। कहो, अनन्त के पार को भी प्राप्त है। ज्ञान पदार्थों के पार को प्राप्त है, ऐसा कहते हैं, अर्थात् कि सबको जानता है, ऐसा इसका अर्थ है। अनन्त आकाश, अनन्त काल आदि के सबके पार को प्राप्त है। आहाहा! **और दर्शन लोकालोक में विस्तृत है...** यह लोकालोक को देखता है एक समय में। **सर्व अनिष्ट नष्ट हुआ है...** भगवान परमात्मा को तो सब अनिष्ट राग-द्वेष (आदि) सब नष्ट हुआ है। **और जो इष्ट है, वह सब प्राप्त हुआ है।** अपनी पूर्ण शक्ति आनन्द (आदि) इष्ट है, वह सब प्राप्त हो गयी है। अनिष्ट का नाश और इष्ट की प्राप्ति। इष्ट-अनिष्ट कोई बाहर में नहीं कोई चीज़। ऐसे परमात्मा को केवलज्ञान, केवलदर्शन एक समय में पूर्ण रीति से होते हैं, ऐसा इसे निर्णय करना चाहिए।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर शुक्ल ११, रविवार, दिनांक-२८-११-१९७१
श्लोक-२७३-२७४, प्रवचन-१८८

यह नियमसार, शुद्धोपयोग अधिकार है। उपयोग में ज्ञान और दर्शन की व्याख्या चलती है। जीव को साध्य है, वह केवलज्ञान है। साधनेयोग्य—साध्य मोक्ष है न! केवलज्ञान और केवलदर्शन वह वस्तु है, वह साध्य है, साधनेयोग्य है। उसमें पूर्ण सुख और पूर्ण आनन्द, शान्ति आदि... वह पूर्ण साध्य केवलज्ञान की आदि का स्वरूप क्या है, वह यहाँ वर्णन करते हैं।

और दूसरा भी (श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचित बृहद्द्रव्यसंग्रह में ४४वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:—

दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा।
जुगवं जह्मा केवलि-णाहे जुगवं तु ते दोवि॥

यह तो नियमसार है मोक्ष का मार्ग। मोक्ष का मार्ग होकर जो दशा हो—प्रगटे, वह केवलज्ञान, केवलदर्शन—दोनों का स्वभाव तो एक समय में अखण्ड जाननेवाला... है। समझ में आया? मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। ज्ञान ... भवसागर को पार पाये हैं।... अर्थात् कि आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वभावी वस्तु है, उसके सन्मुख की सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशा, वह मोक्ष का कारण है। मोक्ष हुआ केवलज्ञान और केवलदर्शन किससे? कि निश्चय मोक्षमार्ग से। समझ में आया? निश्चय मोक्षमार्ग अर्थात् नियमसार। भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञान का सागर, ऐसा उसका अनादि-अनन्त चैतन्यस्वभाव की शान्ति और आनन्द, ऐसा उसका स्वरूप, उसके सन्मुख की सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशा, वह मोक्ष का मार्ग है, उसके फलरूप से यह केवलज्ञान है। समझ में आया?

तो कहते हैं कि **गाथार्थ : छद्मस्थों को**—अल्प ज्ञानी को **दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है...** क्या कहा यह? दर्शन अर्थात् यह समकित की व्याख्या नहीं। दर्शन अर्थात् देखने

का उपयोग। सूक्ष्म बात है यह अधिकार। देखना, जानना, ऐसा अनादि-अनन्त आत्मा का स्वभाव है। एक बात। समझ में आया? पुण्य-पाप आदि भाव उसका (आत्मा का) कुछ स्वभाव नहीं। उसका अनादि-अनन्त स्वभाव, यह भगवान आत्मा का देखना-जानना—दर्शन और ज्ञान, यह अनादि-अनन्त उसका स्वरूप है। समझ में आया? यह दर्शन अर्थात् यह समकित नहीं। समझ में आया? दर्शन अर्थात् देखने के उपयोगवाला जिसमें कार्य हो, ऐसा दर्शनभाव त्रिकाल है और ज्ञानभाव त्रिकाल है। समझ में आया? ऐसे दर्शन और ज्ञानस्वभाववाला तत्त्व, उसे जिसने आराधा अर्थात् कि यह दर्शन-ज्ञान स्वभाववाला भगवान आत्मा, उसकी जिसने सेवा की अर्थात् कि अन्तर्मुख की क्रिया—एकाग्रता की क्रिया हुई, उसके फलरूप से केवलदर्शन और केवलज्ञान प्रगट होता है। यह दर्शन अर्थात् उपयोग की यह व्याख्या है। समझ में आया?

यह पूर्ण परमात्मा को दर्शन और ज्ञान एक क्षण में—एक समय में दोनों साथ में होते हैं। छद्मस्थ को ऐसा नहीं होता, इतना यहाँ समझाते हैं। है? **छद्मस्थों को...** छद्मस्थ अर्थात् कि जो आवरण में अभी है, केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रगट हुए नहीं, ऐसे छद्मस्थ (अर्थात् कि) छद्म—आवरण में स्थ, ऐसे जीव को **दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है।** क्योंकि अल्पज्ञान और अल्पदर्शन है, इसलिए उसे पहले दर्शन उपयोग होता है, पश्चात् ज्ञान उपयोग होता है। आहाहा! समझ में आया? पूर्ण केवलज्ञान और केवलदर्शन, उसके कारण (परमात्मा) से कार्य प्रगट होता है, ऐसा भगवान को तो एक ही समय में ज्ञान और दर्शन का उपयोग दोनों एक समय में होते हैं। समझ में आया?

इसीलिए कहते हैं कि **छद्मस्थों को दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है।** पहले सामान्य देखना होता है, पश्चात् उसे विशेष जानने का उपयोग परिणमता है। यह घर में क्या होता है, उसकी बात है यह। समझ में आया? खबर नहीं होती कभी, आत्मा क्या चीज़, निजघर क्या और निज चीज़ क्या, उसकी खबर नहीं होती और पर की लगायी है सब। समझ में आया? तो कहते हैं कि भगवान आत्मा सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने देखा और जाना और प्रगट किया पर्याय में, वह आत्मा तो दर्शन-ज्ञानस्वभाव ही है अनादि का। यह आया पहले अपने समयसार, नहीं? पंचास्तिकाय में आया। दर्शन-ज्ञान अस्तित्व, नियत अस्तित्व। ... आ गया अपने। दूसरी गाथा में नहीं? देखना-

जानना ऐसा अस्तित्व उसका स्वरूप है, ऐसा कहते हैं। उसका कोई शरीर, वाणी, मन, पुण्य-पाप का राग ऐसा उसका स्वभाव नहीं। आहाहा! वह तो जड़ है, यह शरीर तो अजीवतत्त्व की अस्ति है, यह कहीं आत्मा नहीं। इसी प्रकार इसमें पुण्य और पाप के भाव होते हैं, वे कहीं आत्मतत्त्व नहीं, वह आस्रव-बन्ध के कारणरूप आस्रवतत्त्व है। समझ में आया?

यह आत्मतत्त्व जो वस्तु स्वयं जो चीज़, वह तो देखने-जानने के उपयोग के स्वभाव से भरपूर पदार्थ है। समझ में आया? ऐसे स्वभाव को अन्तर में साधकर जिसने पूर्ण केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रगट किया, उस जीव की अपेक्षा से निचली दशावाले को दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है। पहला सामान्य उपयोग हो देखने का, पश्चात् विशेष उपयोग बाद में होता है। ऐसा छद्मस्थ में वस्तु का स्वरूप, केवलज्ञान होने के पहले यह दशा होती है। कहो, समझ में आया? इसमें समझ में आये नहीं? केवलज्ञान होने से पहले उसका त्रिकाल कार्य जानना और देखना है। परन्तु उसका जानना-देखना, (उसमें) पहले देखना, पश्चात् जानना होता है। उसका कार्य यह स्त्री-पुत्र को सम्हालना और व्यापार करना उसका कार्य नहीं, ऐसा कहते हैं। ऐ चिमनभाई! यह मशीन चलाना, वह तो पर का कार्य है, इसी प्रकार अन्दर में पुण्य और पाप के भाव होते हैं, वह भी विकारी कार्य है, दुःखरूप कार्य है; वह आत्मा का कार्य नहीं। आत्मा, आत्मा होकर रहे, उसका वह कार्य नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

आत्मा आत्मा होकर रहे अर्थात् वह तो दर्शन और ज्ञान के उपयोग स्वभाववाला है, वैसा अनुभव करके ज्ञाता और दृष्टा के भावपने रहे, उसे आत्मा कहते हैं। ऐ पोपटभाई! क्या होगा? यह सब भाई इकट्ठे होकर धन्धा करते होंगे या नहीं? ऐ चिमनभाई! ऐई! बड़े सिरवाले सब। सिर हो बड़ा किसी को? अन्दर दर्शन और ज्ञान... आहाहा! ऐसा नियत अस्तित्व (अर्थात्) निश्चय से जिसका अस्तित्व भगवान आत्मा का। आहाहा! समझ में आया? उसमें शरीर, वाणी, कर्म और पुण्य-पाप तो नहीं, परन्तु उसमें अल्पज्ञ अवस्था और अल्पदर्शी अवस्था त्रिकाल स्वभाव में नहीं है। समझ में आया? वह त्रिकाली दर्शन-ज्ञान के अस्तित्व और सत्तावाला तत्त्व, उसका अन्तर में

अनुभव करके, उसका सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करके जो उपयोग विशेष प्रगट होता है, तो भी उसे दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, ऐसा कहते हैं।

अन्दर में एक समय में दर्शन और ज्ञान सामान्य त्रिकाल है, परन्तु सम्यग्दर्शन होकर जो उपयोग सामान्य और विशेष प्रगट हुआ... समझ में आया? यह तो अभ्यास चाहिए। इसके बिना कुछ... संसार में अभ्यास तो करते हैं न मेट्रिक के लिये। मर जाते हैं बेचारे एम.ए. और एल.एल.बी. डिग्री के लिये कितने ही... यह पढ़-पढ़कर मर गये वापस तुरन्त, लो! हैरान... हैरान, यह आत्मा क्या चीज़ है, तू कौन है, कहाँ है, क्या है—इसकी खबर बिना। स्वयं उसमें ही है कि जहाँ ज्ञान और दर्शन का स्वभाव है, वहाँ वह आत्मा है। समझ में आया? ज्ञान-दर्शन पूर्णता की बात है न! पूर्णता, अन्दर के ऐसे स्वभाव का आश्रय लेकर पूर्णता प्रगट हो। कहेंगे बाद में। समझ में आया? तो कहते हैं कि जहाँ पूर्णता नहीं, परन्तु स्वभाव की दृष्टि और ज्ञान और शान्ति (रूप) मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है, तो भी उसे उपयेाग अर्थात् कार्य जो जानने-देखने का है, उसमें पहले देखने का कार्य हो, पश्चात् जानने का हो। दो कार्य एक समय में होते नहीं।

यह क्या? यह आँख तो जड़ है। अन्दर देखने का भाव... यह तो जड़ मिट्टी है। यह कहाँ अन्दर है? आँख तो उसे स्पर्शी नहीं। आँख तो आत्मा में है ही नहीं। यह तो मिट्टी में है। आँख का अस्तित्व जड़ में है। यह किसमें अस्तित्व है? यह जड़ में अस्तित्व है, आत्मा में है यह?

मुमुक्षु : दीवार में होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : दीवार... दीवार तो जड़ है। यह (आत्मा) तो चैतन्य है। उसकी आँखें निमित्तरूप से जड़ है, जड़ है वह। आँखों का अस्तित्व जड़ का है। आँख जड़ होकर रही हुई है। आँख आत्मा होकर रही हुई नहीं। इतना भी निर्णय नहीं करे? आहाहा! कहो, समझ में आया? आँख है या यह कान है, वह तो जड़ होकर रहे हुए हैं। आत्मा के होकर रहे नहीं और आत्मा के हैं नहीं। आहाहा!

इसलिए आँख से देखने की बात यहाँ नहीं। अन्दर का जो देखने-जानने का स्वभाव जो त्रिकाल उसे (साधकर), जिसने सम्यग्दर्शन-ज्ञान द्वारा सम्यक्-उपयोग

प्रगट किया, उसका भी उपयोग में पहले दर्शन और फिर ज्ञान होता है। समझ में आया? क्योंकि पूर्णता नहीं है इसलिए। पोपटभाई! अरेरे! जगत की सब लगाई, परन्तु स्वयं कहाँ है, कैसे है, उसकी नहीं लगायी। आहाहा! कहते हैं कि **छद्मस्थों को दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है (अर्थात् पहले दर्शन और फिर ज्ञान...)** यह सम्यग्दर्शन पहला (और फिर) ज्ञान—यह बात यहाँ नहीं है। उपयोग दर्शन का पहला और फिर ज्ञान का उपयोग। **क्योंकि उनको दोनों उपयोग युगपत् नहीं होते;...** अल्पज्ञानी प्राणी को जानने-देखने का उपयोग एक क्षण में—एक समय में दो होते नहीं।

केवलीनाथ को वे दोनों युगपत् होते हैं। आहाहा! कहते हैं कि इस आत्मा को शरीर, वाणी, कर्म और राग-द्वेष तो नहीं, वे आत्मा में नहीं। परन्तु आत्मा में हुआ सम्यक्-उपयोग, वह भी एक साथ नहीं होता। ओहोहो! तो सब एक साथ आत्मा का है राग और कर्म—यह बात है नहीं। समझ में आया? जिसकी अपनी सम्पत्ति है जानना-देखना, परन्तु न्यून-अधूरा है, इसलिए उसे देखनेपूर्वक ज्ञान होता है। एक साथ दोनों उपयोग नहीं होते। उसे राग और शरीर, वाणी उसके नहीं होती। समझ में आया?

केवलीनाथ को वे दोनों युगपत् होते हैं। सर्वज्ञ परमात्मा अरिहन्तदेव, जिन्होंने अपने स्वरूप का साधन करके केवलज्ञान प्राप्त किया, उन केवलीनाथ को दोनों युगपद होते हैं। एक समय में दर्शन और ज्ञान दोनों एक साथ होते हैं। समझ में आया? यह कहने का आशय ऐसा है... जैन सम्प्रदाय में भी दो मत पड़ गये हैं। समझ में आया? यह दिगम्बर धर्म जो सनातन अनादि है, उसमें से श्वेताम्बर जब निकले, तब उन्होंने यह उपयोग के दो भंग कर दिये हैं। केवली को भी एक ही उपयोग एक समय में होता है, दो उपयोग एक समय में नहीं होते। व्यवहार, अकेले व्यवहार के माननेवाले। उन्हें यही सूझा अन्दर दृष्टि में। ३२-४५ सूत्र में यह लेख है। जिस समय केवली रत्नप्रभा या स्वर्ग को जाने, उस समय देखते नहीं, जिस समय देखते हैं, उस समय जानते नहीं। पूरा बड़ा अन्तर पड़ गया है। समझ में आया? यह तो छद्मस्थ जैसा हो गया।

परिपूर्ण तत्त्व क्या है, उसका सम्यग्दर्शन और ज्ञान नहीं और फिर ऐसे सब तर्क किये, उसके सामने यह दलील है। कुन्दकुन्दाचार्य महाराज दिगम्बर सन्त, जिन्होंने भव का किया अन्त—संसार के किनारे है। आता है न प्रवचनसार में? संसार के किनारे हैं

अब। एकदम पैर रखा मुक्ति में, इतनी देरी है। समझ में आया? भगवान कुन्दकुन्दाचार्य सर्वज्ञ की प्रणालिका जो अनादि की है, वह बात कर रहे हैं। समझ में आया? केवलीनाथ को दोनों एक साथ होते हैं। भगवान विराजते हैं महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर परमात्मा, उनके निकट कुन्दकुन्दाचार्य गये थे। आठ दिन रहे थे। २००० वर्ष पहले, संवत् ४९। कहो, समझ में आया? वहाँ से आकर (कहा कि) भगवान ऐसा फरमाते हैं। केवलज्ञानी ऐसा कहते हैं कि हमारा उपयोग केवलज्ञान और (केवल) दर्शन का एक समय में होता है। कोई एक समय में एक और दूसरे समय में दूसरा कहे, उसने हमारा पूर्ण स्वरूप है, उसे जाना नहीं। कहो, समझ में आया?

क्योंकि साध्य तो केवल (ज्ञान) है। पूर्ण ज्ञान और दर्शन साध्य है। साध्य में खण्ड पड़ा (कि) एक समय दर्शन और दूसरे समय में ज्ञान, सब विरुद्ध है। उसका साधकपना विरुद्ध है और साध्य तो उसकी विरुद्धता को पुकारता है। समझ में आया? सूक्ष्म बात, भाई! मार्ग ऐसा सूक्ष्म है। इसने कभी अपने लिये दरकार की नहीं। जरा नजदीक आओ। धूप में बैठे हो बाहर, पण्डितजी! रविवार है न आज! लड़के आये हैं न इसलिए। खिसको थोड़े-थोड़े।... समझ में आया? केवलीनाथ परमात्मा जिसे आत्मा के स्वभाव में एकाग्र होकर साधकर पूर्ण प्राप्त हुआ, उन्हें तो उपयोग एक समय में दोनों होते हैं। एक समय में दो उपयोग होते हैं। कहो, समझ में आया? दो उपयोग के लिये पहले समय पहला, दूसरे समय दूसरा—ऐसा नहीं। अब स्वयं टीकाकार चार श्लोक कहते हैं।

और (इस १६० वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज चार श्लोक कहते हैं):— २७४ कलश

वर्तेते ज्ञान-दृष्टी भगवति सततं धर्म-तीर्थाधिनाथे,
सर्वज्ञेऽस्मिन् समन्तात् युगपदसदृशे विश्वलोकैनाथे।
एतावुष्णप्रकाशौ पुनरपि जगतां लोचनं जायतेऽस्मिन्,
तेजोराशौ दिनेशे हत-निखिल-तमस्तोमके ते तथैवम्॥२७३॥

यहाँ दृष्टि ली है। पहला दर्शन और उपयोग था। **श्लोकार्थ : जो धर्मतीर्थ के अधिनाथ (नायक) हैं,...** केवलज्ञानी परमात्मा तो धर्म के नायक हैं। परमेश्वर तीर्थंकरदेव

अथवा केवली, वे तो धर्मतीर्थ के नायक हैं। **जो असदृश हैं (अर्थात् जिनके समान...** जगत में **अन्य कोई नहीं है)...** केवलीज्ञानी परमात्मा केवलदर्शी परमात्मा के जैसा जगत में कोई नहीं है। उनके जैसे वे। ऐसी दशा अरिहन्त की केवलज्ञान, केवलदर्शन की है। **और जो सकल लोक के एक नाथ हैं,...** हैं तो जाननेवाले इस सकल लोक के, परन्तु यहाँ तो नाथ कहे हैं। आहाहा! जो सर्वज्ञ को पहिचाने, उसे तो आत्मा की सम्पदा अन्तर के आश्रय से प्रगट हो और नहीं प्रगट हुई, ऐसी प्रगट करके पूर्ण प्राप्त करे। है, उसे रखे और नहीं, उसे दे। 'देव' कहा है उन्हें अष्टपाहुड़ में। 'ददाति इति देव।' यह भगवान देते हैं केवलज्ञान, केवलदर्शन, धर्म दे। वहाँ तो ऐसा भी कहा कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष (चारों ही) दे। समझ में आया? कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं कहा है।

उसे देव क्यों कहते हैं? कि पुण्य भी दे अर्थात् कि उनकी भक्ति आदि के निमित्त से पुण्य भी हो और उसके पुण्य के फल में लक्ष्मी-बक्ष्मी धूल भी मिले। यह अर्थ हुआ और काम विषयादि के (फल मिले)। और मोक्ष। चारों को बतलानेवाले और देनेवाले भगवान वीतराग हैं। भगवान हैं, इसका अर्थ क्या? उन्होंने जो मार्ग समझाया, उस प्रकार से समझा और उसे विकल्प बाकी रह गये, उसका पुण्य हो तो उन्होंने दिया, ऐसा कहा जाता है। कहो, समझ में आया? ऐसा पाठ है। समझ में आया न? भगवान दे और हम प्रयोग करें, गिरधरभाई कहते थे। यहाँ कहते थे। वे दें पैसे और हम खर्च करें। किस अपेक्षा से कहा यह? समझ में आया?

यहाँ तो सर्वज्ञ (के लिये) सूर्य का दृष्टान्त देंगे। कि सकल लोक के एक नाथ, जिन्हें केवलज्ञान परमात्मदशा प्रगट हुई, उनका जिसने लक्ष्य किया कि ऐसा केवलज्ञान उसे साधना है, ऐसे साधक को केवलज्ञानी सूर्य की भाँति नेत्र देनेवाले हैं। निमित्त से कथन है न! समझ में आया? **एक नाथ...** नाथ की व्याख्या यह है कि योगक्षेम के करनेवाले। प्राप्त को रखे और अप्राप्त को प्राप्त करा दे, उसका नाम नाथ है। यह पत्नी का पति नाथ क्यों कहलाता है? उसका नाथ कहलाता है। जो है—जो उसके पास हो, उसे जाने न दे और दूसरी चाहिए हो वह दे। यह जगत के नाथ जड़ के। यह भगवान केवलज्ञानी तीन लोक के नाथ। आहाहा! जो केवलज्ञान एक समय में ऐसा परिपूर्ण है, ऐसा जो अरिहन्त को जाने... आहाहा! ये जानने से अपने आत्मा के साथ उन्हें मिलावे

(तुलना करे), उसे सम्यग्दर्शन हुए बिना रहता नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

लो, प्रवचनसार में आता है न? **'जो जाणदि अरिहंतं दव्वत्तगुणपज्जयत्तेहिं।'** अरिहन्त की केवलज्ञान की पर्याय कैसी, वह जाने, तो इस आत्मा को जाने अन्दर कि यह भी आत्मा और ऐसा केवलज्ञान। मैं भी आत्मा तो मेरे पास केवलज्ञान क्यों नहीं? तो वह केवलज्ञान कहाँ से आया उन्हें? कि अन्दर में से। मेरे पास केवलज्ञान है। मैं अरिहन्तस्वरूप ही आत्मा हूँ। आहाहा! समझ में आया? आत्मा में अरिहन्त, सिद्धस्वरूप (आदि) पाँचों पद पड़े हैं। वह रंक नहीं, वह संसारी नहीं। आहाहा! समझ में आया? संसारी अर्थात् रागवाला वह नहीं। वह तो यह पाँच परमेष्ठी के अन्तर के पदवाला है। आहाहा! ऐसे भगवान आत्मा को जो अन्दर में जाने, अन्तर स्वरूप में सन्मुख होकर जाने, उसे सम्यग्दर्शन होता है और मिथ्यात्व का नाश होता है तथा आगे बढ़कर केवलज्ञान पाता है। इसलिए लोक का नाथ कहा गया है।

ऐसे इन सर्वज्ञ भगवान में निरन्तर सर्वतः ज्ञान और दर्शन युगपत् वर्तते हैं। वह **ज्ञान-दृष्टि** है न। ज्ञान और दृष्टि। दृष्टि का अर्थ 'दर्शन' है यहाँ। अर्थ में किया है फिर व्यवस्थित। ज्ञान और दर्शन युगपद वर्तते हैं केवली को। एक समय में पूर्ण प्रकाश दर्शन और ज्ञान। उन्हें खण्ड-खण्ड नहीं होता। समझ में आया? पहले समय में दर्शन और दूसरे समय में ज्ञान तो सादि-अनन्त नहीं रहा। वह खण्ड-खण्ड हो गया। सादि-अनन्त काल में आधा काल केवलज्ञान और आधा काल दर्शन, ऐसा हुआ। ऐसा होता नहीं। बड़ा अन्तर किया है। समझ में आया? सर्वज्ञ वीतरागी परमात्मा के अनादि सनातन (मार्ग) का बड़ा फेरफार कर दिया है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? इसलिए यहाँ कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान को निरन्तर सर्वतः (अर्थात्) चारों ओर—असंख्यप्रदेश से ज्ञान और दर्शन एक समय में वर्तते हैं। दृष्टान्त देते हैं।

जिसने समस्त तिमिरसमूह का नाश किया है, ऐसे इस तेजराशिरूप सूर्य में... सूर्य की व्याख्या है। सूर्य जहाँ आया तो समस्त अन्धकार का नाश (हुआ)। **समस्त तिमिरसमूह का नाश...** तिमिर अर्थात् अन्धकार। **ऐसे इस तेजराशिरूप सूर्य में जिस प्रकार यह उष्णता और प्रकाश...** उसमें आताप और प्रकाश था। पहले में प्रकाश और ताप था, यहाँ उष्णता और प्रकाश है। उस ताप का अर्थ यहाँ उष्णता किया है। समझ में

आया? सूर्य में जैसे एक साथ उष्णता और प्रकाश **(युगपत्) वर्तते हैं और जगत के जीवों को नेत्र प्राप्त होते हैं...** आँखें उघड़ जाती हैं, ऐसे दिखायी दे... सूर्य उगने पर आँखों में सब दिखायी देता है। **(अर्थात् सूर्य के निमित्त से जीवों के नेत्र देखने लगते हैं),** ठीक। **उसी प्रकार ज्ञान और दर्शन (युगपत्) होते हैं...** लो। भगवान को ज्ञान और दर्शन एक क्षण में—एक समय में होते हैं।

अर्थात् उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान को ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं... इतना कहा, फिर वह मिलाया। है न वह 'जगत के जीवों को नेत्र प्राप्त होते हैं।' **और सर्वज्ञ भगवान के निमित्त से जगत के जीवों को ज्ञान प्रगट होता है।** यहाँ तो (कहते हैं कि) सर्वज्ञ को जो जाने, उसे ज्ञान प्रगट हुए बिना रहता नहीं। आहाहा! समझ में आया? 'सव्वनुणं सव्वदरिसीणं...' नहीं आता? नमोत्थुणं में आता है। अरिहंताणं, भगवंताणं, आइरियाणं, तित्थयराणं, सयंसंबुद्धाणं...' सब अर्थ सूक्ष्म हैं। पहाड़े तो बोले जाये सब, परन्तु अर्थ समझे नहीं कुछ कि क्या इसका अर्थ है, समझे बिना क्या वस्तु है। यहाँ तो कहते हैं कि 'सव्वन्नुणं सव्वदरिसीणं...' सर्वज्ञ और सर्वदर्शी... आता है न? 'सिवमलयमरुयमणंतम्..' नहीं आता नमोत्थुणं में? किसे अर्थ आते होंगे? जय भगवान। 'विहुयरयमला' आता है या नहीं? लोगस्स में आता है 'विहुयरयमला'। 'एवं मये अभिथुआ विहुयरयमला' नहीं आता? अर्थ की खबर नहीं होती। पहाड़े बोलता जाये, उसे भाव की तो खबर कहाँ से होगी? आहाहा! उसे धर्म की खबर होती नहीं। कहो, पण्डितजी! आहाहा!

सर्वज्ञ भगवान के निमित्त से—परमेश्वर-त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर के निमित्त से... निमित्त का अर्थ कि जो सर्वज्ञ को जानने और उसे नैमित्तिक सर्वज्ञपद आये बिना रहता नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? जो अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने, उनका द्रव्य कैसा अर्थात् वस्तु, उनके गुण अर्थात् शक्ति, उनकी पर्याय अर्थात् अवस्था। यह केवलज्ञान केवलदर्शन एक समय में अखण्ड होते हैं। ऐसा जो एक समय में ऐसे द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने, उसका मोह नाश हुए बिना नहीं रहता। समझ में आया? इसलिए कहते हैं कि **सर्वज्ञ भगवान के निमित्त से जगत के जीवों को ज्ञान प्रगट होता है।** लो, निमित्त आया या नहीं? ऐई! परन्तु निमित्त अर्थात् क्या? तब उसे

निमित्त कहा जाता है, ऐसा कहते हैं। खोखा कुछ मिला नहीं, फिर निमित्त किसका कहना उसे? वस्तु जहाँ नहीं, फिर निमित्त कहना किसे? जिसे आत्मा... ओहो! यह तो ज्ञानस्वरूपी पूर्ण परमात्मा, ऐसा ही मैं हूँ, मैं यह ज्ञान और दर्शन से परिपूर्ण आत्मा हूँ, यह मेरी सत्ता और अस्ति है। ऐसा अन्तर में प्रसिद्ध होने से मिथ्यात्व का नाश होता है और समकित होता है। यह कहीं दया, दान, व्रत के परिणाम से समकित होता है, ऐसा है नहीं। यह राग है, ऐसा कहते हैं यहाँ। श्लोक में ही आयेगा। २७३ हुआ न। २७४ देखो!

सद्बोध-पोत-मधिरुह्य भवाम्बु-राशि-
मुल्लङ्घ्य शाश्वतपुरी सहसा त्वयाप्ता।
तामेव तेन जिन-नाथ-पथाधुनाहं,
याम्यन्यदस्ति शरणं किमिहोत्तमानाम्॥२७४॥

श्लोकार्थ : (हे जिननाथ!)... कहते हैं, हे वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव! **सद्ज्ञानरूपी नौका में आरोहण करके...** देखो, विशिष्टता! यहाँ केवलदर्शन, केवलज्ञान की व्याख्या चलती है न अखण्ड की। परन्तु कैसे प्रगट हुआ? कहते हैं, ऐसा साथ में डाला। **सद्ज्ञानरूपी नौका में आरोहण करके...** आहाहा! सम्यग्ज्ञान आत्मा का... राग से भिन्न करके और आत्मा का ज्ञान आपने किया सम्यग्दर्शन-ज्ञान, ऐसे **सद्ज्ञानरूपी नौका में आरोहण करके...** देखो, यहाँ तो भाई! वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान यहाँ नहीं कहना है। यह ज्ञानस्वरूप है न पूरा आत्मा। उसकी ज्ञान की प्रधानता से (कहा कि) ज्ञान प्रगट किया और ज्ञान में आरोहण हुए। आहाहा! पुण्य-पाप के विकल्प के व्यवहार में आरोहण हुए और मुक्ति हो, ऐसा है नहीं—ऐसा कहते हैं। आहाहा! गजब काम! जगत को तो पचाना (कठिन पड़े)। सुनने को मिला नहीं बेचारे को, क्या करे? ऐसे फँस गये हैं बाहर के क्रियाकाण्ड में। राग की क्रिया और उससे क्रम-क्रम से आगे बढ़ा जायेगा। लहसुन खाकर कस्तूरी की डकार आयेगी। ऐसी बात है जगत की।

यहाँ तो कहते हैं कि हे नाथ! आपने तो केवलज्ञान कैसे प्रगट किया? अर्थात् शाश्वतपुरी में कैसे पहुँचे? वह केवलज्ञान हुआ कहो या उस शाश्वतपुरी में पहुँचे कहो। **सद्ज्ञानरूपी नौका में आरोहण करके...** समुद्र हो, उसमें नाव चाहिए न? नाव

से पार पाया जाये न? इसी प्रकार भवसागररूपी महासागर अनादि का... ओहोहो! ८४ के अवतार नरक और निगोद और एकेन्द्रिय और दोइन्द्रिय... ऐसा बड़ा भवसागर का समुद्र उसे, प्रभु! आप ज्ञानरूपी नाव में बैठकर पार पाये। समझ में आया? निमित्त की कैसी बात की! बात चलती है केवलज्ञान, केवलदर्शन की। केवलज्ञान, केवलदर्शन पाये किस प्रकार? सत्रूपी नाव में बैठकर पाये। समझ में आया? आहाहा!

भगवान तो ज्ञानस्वरूपी प्रभु है। उसमें, पुण्य-पाप, व्यवहार दया, दान, व्रत, विकल्प, वह वस्तु में है ही नहीं। वह तो विभाव है, विकार है। उसमें बैठकर केवलज्ञान पावे, ऐसा है नहीं। वह व्यवहार कहा है न कि व्यवहार, मोक्षमार्ग है। धूल भी नहीं, सुन न! तुझे भान नहीं। सिर मँडा है न। अपवास करो, व्रत पालो, पूजा करो, भक्ति करो, दान करो, जाओ, तुम्हारा कल्याण हो जायेगा। धूल भी नहीं होगा, यहाँ कहते हैं। वह तो राग का विकल्प है। भगवान आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप चिदानन्द प्रभु, वह ज्ञान में आरूढ़ होकर अन्दर का आदर करके स्थिर होकर केवलज्ञान प्राप्त होता है। आहाहा! या सीधे? बहुत से ऐसा कहते हैं। सुन न! क्या कहा स्वयं मुनि ने? भगवान केवलज्ञान कैसे पाये, यह बात साथ में करते हैं।

सद्ज्ञानरूपी नौका में... भगवान ज्ञानमूर्ति प्रभु ज्ञान का पुंज, उसमें स्थिर हुए, उसमें गये तो सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ। सम्यग्ज्ञान के साथ दर्शन, चारित्र, वह सब ज्ञान की पर्याय है। समझ में आया? ज्ञान की अर्थात् आत्मा की पर्याय है। आहाहा! समझ में आया? हे वीतराग! स्वयं को भी भान है न कि मैं भी ज्ञान की नाव में बैठा हूँ। पुण्य-पाप की क्रियायें राग की, वह मेरी क्रिया है नहीं। समझ में आया? हे प्रभु! सद्ज्ञानरूपी सच्चा ज्ञान हों, उसरूपी नाव में आरोहण करके, मोक्ष का मार्ग वह ज्ञान है। क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसका भान हुआ, वह ज्ञान है। सम्यग्दर्शन की पर्याय, ज्ञान की पर्याय, चारित्र की पर्याय—वह सब ज्ञान की पर्याय अर्थात् आत्मा की पर्याय है। समझ में आया?

उसमें **आरोहण करके भवसागर को लाँघकर,...** आहाहा! प्रभु चौरासी लाख के अवतार को उल्लंघ गये। आहाहा! समझ में आया? तुम उल्लंघ गये, यह मुझे भान है, कहते हैं। इस प्रकार उल्लंघ गये, वह भी हमको भान है। आहाहा! समझ में आया?

लाँघकर, तू शीघ्रता से शाश्वतपुरी में पहुँच गया। आहाहा! अल्पकाल में आपने केवलज्ञान को प्राप्त किया। चिदानन्द प्रभु ज्ञानानन्द का नाथ ऐसे चिदानन्द में एकाग्र होकर, स्वसंवेदन ज्ञान प्रगट करके, ऐसी ज्ञान की क्रिया द्वारा शीघ्रता से—अल्प काल में आप केवलज्ञान को प्राप्त हुए। आहाहा! मुक्ति पाने के साधक को असंख्य समय ही होते हैं, अनन्त समय नहीं होते उसे। भटकने के लिये अनन्त समय गया, जहाँ आत्मा का सम्यग्दर्शन भान (हुआ कि) मैं अखण्ड आनन्दकन्द प्रभु हूँ, पुण्य-पाप और राग की क्रिया से भिन्न मेरी चीज़ है। ऐसा जहाँ सम्यग्दर्शन और स्वसंवेदनज्ञान हुआ, उसे केवलज्ञान प्राप्त करने में बीच में असंख्य समय का ही काल होता है, उसे अनन्त काल होता नहीं।

इसलिए कहते हैं, शीघ्रता से आप तो, अल्प काल में शाश्वतपुरी को पहुँचे। **तू शीघ्रता से पहुँच गया।** ऐसा कहा देखो? यह तो मान है। भगवान को 'तू'? भगवान! तू नाथ... आहाहा! प्रेम है इसमें। वे सेठ थे न अहमदाबाद के। कैसे? बड़े, कीरचन्द सेठ नगरसेठ थे। उनकी माँ मर गयी, फिर रोते थे। रोते हुए कहो, अरे! मुझे 'बेटा तू आया?' यह कहनेवाली अब गयी। अब मुझे तू कौन कहेगा? समझ में आया? माँ कहे न? वे बड़े सेठ थे। उनकी वाडी है न बड़ी वाडी है। ऐसा आता है... सेठ को कौन (तू कहे)? 'तुम' कहकर बड़ा राजा बुलाता है। हे बड़े! राजा उसके ठिकाने गिरवी हो गया। बेटा! उस समय... मुझे जगत में तू कहकर बुलानेवाली यह माता आज गयी है। कहो, समझ में आया?

इसी प्रकार भगवान को तू कहकर भक्त बुलाता है। हे नाथ! जिसने केवली को पहिचाना है, जिसने आत्मज्ञान द्वारा यह केवली को जाना है, उसकी यहाँ बात है। जिसने आत्मज्ञान सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, मैं चैतन्यमूर्ति भगवान नाव में बैठा हूँ, यह बात करते हैं कि तुम भी उस नाव में बैठकर शीघ्रता से शाश्वतपुरी को प्राप्त हुए। स्वयं कहते हैं अब। समझ में आया? अरिहन्त के भक्त समकिती हो, अज्ञानी भक्त नहीं हो सकते। आहाहा! राग से धर्म माननेवाले, पुण्य से धर्म माननेवाले, वे भगवान के भक्त नहीं हो सकते। समझ में आया? आहाहा! वीतरागस्वरूप परमात्मा है, ऐसा ही आत्मा का जिनराज वीतरागस्वरूप है। है स्वरूप उसमें से प्रगट किया है। यह व्यवहार दया,

दान, व्रत, भक्ति, पूजा का विकल्प है, उससे जो कोई कल्याण माने, मुक्ति माने, वह अरिहन्त का भक्त नहीं, वह राग का भक्त है। समझ में आया? वह परमेश्वर का भक्त नहीं। गजब काम भाई ऐसा।

उसमें आता है न एक? हे भगवान! अभव्य आपको नमस्कार नहीं करता। २४वें स्वयंभूस्तोत्र में। आपको नहीं नमता। क्योंकि वह तो राग से लाभ माननेवाला है, वह वीतराग को नहीं मानता। समन्तभद्र स्तुति करते हैं। जिसका विकल्प भले पुण्य का हो, परन्तु वह मेरा है और उससे लाभ माननेवाला वह वीतराग को नहीं मान सकता, वीतराग को नहीं नम सकता। बाहर से नमता है, वह राग को नमता है। आहाहा! कहो, समझ में आया? विवाह करे, तब नहीं बोलते? 'नहीं नमे रे नहीं नमे, बड़े का लड़का नहीं नमे।' महिलायें गाती थीं। कुंवरजीभाई के विवाह में, खुशालभाई के विवाह में, सुना हो सब। आता है उसमें? 'नहीं नमे रे नमे, बड़े का लड़का नहीं नमे।' इसी प्रकार धर्मात्मा ज्ञान और आनन्द में नमे हुए, वे राग को नहीं नमते, वे राग को नहीं मानते और राग को माननेवाले, वे वीतराग को नहीं नमते। समझ में आया?

यह तो बड़ी बातें हैं। परमेश्वर तीर्थंकरदेव का मार्ग कोई अलौकिक भिन्न है। जगत को सुनने को दूसरा मिला। आहाहा! कहते हैं... यह श्लोक में तो अपना और पर का दोनों स्वरूप जानकर क्या हूँ, यह भी कहते हैं। आहाहा! हे नाथ! तुम अन्तर के ज्ञानस्वरूपी भगवान में एकाग्र होकर बैठे, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की निर्मल पर्याय की, उस पर्याय द्वारा प्रभु! उसमें बैठे, वह शीघ्रता से आपने केवलज्ञान लिया। अर्थात् एक समय में ज्ञान-दर्शन उपयोग दो होते हैं, यह आपने इस प्रकार से लिया, ऐसा कहते हैं। आहाहा! उसे ... चाहिए तब केवलज्ञान पहले और केवलदर्शन बाद में—ऐसा नहीं होता।

अब मैं जिननाथ के उस मार्ग से (-जिस मार्ग से जिननाथ गये, उसी मार्ग से)... लो, अब मैं जिननाथ के उस मार्ग में... उस मार्ग में अर्थात् आनन्द, सद्बोध ज्ञानस्वरूप का ज्ञान, भगवान आत्मा का ज्ञान, भगवान आत्मा की श्रद्धा और उसकी स्थिरता—निर्विकल्पदशा, उसके द्वारा मैं भी, प्रभु! **उसी शाश्वतपुरी में जाता हूँ;...** समझ में आया? धर्मात्मा को अपने आत्मा का ज्ञान और भान होने से उन्हें भी ऐसा होता है कि मैं जिननाथ के मार्ग में ही जाता हूँ। वे गये, उस मार्ग में मैं हूँ। आहाहा!

समझ में आया? उस मार्ग में, भगवान आत्मा परम आनन्द और ज्ञान की मूर्ति प्रभु में एकाग्र होकर वीतरागपर्याय प्रगट की, उस वीतरागपर्याय के मार्ग से आपने शीघ्रता से शाश्वतपुरी ली। मैं भी उस मार्ग से जाता हूँ और **उसी शाश्वतपुरी में जाता हूँ;...** अब। अब संसार मुझे है नहीं। आहाहा! कहो, समझ में आया?

उसी शाश्वतपुरी... ऐसा, और **उसी मार्ग...** दो लिये न। मार्ग भी वही (और) शाश्वतपुरी वापस। भगवान जो केवलज्ञान को प्राप्त हुए, वह पुरी। कोई बैकुण्ठ में जाये, ढींकणे जाये, फींकणे जाये यह (बात) नहीं। समझ में आया? **उसी शाश्वतपुरी में जाता हूँ;...** प्रभु! पंचम काल के साधु और इतना अधिक निर्णय? अशक्य तो नहीं लग जाये न इसमें कहीं? ऐई! अरे! सत्य में असत्य कैसा? सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा के पंथ में जहाँ पड़ा, कहते हैं कि मैं शाश्वतपुरी में जाता हूँ। अल्पकाल में मुझे भी शाश्वतपुरी की प्राप्ति होगी। यह जिन के भक्त ऐसा कहते और मानते हैं। अज्ञानी (कहे), अभी अपने को खबर नहीं पड़ती, अपने कितने भव करना? यह करते हैं, परन्तु भगवान ने अनन्त भव देखें होंगे तो? तू भगवान का भक्त नहीं। समझ में आया? भगवान ने अपने अनन्त भव देखे होंगे तो? मूर्ख है तू, सुन ना! तूने भगवान को पहिचाना नहीं और भगवान का भक्त हुआ नहीं।

ऐई! पुरानी ७२ की बात है न हमारे। संवत् १९७२। कितने वर्ष हुए? ५६। बड़ी चर्चा चली थी सम्प्रदाय में। हमारे मूलचन्दजी थे। केवलज्ञानी ने देखा वैसा होगा, भगवान ने भव देखे, उतने (भव) तुझे होंगे। अपने कुछ... कहाँ से बोलते हो यह? ७२ के वर्ष, हों! ऐ चिमनभाई! कितने वर्ष हुए तुमको तो? ८२-८३। यह ५६ वर्ष पहले की बात है। पालियाद में। कौन बोलता है यह? ऐसी वाणी वीतराग की है यह? क्या बोलते हो? .... फिर पढ़ा था। जिसे केवलज्ञानी परमात्मा ज्ञान में बैठे कि ऐसे केवलज्ञानी होते हैं, उसका जिसे भान हुआ, उसके अनन्त भव भगवान ने देखे होते ही नहीं, उसे भव-बव होते नहीं। यह तो ५६ वर्ष पहले की बात है। आहाहा! कहो, समझ में आया?

नोंध-बोंध उसे कुछ नहीं थी। वह तो कहे, केवली ने देखा होगा, तब अपने पुरुषार्थ कर सकते हैं। एक व्यक्ति ने कहा था, तो अभी से मुँडाकर क्या बैठे हो तुम? वह रोचकावाला था न उजमशी। अहमदाबाद में मर गया न वह संथारा करके। उनका

माना हुआ। अहमदाबाद में, नहीं? .... वह एक बैठा था, मैं बैठा था। तुम ऐसा कहते थे तब, तो फिर मुँडाकर किसलिए बैठे हो? तुम कहते हो कि भगवान ने देखा, तब होगा, हमारे कुछ हाथ में है नहीं। भगवान ने देखा, ऐसा जिसे बैठे, भगवान की अस्ति जिसे बैठे... (भगवान ने देखा), फिर देखने की बात, परन्तु भगवान केवलज्ञानी केवलदर्शनी परमात्मा जगत में है, ऐसी सत्ता का जिसके अन्दर में स्वीकार हुआ, उसे सम्यग्दर्शन होता है और उसे भव-बव होते नहीं। समझ में आया? उसे कुछ ठिकाना नहीं होता। ऐसे बके, अज्ञानी बके, ऐसा बका करे पागल की भाँति। अपने धर्म करते हैं। भगवान को तो मानते हैं। भव कितने होंगे, अपने को कुछ खबर नहीं पड़ती। अनन्त। यह मूर्खों के जैसी बातें हैं। पागल जैसों की बातें हैं। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि मैं मार्ग में जाता हूँ। आहाहा! अरे! **इस लोक में उत्तम पुरुषों को (उस मार्ग के अतिरिक्त) अन्य क्या शरण है?** देखो! आहाहा! शरीर, वाणी, पैसा, धूल का कहीं शरण (नहीं)। वे तो सब जड़, मिट्टी, दुःख के निमित्त हैं। पुण्य-पाप के परिणाम, वे कहीं शरण नहीं हैं, ऐसा कहते हैं। भाव हो, पुण्य के भाव, वे शरण नहीं, वह तो राग है। **इस लोक में उत्तम पुरुषों को...** जिननाथ का मार्ग, उसके अतिरिक्त दूसरा क्या शरण होगा? आहाहा! समझ में आया? यह तो अच्छा आ गया बीच में भाई! यह वह जरा उपयोग का कठिन, सूक्ष्म पड़े। डाला ऊपर, वह कि प्रगट कैसे हो, यह डाला। आहाहा! दिगम्बर सन्तों ने तो काम... परमात्मा के मार्गानुसारी, अनन्त तीर्थंकरों के मार्ग में चलनेवाले। देखो न, कहते हैं, मैं आता हूँ तुम्हारे पास, हों! प्रभु! आहाहा! तुम तो पहुँच गये, सत्पुरी में पहुँचे, मैं आता हूँ। आहाहा! समझ में आया?

यह कौन कहता है? जिसे आत्मा का आश्रय लेकर सम्यग्ज्ञान आदि प्रगट हुए हैं, वह मार्ग में निःशंकरूप से वर्तता है, वह कहता है कि मैं उस मार्ग में, प्रभु! आप जिस मार्ग में गये, उस मार्ग में मैं हूँ, हों! और जहाँ तुम पहुँचे, वहाँ मैं जाता हूँ। इतना अन्तर है। तुम पहुँच गये और मैं जाता हूँ। कहो, समझ में आया? ऐसी निःशंकता तो सम्यग्दर्शन होने पर होती है, ऐसा कहते हैं। उसे कुछ... एक बार पूछा था, अनन्तानुबन्धी गयी, ऐसी कुछ खबर पड़ती है? वह कहे, अपने को कुछ खबर नहीं पड़ती। पूछा था

एक बार। अनन्तानुबन्धी। कहा, तुम्हारी अनन्तानुबन्धी कषाय गयी है? ऐसा पूछा एक व्यक्ति को। वह कहे, अपने को कुछ खबर नहीं पड़ती।

मुमुक्षु : परन्तु अनन्तानुबन्धी कषाय कौन है, ऐसा कहाँ.... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो ऐसे कषाय तो माने नहीं। ऐसी क्रिया करते हैं और वह क्रिया चारित्र है और उसके फलरूप से ज्ञान और दर्शन सिद्ध में रहेंगे अकेले। चारित्र नहीं रहेगा। ऐसा बोले, ऐसा माने। समझ में आया?

...भगत थे। ...खीमचन्दभाई और मलूकचन्दभाई। ...दुनिया भगत तो कहे न! आहाहा! गजब काम किया है, हों! बात तो यह चलती है कि एक समय में ज्ञान और एक समय में दर्शन, दोनों साथ में होते हैं, अखण्ड होते हैं। जिसे अखण्ड आत्मा की प्रतीति हुई, उसे उपयोग अखण्ड एक समय में दो होते हैं, ऐसा उसे भान होता है। समझ में आया? वह कहे, पहले समय ज्ञान और दूसरे समय में दर्शन... अरेरे! यह क्या कहता है तू? यह तो एक समय में। ऐसा मार्ग वीतराग ने कहा, उसे जानना। समझ में आया? उसमें कम, ज्यादा—अधिक, विपरीत कुछ नहीं चलता, ऐसा यह मार्ग है। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर शुक्ल १२, सोमवार, दिनांक-२९-११-१९७१
श्लोक-२७५-२७७, गाथा-१६१-१६२, प्रवचन-१८९

शुद्धोपयोग अधिकार चलता है। १६१ गाथा चलती है न? १६०। वहाँ ऐसा कहते हैं कि जैसे सूर्य उगता है, तब उसे प्रकाश और ताप एक साथ होते हैं, उसे प्रकार भगवान जब केवलज्ञानरूप से प्रगट होता है, तब उसे ज्ञान और दर्शन के उपयोग की पर्याय एक साथ होती है। जिसने आत्मा के अन्तर ज्ञानस्वभाव वस्तु में एकाग्र होकर केवलज्ञान प्रगट किया... यह आया है न कल? **सद्ज्ञानरूपी नाव में आरोहण करके...** वहाँ भी ऐसा बताया कि केवलज्ञान कैसे प्राप्त होता है और प्राप्त हो तो अखण्ड ऐसा का ऐसा रहा करे। केवलज्ञान और केवलदर्शन एक समय में दोनों एक साथ (होते हैं), ऐसे त्रिकाली सादि-अनन्त रहा करते हैं। जगत में त्रिकाल ऐसे आत्मायें तो हैं। समझ में आया?

अनादि के केवलज्ञानी, केवलदर्शनी हैं। लो न, अनादि के सिद्ध हैं और सिद्ध को भी केवलज्ञान, केवलदर्शन एक समय में उन्हें हैं। यदि कोई अरिहन्त के ज्ञान के भाव को पहला और दर्शन को बाद में, ऐसा कहे, तो सिद्ध अनन्त हैं, उन्हें भी ऐसा हो गया। वह अखण्डता रही नहीं। यहाँ तो आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव का साधन करके, अन्तर्मुख स्वभाव की एकता करके, जिसे केवलज्ञान, केवलदर्शन हुआ, वह पूर्ण मुक्ति को प्राप्त हुए। उसे अखण्ड ज्ञान और दर्शन का उपयोग होता है, ऐसा कहते हैं। यह बात आ गयी थी। २७५ है आज तो कलश... कलश।

एको देवः स जयति जिनः केवलज्ञानभानुः,
कामं कान्तिं वदनकमले सन्ततोऽत्येव काञ्चित्।
मुक्तेस्तस्याः सम-रस-मयानङ्ग-सौख्य-प्रदायाः,
को नालं शं दिशतु-मनिशं प्रेमभूमेः प्रियायाः ॥२७५॥

'**संतन... संतन**' (अर्थात्) चलाता है। '**संतन-उत्येव।**'

कहते हैं.... **श्लोकार्थः केवलज्ञानभानु (-केवलज्ञानरूपी प्रकाश को धारण करनेवाले सूर्य)...** आत्मा की ज्ञानदशारूपी सूर्य केवलज्ञान प्रगट हुआ अरिहन्त केवली को और सिद्धों को। वह सूर्य **ऐसे वे एक जिनदेव ही जयवन्त हैं।** कहते हैं कि केवलज्ञान हुआ, वह ऐसा का ऐसा उन्हें रहता है। एक समय में केवलज्ञान और दूसरे समय में केवलदर्शन, ऐसा नहीं—ऐसा यहाँ कहना है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरा उल्टा आया। यह केवलज्ञान की दशा में आवरण तो दोनों के टले। आवरण टले और एक समय में एक उपयोग और दूसरे समय में दूसरा। तो, आवरण को रोका, ऐसा हो उसका अर्थ। दो गुण हैं तो उनकी पर्याय भी दो होती है। आत्मा एक, उसके ज्ञान-दर्शन गुण आदि अनन्त, उसमें ज्ञान-दर्शन दो, उनकी पर्याय दो। अर्थात् एक ही उपयोग हो, ऐसा भी नहीं, दो होकर एक हो, ऐसा भी नहीं और एक पहले और दूसरा बाद में, ऐसा भी नहीं। यह तो भाई! वस्तु का स्वरूप वर्णन किया है। समझ में आया?

एक ओर कहना कि सादि-अनन्त रहे, केवलज्ञान जब से प्रगट हुआ, वह अनन्त काल रहता है। अनन्त काल कब रहे? वह की वह दशा ऐसी की ऐसी उपयोगरूप त्रिकाल सादि-अनन्त रहे। समझ में आया? तो यह केवलज्ञान, केवलदर्शन जयवन्त वर्तता है, ऐसा कहा जाता है। आचार्यों ने जरा श्वेताम्बर आम्नाय की चर्चा की है। श्वेताम्बर आम्नाय, पहले दिगम्बर सनातन जैनदर्शन था अनादि का। दो हजार वर्ष पहले बारह वर्ष का दुष्काल पड़ा, उसमें यह श्वेताम्बर धर्म निकला। स्थानकवासी तो उसके बाद फिर अभी पाँच सौ वर्ष पहले निकला। वह मूल जैनधर्म नहीं है, ऐसा सिद्ध करना है। समझ में आया?

मूल जैनधर्म अनादि का, दिगम्बर सनातन मार्ग अनादि का है। महाविदेहक्षेत्र में वह वर्त है, यहाँ भी अनादि का वही था। फिर दो हजार वर्ष पहले बारह वर्ष का दुष्काल पड़ा, उसमें आधा टुकड़ा वस्त्र का रखा और उसमें से यह नया पंथ निकला। स्थानकवासी उसमें से अभी पाँच सौ वर्ष पहले निकला। यह सनातन जैनधर्म की पद्धति नहीं है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य संवत् ४९ में दिगम्बर मुनि हुए। श्वेताम्बर पंथ

निकलने के पश्चात् सौ वर्ष में हुए। भगवान के पास गये थे। सीमन्धर परमात्मा अभी तीर्थंकरदेव विराजते हैं, उनके पास गये थे, आठ दिन रहे। आकर फिर यह शास्त्र बनाये। कहो, समझ में आया?

कहते हैं कि ओहो! केवलज्ञानभानु एक जिनदेव ही जयवन्त है। उनकी अखण्ड धारा ऐसी की ऐसी वर्तती है। समझ में आया? **वे जिनदेव समरसमय अनंग (-अशरीरी, अतीन्द्रिय) सौख्य की देनेवाली ऐसी उस मुक्ति के मुखकमल पर वास्तव में किसी अवर्णनीय कान्ति को फैलाते हैं;...** कहते हैं कि केवलज्ञान और केवलदर्शन एक समय में अखण्ड धारा से वर्तते हैं। उसे वीतरागी सुख देनेवाली मुक्ति की दशा वास्तव में अवर्णनीय शान्ति को फैलाती है। दोनों अखण्ड धारा केवलज्ञान और केवलदर्शन आनन्द को देती है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? अरिहन्त भगवान को और सिद्ध भगवान को केवलज्ञान और केवलदर्शन अखण्डधारा से वीतरागी सुख की देनेवाली मुक्ति है। वीतरागी सुख है उसमें—अखण्ड केवलज्ञान, केवलदर्शन में। खण्ड-खण्ड हो तो वीतरागी सुख के साथ पूर्ण नहीं हो सकता। कहो, समझ में आया?

(क्योंकि) कौन (अपनी) स्नेहमयी प्रिया को निरन्तर सुखोत्पत्ति का कारण नहीं होता? अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शन समय-समय में जो है, उसका किसी समय विरह पड़ता नहीं, ऐसा कहना है। वे कहे न कि केवलज्ञान पहले समय में, केवलदर्शन बाद में, तो विरुद्ध पड़ा। समझ में आया? देव का वास्तविक स्वरूप, उनका उपयोग ज्ञान-दर्शन सुखरूप है, उसकी बात है। जिसे इस प्रकार से स्वरूप की खबर नहीं, उसे देव की भी खबर नहीं। अरिहन्त कैसे होते हैं, सिद्ध कैसे होते हैं—उसकी उसे खबर नहीं। जिसे देव और गुरु की सच्ची खबर नहीं, उसे धर्म की खबर हो नहीं सकती। समझ में आया?

कहते हैं कि जिसे मुक्तिरूपी दशा... केवलज्ञान और केवलदर्शन अर्थात् मुक्त। एक समय का जिसे विरह पड़ता नहीं, ऐसा कहते हैं। '**स्नेहमयी प्रिया**' कहा न? एक समय का भी उसे विरह पड़ता नहीं। उसके सुख-उत्पत्ति का कारण कौन नहीं होगा? अखण्ड में आनन्द होता है। अखण्ड केवलज्ञान और केवलदर्शन के समय-समय में अनन्त आनन्द-सुख साथ में होता है। वीतरागी सुख होता है। यह अज्ञानियों ने जो माना

हुआ, स्त्रियों में, कीर्ति में, पैसे में, धूल में सुख माना, वह तो जहर का सुख है। समझ में आया? मूढ़ जीवों ने धर्म के स्वरूप को जाने बिना, यह पैसे में सुख है, यह माँस-हड्डियाँ चूसने में सुख है, मेरी इज्जत बड़ी हो तो सुख है। समझ में आया? स्त्री के भोग में सुख है, स्वर्ग में सुख है। ऐसा अज्ञानी मूढ़ जीव ने—जैनधर्म के स्वरूप को नहीं जाननेवाले ने—ऐसा माना है। समझ में आया? वस्तु अनन्त ज्ञान और दर्शन है, वहाँ अनन्त आनन्द है। वह वीतरागी आनन्द है, वह वीतरागी सुख है। वह वास्तविक सुख मुक्ति में है। २७५ हुआ। २७६ (कलश)।

जिनेन्द्रो मुक्तिकामिन्याः मुखपद्मे जगाम सः।
अलि-लीलां पुनः काम-मनङ्ग-सुख-मद्वयम्॥२७६॥

श्लोकार्थ : उन जिनेन्द्रदेव ने मुक्तिकामिनी के... मुक्तिरूप से उसकी परिणति—अवस्था उसके **मुखकमल के प्रति भ्रमर-लीला को...** अर्थात् उसमें लीन है, वह केवलज्ञान और केवलदर्शन में लीन है। किसी समय भी उसकी लीनता टूटती नहीं, ऐसा कहते हैं। यह १६०वीं गाथा का (श्लोक) है न यह। वास्तव में उसमें भ्रमर की भाँति लीन हुए हैं। जैसे भँवरा पुष्प में लीन होता है पुष्प की पराग लेने के लिये; उसी प्रकार भगवान अपने केवलज्ञान, केवलदर्शन के आनन्द में लीन हुए हैं। उसका उन्हें विरह और खण्ड नहीं पड़ता। इसलिए जीवों को मोक्ष को प्राप्त करना चाहिए, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

अब १६१ (गाथा)। अभी का अधिकार जरा सूक्ष्म है। क्योंकि दो आम्नाय पड़ गयी—एक दिगम्बर और एक श्वेताम्बर। यह आम्नाय नयी निकली है। यह जैन का सनातन स्वरूप नहीं। सम्प्रदायवालों को कठिन लगे। समझ में आया? परन्तु मार्ग यह है। परिवर्तन किया तो कुछ कारण होगा या नहीं? समझ में आया? स्थानवासी में से परिवर्तन किया तो कुछ कारण होगा या मुफ्त का किया होगा? मार्ग यह दूसरा है। समझ में आया? ऐई! स्थानकवासी और श्वेताम्बर मूर्तिपूजक दोनों नये पंथ हैं। जैन का सनातन पंथ नहीं। कठिन लगे, वाडावालों को कठिन लगे। ऐई! तुम्हारे काका भी पक्के चने हैं। हरिभाई के काका हैं पक्के। समझे नहीं वहाँ वह झोंका खाये हो-हा। यह तो वीतरागमार्ग तीर्थंकर केवली परमात्मा जिन्हें एक समय में अखण्ड केवलज्ञान और

अखण्ड केवलदर्शन था, उन्होंने कहा हुआ मार्ग तो यह है। समझ में आया?

यह शास्त्र में—३२-४५ (श्वेताम्बरों के) सूत्र में ऐसा आता है कि केवली जिस समय पहले (नरक के) नरक (रत्नप्रभा) को देखते हैं, उस समय उसे जानते नहीं। ऐसा पाठ आता है। यह मिलान नहीं खाया समर्थ सिद्धसेनदिवाकर को। वे श्वेताम्बर में हुए थे। मिलान नहीं खाया। ... यह तो बहुत विरुद्ध होता है। पाठ के पाठ भरे हैं ३२-४५ (सूत्रों) में। केवलज्ञानी जिस समय में रत्नप्रभा को देखते हैं, उस समय जानते नहीं और जानते हैं, उस (समय) देखते नहीं। ऐसा आता है। तथा रत्नप्रभा से लेकर मुक्तिशिला। ऐसा पाठ भगवती(सूत्र) में है। सब कल्पित बनाया है, शास्त्र ही कल्पित है, भगवान के कहे हुए नहीं। ऐ चेतनजी! यह कठिन बात भाई! आहाहा!

इसलिए यहाँ स्पष्ट करते हैं। वहाँ सिद्धसेन दिवाकर को खटका शास्त्र में लिखा है वह। एक समय में देखे और दूसरे समय में जाने, ऐसा कैसे? इसलिए लेखन किया सन्मतितर्क। देखा है या नहीं? है? है तुम्हारे यहाँ? ... होगा। उसके अन्दर है। कि इस शास्त्र में ऐसा आया है न? केवली जिस समय में देखे, उस समय में जाने नहीं। कि यह बात अन्यमति की कही हुई जानना। अन्यमति की कहाँ से जाने? यह मिलान नहीं खाया। अन्यमति की है, जैन की नहीं। परन्तु यह भगवान कहते हैं, गौतम सुनते हैं—उनकी तो बात है वहाँ। समझ में आया? बहुत अन्तर है। सम्प्रदायवालों को लगे कुछ... दोनों सम्प्रदाय में—स्थानकवासी और मन्दिरमार्गी में सनातन जैनधर्म से बहुत अन्तर है, हजारों बोलों का अन्तर है। जैनशासन से उसमें हजारों बोल का विरोध है। ऐई!

मुमुक्षु : महाराजजी! अन्यमति की कौनसी बात एक साथ होनेवाली है?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा नहीं। पाठ में ऐसा आया न कि जिस समय में देखते हैं, उस समय में जानते नहीं। तब सिद्धसेन दिवाकर हुआ नहीं सन्मतितर्क वाला? श्वेताम्बर। फिर अपने सन्मति... भाई! धवल में है सन्मति। वह यहाँ का दिगम्बर का दूसरा होगा। यहाँ सम्मत हुआ नहीं, उसे संशय पड़ा। ... एक समय में जाने-देखे। यह तो खण्ड-खण्ड होता है। पाठ तो ऐसा ही है शास्त्र में। तब उसने बात बदल डाली। यह बात अन्य की कही हुई है। अन्य में ऐसा है, ऐसा कहकर बदल डाली। खोटी बात, उसकी बात खोटी है। समझ में आया?

यह तो भाई! वीतराग सर्वज्ञ केवली एक समय में जिन्हें तीन काल—तीन लोक का ज्ञान है, उन्होंने कहा हुआ मार्ग कोई अलौकिक है। समझ में आया? आहाहा! लोगों को मिला नहीं और इस ओर तो था नहीं। मुश्किल-मुश्किल से थोड़े बहुत थे यहाँ भावनगर में, वाडारूप से, हों! तत्त्वरूप से नहीं। यह तो सनातन वीतराग परमेश्वर केवली ने कहा हुआ है। महाविदेह में भगवान यही मार्ग कहते हैं। सीमन्धर परमात्मा वर्तमान विराजते हैं। यही बात वहाँ कहते हैं। समझ में आया? वह बात यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। पक्ष जिसने किया हो, (ऐसे) सम्प्रदाय के आग्रहवाले को कठिन लगे। इस बात को यहाँ स्पष्ट करते हैं। (गाथा) १६१। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर मुनि यहाँ थे संवत् ४९ में लगभग। दो हजार वर्ष हुए। भगवान के पास गये, आठ दिन रहे, वहाँ से यह आया है। समझ में आया?

णाणं परप्पयासं दिट्ठी अप्पप्पयासया चेव।
अप्पा सपरपयासो होदि त्ति हि मण्णसे जदि हि॥१६१॥

यह दूसरी बात आयी अकेले व्यवहार को माननेवाले की। वह पहली खण्ड-खण्ड माननेवाले की बात थी। क्या कहा? केवलज्ञान एक समय में, केवलदर्शन दूसरे समय में—उसका यहाँ खण्डन किया १६० (गाथा) में। इस १६१ में (कहते हैं कि) एक ऐसा अभिप्राय है कि ज्ञान पर को जाने और दर्शन स्व को देखे। यह भी व्यवहार का एकान्त है, निश्चय ऐसा है नहीं। धवल-जयधवल में आता है उसमें। वह तो गुणभेद की... ज्ञान यह बहुत जानता है न पर को, इस अपेक्षा से परप्रकाशक कहा है और दर्शन स्व(प्रकाशक)—यहाँ उसकी बात लेते हैं।

दर्शन प्रकाशक आत्म का पर का प्रकाशक ज्ञान है।
निज पर प्रकाशक आत्मा, रे यह विरुद्ध विधान है॥१६१॥

भाई! यह तो वीतरागमार्ग है। सूक्ष्म भी विपरीत (होता) हो, वह जैनदर्शन को रास नहीं आता। समझ में आया? और यह जैनदर्शन की जो वस्तु है, इससे किसी जगह वह बात ऐसी हो नहीं सकती।

टीका : यह, आत्मा के स्व-परप्रकाशकपने सम्बन्धी विरोध कथन है। प्रथम तो, आत्मा को स्व-परप्रकाशकपना किस प्रकार है? (उस पर विचार किया जाता

है।) जिसे ऐसे निर्णय की खबर नहीं, उसे तो ऐसा लगे कि यह क्या होगा? यह दया पालो, व्रत पालो और करो अपवास। वह मन्दिरमार्गी (कहे), करो पूजा और करो यात्रा। दिगम्बर में (कहे), यह खाना, यह नहीं खाना, नग्न होना। परन्तु मार्ग—वस्तु क्या है अन्दर, उसकी खबर बिना ऐसे अनन्तबार थोथा किये। समझ में आया? सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन का ध्येय आत्मा पूर्णस्वरूप क्या है, वर्तमान पूर्ण क्या और पर्याय की पूर्णता क्या—इसके स्वरूप को जाना नहीं और फिर मिथ्यादृष्टिपने क्रियाकाण्ड किये व्रत और तप। वे सब निरर्थक गये। मोक्ष के लिये निरर्थक गये और भटकने के लिये सार्थक हुए। कठिन काम, भाई! यह तो अभी यह अधिकार आया इसलिए ... स्पष्ट तो करना चाहिए या नहीं? मावाणी! अब तो यहाँ ३७ वर्ष हुए। इस सोनगढ़ में ३७ हुए। चैत्र कृष्ण तीज को ३८ पूरे होंगे। इसलिए कुछ स्पष्ट आना चाहिए या नहीं? आहाहा!

आत्मा ज्ञानदर्शनादि विशेष गुणों से समृद्ध है;... भगवान आत्मा ज्ञान-दर्शन-आनन्दादि गुणों से समृद्धिवाला है। उसमें ज्ञान—जानना, देखना, आनन्द, असितत्व, स्वच्छता, शान्ति, वीतरागता आदि गुणों से तो भगवान आत्मा समृद्ध है। विकार और संयोग से समृद्ध नहीं। समझ में आया? यह समृद्धिवाला कहलाये न। भाई! इसे तो हाम, दाम और ठाम (है, ऐसा) नहीं कहते? हाम, दाम और ठाम यह सब ही है। धूल भी नहीं तेरे हाम, दाम और ठाम, सुन न अब! धूल की हाम कहाँ से आयी तुझे? ऐई! तुम्हारे लड़के कमाऊ बड़े। हाम, दाम और ठाम। भीखाभाई को तो एक ही है अभी। पैसे हैं, हिम्मत है, जमीन है, गोदाम, मकान। यह कहते हैं न? और दाम है (अर्थात्) पैसा है, लो। धूल भी नहीं, सुन न! वह तो पर है। तेरे कहाँ से आये वे? पर मेरे, यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। कहो, समझ में आया?

यह लड़का मेरा, यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। आहाहा! अब, हीराभाई जैसा लड़का मेरा नहीं मानना? चतुर, होशियार, नरम, शान्त। किसके लड़के परन्तु? उसका आत्मा उसके पास उसका है। उसमें इसका कहाँ से हो गया वह? अज्ञानी अनादि से पर को अपना मानकर भ्रमणा में भूले हैं। जैन के नाम धरानेवाले हों जैन, परन्तु यह पुत्र मेरे, स्त्री मेरी, पैसे मेरे, शरीर मेरा (माने तो) मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है। ऐ कपूरभाई! क्या होगा यह? तुम सब छह भाई इकट्ठे होकर काम करते हो। और मर गये दो-तीन व्यक्ति।

छह भाई की एक लकड़ी। लो। कौन भाई? कौन थे? वे सब भिन्न-भिन्न हैं। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि तेरी समृद्धि तो, आनन्द और ज्ञानादि गुणों की समृद्धि तेरी है। समझ में आया? आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा अन्दर प्रभु स्वयं भगवानस्वरूप ही है। तो भगवान की पर्याय उसमें से प्रगट होती है। कहीं बाहर से आते हैं भगवान? केवलज्ञानी अरिहन्त (दशा) वह कहीं बाहर से आती है? वह अन्दर में परमात्मस्वरूप ही आत्मा का है। आहाहा! दर्शन आदि विशेष गुण, ऐसा। देखा! विशेष गुण, ऐसा। सामान्यगुण तो अस्तित्व आदि होते हैं। यह विशेष गुणों से समर्थ है। ऐसे अनन्त गुण आत्मा में हैं। विशेष गुण, हों! जो जड़ में नहीं, ऐसे अन्दर आत्मा में अनन्त गुण हैं।

उसका ज्ञान शुद्ध आत्मा को प्रकाशित करने में असमर्थ होने से... अब सामने की दलील रखते हैं। उसका ज्ञान अपने को—आत्मा को प्रकाशित करने में असमर्थ होने से **परप्रकाशक ही है...** ऐसी दलील है एक की। ज्ञान है, वह अपने को नहीं जानता, ज्ञान पर को जानता है। समझ में आया? ऐसा कोई मानता है। **इस प्रकार निरंकुश दर्शन भी केवल अभ्यन्तर में आत्मा को प्रकाशित करता है (अर्थात् स्वप्रकाशक ही है।)** दर्शन, वह आत्मा को देखता है, ज्ञान पर को जानता है। ऐसे स्वप्रकाशक दर्शन है। दर्शन नाम का गुण, वह स्वप्रकाशक है, ज्ञानगुण परप्रकाशक है। **इस विधि से आत्मा स्व-परप्रकाशक है।** ऐसा कोई अज्ञानी कहे कि दर्शन से स्व को प्रकाशे और ज्ञान से पर को—इस प्रकार से आत्मा स्व-परप्रकाशक है।

इस प्रकार हे जड़मति प्राथमिक शिष्य! वापस लिया प्राथमिक शिष्य। इसलिए चर्चा में तो आया है, ऐसा कहते हैं। **यदि तू दर्शनशुद्धि के अभाव के कारण...** समकित के अभाव के कारण... दर्शनशुद्धि के अभव के कारण, ऐसा **मानता हो, तो वास्तव में तुझसे अन्य कोई पुरुष जड़ (मूर्ख) नहीं है।** यह तो प्रेम से उसे समझाना है या नहीं? कड़क (भाषा) बिना समझे नहीं वह। कठोर कोड़े बिना ऊंहकारा करे नहीं। साधारण लगे तो ऊं... ऊं... पड़ा रहे। कठोर अन्दर। मूर्ख! तेरे गुण—ज्ञान और दर्शन की शक्तियाँ दो, उनसे समृद्धि और उनके कार्य में तू ऐसा कहे कि ज्ञान पर को ही जानता है और दर्शन स्व को जानता है। अभेद वस्तु में गुण अभेदरूप से काम करते हैं, उसके बदले यह तूने क्या किया? कहो, समझ में आया?

ज्ञान एक समय में जाने और दर्शन दूसरे समय में देखे—उसका तो यहाँ विरोध किया। समझ में आया? यहाँ तो (जो ऐसा मानता है कि) ज्ञान पर को जाने और दर्शन स्व को देखे। मूर्ख है, कहते हैं। यह दो गुण के भेद से स्व-परप्रकाशक आत्मा को सिद्ध करे, वह जड़मति है। गजब! यह दर्शनगुण अर्थात् उपयोग की बात है, हों! समकित की यहाँ बात नहीं। **ज्ञान शुद्ध आत्मा को प्रकाशित करने में असमर्थ होने से परप्रकाशक ही है;...** ऐसा। **निरंकुश दर्शन...** अर्थात् उपयोग **केवल अभ्यन्तर में आत्मा को प्रकाशित करता है। इस विधि से आत्मा स्व-परप्रकाशक है।** गुण के भिन्न कार्य के कारण आत्मा स्व-परप्रकाशक एकरूप है। जड़मति! यह तेरी मानी हुई बात मूर्ख की है। आहाहा! गजब बात, भाई! **तुझसे अन्य कोई पुरुष जड़ (मूर्ख) नहीं है।** अब इसकी विशेष टीका करते हैं।

इसलिए अविरुद्ध ऐसी स्याद्वादविद्यारूपी देवी... भगवान ने कहा हुआ स्याद्वादस्वरूप, अनेकान्तस्वरूप... तीर्थंकरदेव केवलज्ञानी परमात्मा ने कहा हुआ अनेकान्तस्वरूप, ऐसी देवी, वह **सज्जनों द्वारा सम्यक् प्रकार से निरन्तर आराधना करने योग्य है।** भगवान ने कहा हुआ वह अनेकान्तस्वरूप, उसे सेवनयोग्य है। एकान्त तू ऐसा मानता है कि दर्शन स्व को देखता है, ज्ञान पर को जानता है। यह तेरी बात एकान्त है। समझ में आया? भाई! कौन निवृत्त हो इसमें—ऐसा निर्णय करने में? व्रत-तप करो, अपवास करो और मर जाओ। मर गया अनन्त बार कर-करके, सुन न! आत्मा क्या चीज़ है और उसके गुणों का एक समय में दो कार्य और एक समय में दोनों स्व-परप्रकाशक। ज्ञान भी स्व-परप्रकाशक, दर्शन भी स्व-परप्रकाशक और आत्मा भी स्व-परप्रकाशक।—तीनों ही स्व-परप्रकाशक हैं, ऐसा न मानकर दर्शन स्व को प्रकाशित करता है, ज्ञान पर को प्रकाशित करता है और आत्मा स्व-परप्रकाशक है। आहाहा! ऐसा भेद भी अन्दर पोसाता नहीं।

मुमुक्षु : शास्त्र में आता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : आता है, वह अपेक्षा से आता है। आता है न धवल में। पहले पृष्ठ ही यह आये थे ९० में। ऐसे आनेवाला है। यह तो ज्ञान का भाव बहुत पर को जानता है, इस अपेक्षा से परप्रकाशक अपेक्षित कहा। समझ में आया? गुण की भिन्नता के सामर्थ्य को बतलाने के लिये ऐसी बात की है। वस्तु ऐसी नहीं है। अभेददृष्टि में तो

यह है। कहो, समझ में आया? पहला पत्र आया था। तुम्हारे प्रति आया था न कुछ, नहीं? मेरे ऊपर आया था। (संवत्) १९९० के वर्ष। जयधवल, धवल प्रकाशित होनेवाला है। उसमें यह अधिकार आयेगा। ९० के वर्ष, सदर, राजकोट। पढ़े थे पृष्ठ... बराबर था।

यहाँ कहते हैं कि स्याद्वादविद्या—जो स्याद्वाद का ज्ञान, उसे आराधनेवाले जीवों को सम्यक् प्रकार से मानना। **वहाँ (स्याद्वादमत में), एकान्त से ज्ञान को परप्रकाशकपना ही नहीं है;...** भगवान के ज्ञान में, एकान्त से ज्ञान पर को जाने—ऐसा नहीं है। **स्याद्वादमत में दर्शन भी केवल शुद्धात्मा को ही नहीं देखता...** अकेले आत्मा को देखे दर्शन-उपयोग, ऐसा नहीं है। **(अर्थात् मात्र स्वप्रकाशक ही नहीं है)।** कौन? दर्शन। **आत्मा दर्शन, ज्ञान आदि अनेक धर्मों का आधार है।** भगवान आत्मा वस्तु जो आत्मा है, वह तो दर्शन-ज्ञान (आदि) अनन्त गुण का आधार है। **अनेक धर्मों का आधार है। (वहाँ) व्यवहारपक्ष से भी ज्ञान केवल परप्रकाशक हो...** व्यवहारपक्ष से भी ज्ञान यदि मात्र पर को ही जाने, तो **सदा बाह्यस्थितपने के कारण,...** ज्ञान तो बाहर में रह गया। **(ज्ञान को) आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं रहेगा...** न्याय का विषय जरा सूक्ष्म है।

और (इसलिए) आत्मप्रतिपत्ति के अभाव के कारण... क्योंकि वह ज्ञान तो बाहर में गया, स्थित हुआ। आत्मा को जाना ही नहीं। जिसका गुण, उसे जाना नहीं (और) पर को जाना। ऐसा अधिकार आता है, हों! दिगम्बर शास्त्रों में। श्वेताम्बर में तो यह बात है ही नहीं। श्वेताम्बर की बात पहले सिद्ध की। व्यवहार को उड़ाकर निश्चय सिद्ध करते हैं। माननेवाले हैं न, मान बैठते हैं न वे। व्यवहार हो तो ऐसा ही होता है। अब वह तो व्यवहार से बात की है, परमार्थ से ऐसा है नहीं। शास्त्र में बहुत कथन आते हैं। आते हैं न? आवे न, समझाना हो तो क्या करे? कहो! कहते हैं कि ज्ञान यदि पर को ही जाने तो बाह्यस्थितपने के कारण आत्मा के साथ सम्बन्ध रहा नहीं और आत्मा की प्रतिपत्ति का अभाव होने से, प्रतिपत्ति अर्थात् ज्ञान, उसके अभाव के कारण **सर्वगतपना (भी) नहीं बनेगा।** लो, तो ज्ञान सर्वगतपने सबको जाने, यह तो रहा नहीं। आहाहा!

इस कारण से, यह ज्ञान होगा ही नहीं (अर्थात् ज्ञान का अस्तित्व ही नहीं होगा),... यह ज्ञान का अस्तित्व रहे नहीं इस प्रकार से। पूरा भगवान आत्मा न जाने, तब सर्वगत कहाँ से रहा? सर्व को जानना, ऐसा तो रहा नहीं। अकेला बाह्य पदार्थ को

जाननेवाला रहा। पूरा पदार्थ महाप्रभु वह स्वयं अनन्त गुण का पिण्ड है, उसे तो ज्ञान ने देखा नहीं। समझ में आया? उस बार (यह अधिकार) नहीं पढ़ा था, छोड़ दिया था। यहाँ तो पहले से अन्त तक पूरा करना है न! यह ज्ञान, अस्ति से ज्ञान ही नहीं कहलाता। जो ज्ञान, भगवान आत्मा को उसका ज्ञान उसे न जाने, जाननेवाला, उसे न जाने, आहाहा! वह ज्ञान ही नहीं कहलाता। **मृगतृष्णा के जल की भाँति आभासमात्र ही होगा।** मृगजल का पानी देखनेमात्र है, उसी प्रकार ज्ञान अपने को न जाने, वह ज्ञान दिखावमात्र आभास है। वह सच्चा ज्ञान नहीं।

इसी प्रकार दर्शनपक्ष से भी, दर्शन केवल अभ्यन्तरप्रतिपत्ति का ही कारण नहीं है,... दर्शन उपयोग, वह कहीं अकेले अन्तर के ज्ञान का कारण नहीं। अन्तरंग का ज्ञान—स्व को जानना, वही है, ऐसा नहीं। वह तो **(सर्व प्रकाशन का कारण है);...** दर्शन भी। **(क्योंकि) चक्षु सदैव सर्व को देखता है,...** दृष्टान्त देते हैं। आँख तो सदा ही सर्व को देखती है। **अपने अभ्यन्तर में स्थित कनीनिका को नहीं देखता (इसलिए चक्षु की बात से ऐसा समझ में आता है कि दर्शन अभ्यन्तर को देखे और बाह्यस्थित पदार्थों को न देखे, ऐसा कोई नियम घटित नहीं होता)।... चक्षु सदैव सर्व को देखता है, अपने अभ्यन्तर में स्थित कनीनिका को नहीं...** ऐसा कोई कहे, इसलिए ऐसा ज्ञात होता है... तो चक्षु की बात से ऐसा समझ में आता है कि दर्शन अभ्यन्तर को देखता है.... सिद्ध यह करना है न! दर्शन अनन्त **बाह्यस्थित पदार्थों को न देखे, ऐसा कोई नियम घटित नहीं होता।**

इससे, ज्ञान और दर्शन को (दोनों को) स्व-परप्रकाशकपना अविरुद्ध ही है। लो! ज्ञान भी स्व-पर को प्रकाशित करता है और दर्शन भी स्व-पर को प्रकाशित करता है—ऐसा ही उसका स्वभाव है। जरा सूक्ष्म बात है यह। धर्म की बात बहुत सूक्ष्म चर्चित की जाए तब तो सब आवे न! यह तो वीतरागमार्ग है। यह कहीं कल्पित मार्ग नहीं। ऐसा होना चाहिए और ऐसा होगा—ऐसा नहीं है। ऐसा ही है। ऐसे मार्ग में सब निर्णय होना चाहिए। चाहे जितना सुने (ऐसा) चले? अभेद सिद्ध करना है... आहाहा! ज्ञान-दर्शन को स्व-परप्रकाशकपना बराबर यथार्थ है, ऐसा कहते हैं।

इसलिए (इस प्रकार) ज्ञानदर्शनलक्षणवाला आत्मा स्व-परप्रकाशक है। इस

प्रकार आत्मा स्व-परप्रकाशक है। ज्ञान भी स्व को और पर को जानता है, दर्शन भी स्व को और पर को देखता है और आत्मा भी स्व-पर को देखता है। दर्शन स्व को देखे, ज्ञान पर को देखे और आत्मा स्व-परप्रकाशक—ऐसा नहीं है। कठिन बात, भाई! यह तो अभ्यन्तर देखना सिद्ध किया आँख के लिये। दर्शन अभ्यन्तर देखे और बाह्य पर को न देखे, ऐसा कोई नियम नहीं है। यह तो दिखता है। दृष्टान्त है। यह सूक्ष्म पड़ेगा।

इसी प्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री प्रवचनसार की टीका में चौथे श्लोक द्वारा) कहा है कि:—लो, अब आया।

जानन्नप्येष विश्वं युगपदपि भवद्भावि-भूतं समस्तं,
मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा।
तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीत-
ज्ञेयाकारां त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः॥

यह तो प्रवचनसार का श्लोक है। आधार देते हैं। **श्लोकार्थः— जिसने कर्मों को छेद डाला है,...** भगवान परमात्मा अरिहन्तदेव केवलज्ञानी ने कर्मों को छेद डाला है। **ऐसा यह आत्मा भूत, वर्तमान और भावी समस्त विश्व को (अर्थात् तीनों काल की पर्यायों सहित समस्त पदार्थों को) युगपत् जानता होने पर भी...** भगवान का केवलज्ञान एक समय में तीन काल-तीन लोक को जानता होने पर भी, **मोह के अभाव के कारण पररूप से परिणमित नहीं होता,...** आहाहा! क्या कहते हैं? कि भगवान के ज्ञान में तीन काल-तीन लोक ज्ञात होते हैं, परन्तु तो भी वह पररूप नहीं होता। वह नारकी को जाने, इसलिए नारकीरूप हो, स्वर्ग को जाने, इसलिए स्वर्गरूप हो—ऐसा नहीं है। अपनेरूप से रहकर जानता है, पररूप होता नहीं। आहाहा! क्या कहते हैं? **(तीनों काल की पर्यायोंसहित समस्त पदार्थों को) युगपत् जानता होने पर भी** एकसाथ सब जानने पर भी, मोह के अभाव से पररूप परिणमता नहीं। समझ में आया?

ज्ञान तो पर और स्व को जानता हुआ अपनेरूप परिणमता है। पररूप परिणमता है? **इसलिए अब, जिसके समस्त ज्ञेयाकारों को अत्यन्त विकसित ज्ञप्ति के विस्तार द्वारा स्वयं पी गया है,...** कहते हैं। आहाहा! समस्त ज्ञेयाकार—जितने लोकालोक में ज्ञेय हैं जाननेयोग्य... **अत्यन्त विकसित ज्ञप्ति के विस्तार...** जाननक्रिया, लो आयी ज्ञप्ति।

जाननक्रिया के विस्तार द्वारा भगवान का ज्ञान लोकालोक को पी गया है, लो। लोकालोक को नहीं। समझ में आया? **विस्तार द्वारा स्वयं पी गया है, ऐसे तीनों लोक के पदार्थों को पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ...** जड़, वह जड़; चैतन्य, वह चैतन्य। छह द्रव्य भगवान ने देखे हैं न? पृथक् और अपृथक्... एक साथ सब जाने और पृथक्—भिन्न-भिन्न भी जाने। आहाहा! **वह ज्ञानमूर्ति मुक्त ही रहता है।** पररूप होगा नहीं। समझ में आया?

देखो! यह भगवान ज्ञान का स्वभाव। नीचे भी ज्ञान का स्वभाव जानने का ही स्वभाव है, ऐसा कहते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव-धर्मी पहली श्रेणी का, वह भी राग और शरीर को जानने पर भी, वह ज्ञान राग और शरीररूप नहीं होता। समझ में आया? इसी प्रकार भगवान का पूर्ण ज्ञान पूर्ण को—सब द्रव्य-गुण-पर्याय तीन काल, तीन लोक को—जाने... लो, इसमें तो तीन काल के पर्याय सहित जाने, ऐसा कहा है। सब। पृथक्—भिन्न-भिन्न भी जाने और अपृथक् भी जाने। सब है, ऐसा जाने एक साथ। सब है, उसे एक साथ जाने। भिन्न-भिन्न भी जाने और सब है, ऐसा एक साथ जाने।

मुमुक्षु : ज्ञेयों को ज्ञेय अनुसार...

पूज्य गुरुदेवश्री : .... कुछ मिला नहीं। यहाँ तो अपृथक् अर्थात् जैसा सब है, भिन्न-भिन्न नहीं, अस्तिपने है न सब। है, उस प्रमाण जाने। जड़-चैतन्य भिन्न है, गुण-पर्याय भिन्न है, ऐसा जाने, वह पृथक् में गया। अपृथक् में सब एक साथ जाने। दर्शन में एक साथ जाने, ज्ञान में पृथक्-पृथक् जाने। एक साथ.... ऐसा, दो भिन्न है नहीं। **वह ज्ञानमूर्ति मुक्त ही रहता है।** लो! समझ में आया? ज्ञानमूर्ति कहा न आत्मा! यह प्रवचनसार का श्लोक है।

सब (एक साथ) देखने पर भी देखे बिना रहा नहीं और सब जानने पर भी भिन्न-भिन्न होता है, उसे भी वह जानता है। एक-एक पर्याय भिन्न-भिन्न, एक-एक गुण भिन्न, एक-एक चैतन्यद्रव्य आदि सबको जाने। भिन्न-भिन्न जाने और अभिन्न भी जाने—ऐसा ही उसका स्वभाव है। ऐसा यहाँ नीचे (के गुणस्थान में) भी सम्यग्दृष्टि धर्मी वह सब जाने, सामान्य रीति से भी जाने और देखे, विशेष रीति से भी (जाने)। सामान्य रीति से जानता है कि यह सब है। विशेष रीति से राग भिन्न, शरीर भिन्न, ज्ञान भिन्न, यह

सब जानता है। ऐसा स्वभाव है। पूर्ण में पूर्ण, नीचे में अपूर्ण। स्वभाव तो ऐसा ही है।

और (इस १६१वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):— स्वयं कहते हैं। वह तो आधार का था।

ज्ञानं तावत् सहज-परमात्मान-मेकं विदित्वा,
लोकालोकौ प्रकटयति वा तद्वतं ज्ञेयजालम्।
दृष्टिः साक्षात् स्वपरविषया क्षायिकी नित्यशुद्धा,
ताभ्यां देवः स्व-पर-विषयं बोधति ज्ञेय-राशिम्॥२७७॥

श्लोकार्थः—ज्ञान एक सहजपरमात्मा को जानकर लोकालोक को अर्थात् लोकालोकसम्बन्धी (समस्त) ज्ञेयसमूह को प्रगट करता है (-जानता है)। ज्ञान अपने को भी जानता है एक सहज परमात्मस्वरूप अपना। स्वयं परमात्मा है, ऐसा कहते हैं। आहा! उसका स्वभाव परमात्मस्वरूप ही है। पूर्ण स्वरूप है, ऐसा ज्ञान जाने और लोकालोक को—ज्ञेयसमूह को प्रगट करे—जाने। प्रगट करे अर्थात्? लो, पाठ तो ऐसा है कि **ज्ञेयसमूह को प्रगट करता है।** (अर्थात्) ज्ञेयसमूह है, ऐसा जानता है। अपने को जानता है, अपने को भिन्न है, ऐसा जानता है, यह सब है, ऐसा भी जानता है। आहाहा! उसका स्वभाव जानना-देखना है और वह भी अखण्ड धारा से, ऐसा सिद्ध करना है। समझ में आया?

पुण्य-पाप के भाव (होते हैं) उन्हें जाने, परन्तु उसरूप से परिणमे नहीं। आहाहा! नीचे भी रागादि हो, उन्हें धर्मी जानता है, परन्तु रागरूप होता नहीं। केवली लोकालोक को जानते हैं, परन्तु लोकालोकरूप होते नहीं। आहाहा! समझ में आया? **नित्यशुद्ध ऐसा क्षायिक दर्शन (भी) साक्षात् स्व-परविषयक है (अर्थात् वह भी स्व-पर को साक्षात् प्रकाशित करता है)।** दर्शन (मात्र) स्व को ही देखता है, ऐसा नहीं है। नित्य शुद्ध ऐसा क्षायिक दर्शन भी स्व-परविषयक है, वह भी स्व-पर को साक्षात् प्रकाशित करता है। आया न, ज्ञान में भी दोनों आये। एक सहज परमात्मा को जानता है और लोकालोक को जानता है—दोनों आये। यहाँ दर्शन में स्व को जाने, पर को जाने—दोनों आये। आहाहा! उसका स्वभाव सिद्ध करते हैं। मुफ्त की वाक्-जाल नहीं है। समझ में आया?

उन दोनों (ज्ञान तथा दर्शन) द्वारा आत्मदेव स्व-परसम्बन्धी ज्ञेयराशि को जानता है... तीनों ले लिये। तीनों स्व-परप्रकाशक ले लिये। क्या कहा? शिष्य का (कहना) ऐसा था कि ज्ञान पर को जाने, दर्शन स्व को जाने, आत्मा स्व-पर को जाने। (परन्तु) ऐसा नहीं है। ज्ञान भी स्व को जानते हुए लोकालोक को जानता है, दर्शन भी स्व को जानते हुए पर को भी देखता है, तो भगवान आत्मा भी स्व-पर को देखता है। तीनों स्व-परप्रकाशक हुए। पर का कर्ता-हर्ता नहीं यह। पररूप परिणमनेरूप नहीं रहे, परन्तु स्व-पर को दर्शन-ज्ञान देखते-जानते हैं और आत्मा भी स्व-पर को जानता-देखता है, ऐसा उसका स्वरूप है। कहो, समझ में आया? नये लोगों को एकदम विषय जरा कठिन पड़े। और यह क्या? कभी सुना न हो। दर्शन स्व को देखता है, ज्ञान पर को जानता है....

मुमुक्षु : धर्म करने लगो न। ऐसा समझने की क्या आवश्यकता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म कहाँ से होता होगा? आत्मा का स्वभाव क्या है, धर्म करनेवाला कौन है—यह जाने बिना कल्याण कहाँ से होता था? अपने था न, नहीं? सूरत का। सूरत का चौका। कल्याण के करनेवाले को जाने बिना आत्मा का कल्याण होगा कैसे? कल्याण करनेवाला कौन है?

मुमुक्षु : ज्ञान तो जानता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान जानता है।

मुमुक्षु : पर को जानता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान अपने को जानता है, ऐसा सिद्ध करना है, ऐसा कहते हैं यहाँ तो। ज्ञान अपने को जाने नहीं और पर को जाने अकेला? ज्ञान अपने को जाने कि यह शुद्ध चैतन्यमूर्ति आनन्द हूँ, ऐसा। समझ में आया?

लोगों ने वास्तविक तत्त्व को पहिचाने बिना बाह्य के क्रियाकाण्ड में धर्म को रच दिया है और बेचारे कभी ऊँचे आवे नहीं और उनके जन्म-मरण टले नहीं। आहाहा! ऐसी वस्तु है। यह तो परमात्मा केवलज्ञानी तीर्थंकर सर्वज्ञ का पंथ है, भाई! यह कोई दो-चार, पच्चीस-पचास, लाख-दो लाख लोग माने (तो सच्चा)—ऐसा नहीं है। यह

तीन काल, तीन लोक के जाननेवाले परमात्मा का मार्ग है। जिन्हें इन्द्र स्वीकार करते हैं, गणधर अनुभव करते हैं... समझ में आया? चारित्रसहित, यह उसमें आता है। यह सिद्ध करके गुण की पर्याय... गुण अभेद है तो पर्याय अभेद है, (इसलिए) सब अभेद को जाने और भेद को भी जाने, ऐसा उसका स्वरूप है। एक गुण एक को ही जाने, पर को ज्ञान (जाने) और स्व को न जाने, वह तो अन्धा ज्ञान हुआ। स्व को नहीं जाना तो हो गया। दर्शन स्व को देखे और पर को न देखे, वह दर्शन... पर में देखने का आया नहीं।

ज्ञान ने पर को देखा, दर्शन पर को देखता नहीं (तो) दो गुण भिन्न पड़ गये। दो गुण में दिक्कत उठी। समझ में आया? ऐसा सूक्ष्म है जरा... यह सिद्ध किया कि स्वभाव ही ऐसा है। ज्ञान-दर्शन आदि समृद्धिवाला भगवान स्वयं है। कुछ पुण्य-पाप के परिणाम की समृद्धिवाला नहीं, कर्म और बाहर की सामग्रीवाला नहीं। उससे तो रहित ही है। परन्तु अन्तर ज्ञानगुण आदि से समृद्ध है। उस गुण का कार्य ज्ञान का स्व-परप्रकाशक, दर्शन का स्व-परप्रकाशक, तो आत्मा का स्व-परप्रकाशक। क्योंकि अभेदपने रहे हैं, उनके कार्य भिन्न-भिन्न हों, ऐसा नहीं हो सकता। यह बात वहाँ नहीं श्वेताम्बर में ऐसी बात। बात यहाँ ऐसी है, ज्ञान स्व-पर को देखे (जाने) और दर्शन स्व-पर को देखे-जाने। **(अर्थात् आत्मदेव स्व-पर समस्त प्रकाश्य**—प्रकाशनेयोग्य **पदार्थों को प्रकाशित करता है)।** लो, यह इसका योगफल आया। सबको प्रकाशित करता है। विशेष स्पष्ट करते हैं। १६१ हुई न! यदि ऐसा हो तो दो भिन्न पड़ जाते हैं, ऐसा सिद्ध करते हैं।

णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णं।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा॥१६२॥

पर ही प्रकाशे ज्ञान तो हो ज्ञान से दृग् भिन्न रे।
'परद्रव्यगत नहीं दर्श!' वर्णित पूर्व तब मंतव्य रे॥१६२॥

लो, गत आया। '**परदव्वगयं**' पाठ में है न? '**परदव्वगयं**' देखा! लो, आत्मगत।

टीका : यह, पूर्ण सूत्र में (१६१वीं गाथा में) कहे हुए पूर्व पक्ष के सिद्धान्त सम्बन्धी कथन है। यदि ज्ञान केवल परप्रकाशक हो.... आत्मा का ज्ञान पर को ही

प्रकाशित करे **तो इस परप्रकाशनप्रधान (परप्रकाशक) ज्ञान से दर्शन भिन्न ही सिद्ध होगा;...** क्योंकि दर्शन परप्रकाशक है नहीं। तेरे मत में ऐसा माना कि दर्शन परप्रकाशक नहीं। ज्ञान परप्रकाशक और दर्शन स्वप्रकाशक है। तो परप्रकाशक प्रधान ऐसे ज्ञान से तो दर्शन भिन्न रह जाता है। क्योंकि दर्शन परप्रकाशक नहीं है। यह बात तेरी मिथ्या सिद्ध होती है। सह्याचल और विंध्याचल की भाँति। एक पर्वत यहाँ और एक पर्वत यहाँ— भिन्न-भिन्न ऐसा। अथवा गंगा और श्रीपर्वत की भाँति। गंगा नदी और पर्वत—दोनों भिन्न।

परप्रकाशक ज्ञान को और आत्मप्रकाशक दर्शन को सम्बन्ध किस प्रकार होगा ? दो भिन्न नदी के पानी को मेल किस प्रकार हो ? दो पर्वत भिन्न उन्हें... ? इसी प्रकार दर्शन स्व को प्रकाशित करता है और ज्ञान पर को प्रकाशित करे तो ज्ञान और दर्शन दो भिन्न सिद्ध हुए। परप्रकाशक ज्ञान को और आत्मप्रकाशक दर्शन को सम्बन्ध किस प्रकार हो ? ज्ञान परप्रकाशक कहो, दर्शन स्व को प्रकाशित (करता है) कहो, तो आत्मा के साथ दोनों का अभेद सम्बन्ध किस प्रकार रहे ? समझ में आया ? एक आत्मा में दो गुण रहे और एक गुण पर को प्रकाशित करे और एक गुण स्व को—वे गुण भिन्न हो गये। समझ में आया ? दोनों गुण को सम्बन्ध नहीं रहा, ऐसा कहते हैं। ज्ञान और दर्शन का सम्बन्ध (नहीं रहा)। दर्शन स्व को देखे, ज्ञान पर को, (तो) दो को सम्बन्ध तो रहा नहीं। ज्ञान पर में भटके और दर्शन स्व में रहे। सूक्ष्म बात है।

जो आत्मनिष्ठ (-आत्मा में स्थित है, वह तो दर्शन ही है।) तू तो कहता है कि दर्शन तो आत्मा में रहा हुआ है, ज्ञान पर को जानता है। **और उस ज्ञान को तो, निराधारपने के कारण...** लो, आया पहला। **(आत्मारूपी आधार न रहने से),...** क्योंकि ज्ञान तो पर को जाने, (तो) ज्ञान को आधार आत्मा का रहा नहीं। **शून्यता की आपत्ति ही आयेगी;...** (परन्तु) ऐसा है नहीं। ज्ञान भी स्व-पर को जाने और दर्शन भी स्व-पर को देखे और आत्मा भी स्व-परप्रकाश, यह बात यहाँ सिद्ध की।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर शुक्ल १३, मंगलवार, दिनांक-३०-११-१९७१
गाथा-१६२-१६४, श्लोक-२७८-२७९, प्रवचन-१९०

नियमसार, शुद्धोपयोग अधिकार। वहाँ यह बात पहली गाथा में ली है कि यह आत्मा है, उसका जो केवलज्ञान होता है और केवलदर्शन होता है—वे एक समय में दोनों उपयोग होते हैं। यह गाथा तो एक ही ली। यह अधिक तो ऐसी ली। ज्ञान परप्रकाशक और दर्शन स्वप्रकाशक, इसके स्पष्टीकरण में गाथा ... ली। मूल पाठ में है यह तो। व्यवहार है, वह व्यवहार से बराबर है, परन्तु निश्चय से यह हो तो वह व्यवहार बराबर है। निश्चयरहित अकेला व्यवहार तो... ऐसा सिद्ध करते हैं। इतनी गाथा यहाँ है, उसमें से तो एक ही गाथा आयी। '**जुगवं वट्टइ णाणं**' आत्मा का अपना अन्तरस्वभाव तो ज्ञान, दर्शन, आनन्द है। उसका अन्तर में साधन करके, स्वभाव की एकता के साधन द्वारा... वह भी आ जायेगा इसमें कि ज्ञानभाव की आराधना ज्ञान के अन्दर से... चैतन्यस्वभाव-ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होकर और जो निर्विकल्प ज्ञान की क्रिया प्रगट हो, वह मोक्ष का मार्ग, उससे केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रगट होता है। इसलिए वहाँ केवलज्ञान, केवलदर्शन का उपयोग एक के बाद एक होता है, यह बात विरुद्ध है। क्योंकि ज्ञान और दर्शन दो गुण हैं, इसलिए उनकी पर्याय भी दो है। समझ में आया?

श्वेताम्बर में उसे भिन्न लेते हैं। एक समय में उपयोग ज्ञान का और दूसरे समय में दर्शन का। ऐसा नहीं हो सकता। उसमें बहुत विरोध आता है। इसलिए यह बात एक गाथा से शुरु की, पश्चात् यह गाथा ली। यदि तुम ऐसा कहो कि ज्ञान पर को ही जानता है और दर्शन स्व को ही देखता है, तो भी विरोध आता है। पहला दृष्टान्त दिया था न कल आँख का? आँख का। आँख है, वह पर को ही देखे, कीकी को नहीं देखती। इसलिए देखने के सिद्धान्त में ऐसा ही लो कि देखे एक को और दूसरे को न देखे—ऐसा नियम सिद्ध नहीं होता। आँख तो पर को देखे और कीकी को नहीं देखती। इसलिए दर्शन स्व को देखे और पर को नहीं देखे, ऐसा नियम सिद्ध नहीं होता। समझ में आया?

लो, ऐसी बात चर्चित करनी पड़ी कुन्दकुन्दाचार्य को। एकान्त व्यवहार से माननेवाले होते हैं, उनके सामने उनकी दलील है। निश्चय से आत्मा ज्ञान से पर को ही जाने, तो भी बाधा आती है। १६२ में आया न!

टीका : यह, पूर्ण सूत्र में (१६१वीं गाथा में) कहे हुए पूर्व पक्ष के सिद्धान्त सम्बन्धी कथन है। (गाथा) १६२। **यदि ज्ञान केवल परप्रकाशक हो...** ज्ञान अकेला पर को ही जाने **तो इस परप्रकाशनप्रधान...** वह परप्रकाशन मुख्य हुआ। **ज्ञान से दर्शन भिन्न ही सिद्ध होगा;...** ज्ञान पर को प्रकाशित करे और दर्शन स्व को प्रकाशित करे। दो भिन्न हुए, दो अभिन्न रहे नहीं। गुण की अभिन्नता नहीं रही। यह तो सूक्ष्म बात है न थोड़ी। क्योंकि **सह्याचल और विंध्याचल की भाँति...** एक पर्वत पूर्व का, एक पर्वत पश्चिम का अथवा गंगा और श्रीपर्वत... गंगा नदी और पर्वत भिन्न हैं। उनकी भाँति ज्ञान पर को जाने और दर्शन स्व को देखे तो दो भिन्न चीज़ हो गयी। गुण ही भिन्न हो गये। समझ में आया?

परप्रकाशक ज्ञान को और आत्मप्रकाशक दर्शन को सम्बन्ध किस प्रकार होगा? एक पर्वत और दूसरे पर्वत का जैसे नियत सम्बन्ध नहीं, ऐसा... आहाहा! अनतर गुण और गुणी अभेद है, गुण भी अभेद है, ऐसा सिद्ध करना है। समझ में आया? गुण ज्ञान-दर्शन, वह आत्मा से अभिन्न है तथा ज्ञान और दर्शन गुण गुणी से भी अभिन्न है, ऐसा सिद्ध करना है। कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न—यह कहेंगे। **परप्रकाशक ज्ञान को और आत्मप्रकाशक दर्शन को सम्बन्ध किस प्रकार होगा? जो आत्मनिष्ठ (आत्मा में स्थित है, वह तो दर्शन ही है।) और उस ज्ञान को तो, निराधारपने के कारण (अर्थात् आत्मारूपी आधार न रहने से),...** ज्ञान तो पर को जाने, इसलिए उसे आत्मा का आधार रहा नहीं। उसे तो जानता ही नहीं। आत्मारूपी आधार नहीं रहने से **शून्यता की आपत्ति ही आयेगी;...** ज्ञान की शून्यता हो जायेगी।

अथवा तो जहाँ-जहाँ ज्ञान पहुँचेगा (अर्थात् जिस-जिस द्रव्य को ज्ञान पहुँचेगा) वे-वे सर्व द्रव्य चेतना को प्राप्त होंगे,... क्योंकि ज्ञान तो पर को जानता है, (इसलिए) ज्ञान पर में गया, ज्ञान स्व में तो आया नहीं। इसलिए स्वयं चेतन नहीं रहा, वे सब चेतन हो गये। समझ में आया? जहाँ ज्ञान पहुँचे, वे सर्व द्रव्य चेतनपने को प्राप्त हों, **इसलिए**

तीन लोक में कोई अचेतन पदार्थ सिद्ध नहीं होगा,... क्योंकि ज्ञान का धारक आत्मा, वह तो रहा नहीं। ज्ञान का धारक पर, ऐसा सब चेतन हो गया। यह तो जरा मस्तिष्क को फैलाने के लिये समझाया है। सूक्ष्म बात है न! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ का कहा हुआ तत्त्व बहुत सूक्ष्म है, गम्भीर है, गम्भीर। इसके अतिरिक्त अन्यत्र यह बात कहीं हो नहीं सकती। तीर्थंकर परमेश्वर के अतिरिक्त ऐसे स्वरूप की शैली कहीं अन्यत्र नहीं हो सकती। कहते हैं कि तब तो लोक के सब पदार्थ कोई अचेतन न रहे। ज्ञान पर को जाने और उसे आधार आत्मा का रहा नहीं, इसलिए उसका आधार तो पर सिद्ध हुआ। ज्ञान का आधार पर अर्थात् ज्ञान वहाँ रहा, ऐसा।

यह महान दोष प्राप्त होगा। इसीलिए (उपरोक्त दोष के भय से), हे शिष्य! ज्ञान केवल परप्रकाशक नहीं है... ज्ञान अकेला पर को जानता है, ऐसा नहीं, **ऐसा यदि तू कहे, तो दर्शन भी केवल आत्मगत (स्वप्रकाशक) नहीं है ऐसा भी (उसमें साथ ही) कहा जा चुका है।** लो, दर्शन भी स्वप्रकाशक ही है और पर को नहीं जानता—उसकी (नास्ति) इस बात के साथ कह दी गयी है। **दर्शन भी केवल आत्मगत...** लो, 'गत' वहाँ आया था 'एकत्वगत' में। ऐसा भी कह दिया गया। **इसलिए वास्तव में सिद्धान्त के हार्दरूप...** सर्वज्ञ के कहे हुए सिद्धान्त परमेश्वर के सिद्धान्त, उनका हार्द—उनका हृदय—सिद्धान्त का पेट... **ऐसा यही समाधान है कि ज्ञान और दर्शन को कथंचित् स्व-परप्रकाशकपना है ही।** कथंचित् स्व-परप्रकाशकपना है। इसलिए स्व को भी प्रकाशे और पर को भी प्रकाशे। ज्ञान और दर्शन और आत्मा—तीनों। यहाँ तो दो की बात ली है। आत्मा को बाद में डालेंगे। **ज्ञान और दर्शन को कथंचित् स्व-परप्रकाशकपना है।** समझ में आया?

व्यवहार से ज्ञान-दर्शन का पर को प्रकाशकपना (और) निश्चय से ज्ञान-दर्शन को स्व का प्रकाशकपना है, ऐसा। ऐसी बातें कहाँ अब? व्रत पालना, दया पालना है या नहीं? हीराजी महाराज कहते थे कि सब करके 'अहिंसा समयं.... अहिंसा पर की पालना, वह शास्त्र का सार। वह यह नहीं। पर की दया पालना, वह सिद्धान्त का सार नहीं। समझ में आया? पर की दया आत्मा पाल नहीं सकता। यह बात थी नहीं न, मिली नहीं थी न।

इसी प्रकार श्री महासेनपण्डितदेव ने (श्लोक द्वारा) कहा है कि:—देखो! आधार देते हैं।

ज्ञानाद्भिन्नो न नाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन।
ज्ञानं पूर्वापरी-भूतं सोऽय-मात्मेति कीर्तितः॥

श्लोकार्थः—आत्मा ज्ञान से (सर्वथा)... पृथक्—**भिन्न नहीं...** ज्ञानभेद से, संज्ञभेद से भिन्न कहलाये परन्तु वस्तुभेद से भिन्न नहीं है। आहाहा! आत्मा और ज्ञान दोनों एक ही चीज़ है। सूर्य और सूर्य का प्रकाश दोनों एक ही चीज़ है। समझ में आया? ऐसा **(सर्वथा) अभिन्न नहीं है,...** नामभेद से, यह गुण कहलाता है और वह गुणी कहलाता है—ऐसा भेद है न! सर्वथा अभिन्न नहीं। **कथंचित् भिन्नाभिन्न है;...** समझ में आया? गुण और गुणी नाम, संज्ञा, प्रयोजनभेद से भिन्न है (और) प्रदेशभेद से भिन्न नहीं। **पूर्वापरभूत जो ज्ञान...** पहले का हुआ और बाद का ज्ञान, **सो यह आत्मा है...** पूर्व और अपर—पहले का और बाद का सब ज्ञान आत्मा ही है। वह आत्मा है, **ऐसा कहा है।** लो, अपना और पर का, पहले का और बाद का ज्ञान—वह ज्ञान आत्मा ही है। वह कोई आत्मा पर है नहीं।

अब (इस १६२वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):—

आत्मा ज्ञानं भवति न हि वा दर्शनं चैव तद्वत्,
ताभ्यां युक्तः स्वपरविषयं वेत्ति पश्यत्यवश्यम्।
संज्ञा-भेदा-दघ-कुल-हरे चात्मनि ज्ञान-दृष्ट्योः,
भेदो जातो न खलु परमार्थेन वह्न्युष्णवत्सः॥२७८॥

श्लोकार्थः—आत्मा (सर्वथा) ज्ञान नहीं है,... क्योंकि दर्शन भी आत्मा में है। **उसी प्रकार (सर्वथा) दर्शन भी नहीं ही है;...** अकेला दर्शन ही आत्मा में है, ऐसा है नहीं। **वह उभययुक्त (ज्ञानदर्शनयुक्त) आत्मा...** ज्ञान और दर्शन ऐसा मूल स्वभाव उभय से सहित आत्मा **स्व-पर विषय को अवश्य जानता है और देखता है।** समझ में आया? दर्शन अकेला स्व को देखता है, ऐसा नहीं है, ज्ञान (अकेला) पर का प्रकाशक नहीं है। **आत्मा** भी **स्व-पर विषय को अवश्य जानता है...** समझ में आया? स्व को, पर

को जानने का ही उसका स्वभाव है। किसी का करने का, दया पालने का, हिंसा करने का—उसमें है नहीं। आहाहा! समझ में आया? पर का करने का तो नहीं, परन्तु परसम्बन्धी जो विकल्प उठें, वह भी उसके स्वरूप में है नहीं, ऐसा कहते हैं।

अघसमूह के (पापसमूह के) नाशक आत्मा में... पाप के समूह को करनेवाला भगवान आत्मा... पुण्य और पाप दोनों पाप हैं। आत्मा परमानन्द और ज्ञान की मूर्ति है, ऐसे स्वभाव का आश्रय लेकर पुण्य और पाप का नाश करनेवाला ऐसा भगवान... देखो! **नाशक आत्मा में और ज्ञानदर्शन में संज्ञा भेद से भेद उत्पन्न होता है...** नामभेद से भेद है। आत्मा का नाम आत्मा, गुण का नाम ज्ञान और दर्शन—ऐसे नामभेद से (भेद) हो, परन्तु वस्तु भिन्न नहीं है। **(अर्थात् संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा से उनमें उपरोक्तानुसार भेद है),...** नामभेद, गुणभेद, लक्षणभेद, संख्याभेद, प्रयोजनभेद। ज्ञान का प्रयोजन जानना, आत्मा का अनन्त गुण का कारण होना, ऐसा आदि भेद है, तो भेद हो। **परमार्थ से अग्नि और उष्णता की भाँति उनमें (-आत्मा में और...** जानने-देखने के गुण में—**ज्ञानदर्शन में) वास्तव में भेद नहीं है...** भिन्नता नहीं—**(अभेदता है)**। अरे ऐसी बातें सब। कुछ समझ में आये, ऐसा नहीं?

कहते हैं कि यह आत्मा है... जैसे ज्ञान और दर्शन... दर्शन स्व को देखता है, ऐसा नहीं तथा ज्ञान पर को ही जानता है, ऐसा नहीं। दर्शन भी स्व-पर को देखता है और ज्ञान भी स्व-पर को जानता है। इसी प्रकार आत्मा भी स्व-पर को देखता-जानता है। क्योंकि आत्मा से गुण कहीं भिन्न नहीं है। नामभेद से भिन्न होने पर भी भिन्न नहीं है। इसलिए दर्शन जैसे स्व-पर को देखता है; ज्ञान स्व-पर को जानता है; उसी प्रकार आत्मा भी स्व-पर को जानता और देखता है। वस्तु, ऐसा कहा, उन गुण की बात की, पश्चात् गुणी की बात की। समझ में आया? यह तो सूक्ष्म, अन्तर वस्तु सूक्ष्म है। पुण्य-पाप के विकल्प से पार है। पुण्य-पाप के विकल्प को तो भगवान ऐसा कहते हैं कि वह तो स्थूल... स्थूल—जाड़े परिणाम हैं, हों! पुण्य-पाप परमाणु की प्रकृति की बात नहीं, (परन्तु) शुभ-अशुभभाव है, वह स्थूल है। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के परिणाम, वे स्थूल हैं, वे आत्मा में हैं नहीं। आहाहा! वह (आत्मा) तो महासूक्ष्म में सूक्ष्म वस्तु है। उसका ज्ञान सूक्ष्म, दर्शन सूक्ष्म, स्वयं सूक्ष्म। समझ में आया?

पूर्वापर... वहाँ यह आया। **उभययुक्त (आत्मा) स्व-पर के विषय को अवश्य जानता है। परमार्थ से अग्नि और उष्णता की भाँति उनमें...** अर्थात् कि **आत्मा और ज्ञानदर्शन में...** अर्थात् गुणी और गुण में, आत्मा गुणी है... गुणी अर्थात् यह गुणी (बोरी) है वह होगी? यह अनाज की बोरी नहीं डालते? चावल की बोरी, बाजरा की बोरी, गेहूँ की बोरी, वह नहीं। यहाँ तो गुण का धारक, वह गुणी। वह बोरी जैसे बड़ी थैली है, उसी प्रकार यह भी गुण की बड़ी थैली है। समझ में आया? यह गुणी उसे कहा जाता है न चावल का बड़ा....? जैसे बोरी में अनेक—लाखों-हजारों (मण) चावल पड़े हों, उसी प्रकार भगवान गुणी में अन्दर ज्ञान-दर्शनादि अनन्त गुण पड़े हैं। गुण का धारक गुणी। जब गुण के ही दो स्वभाव सिद्ध हुए, तो गुण के धारक आत्मा के भी दो स्वभाव सिद्ध हुए। क्या दो? स्व-परप्रकाशना। जैसे दर्शन में स्व-परप्रकाश का सिद्ध हुआ, वैसे ज्ञान का भी स्व-परप्रकाशन सिद्ध हुआ, तो गुण के धारक गुणी का स्व-परप्रकाशन सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं। क्योंकि गुण और गुणी में कथंचित् संज्ञा भेद आदि होने पर भी वास्तव में भेद है नहीं। आहाहा!

यहाँ तो, पुण्य-पाप के भाव कुछ जानते नहीं, वे जड़ हैं, कहते हैं। व्रत और तप के विकल्प उठें, वह तो अचेतन है, ऐसा कहते हैं। वे चेतन नहीं, वे चेतन के साथ अभेद नहीं। वे तो अत्यन्त भिन्न हैं, ऐसा। (जैसे) पुण्य-पाप के विकल्प तो गुण-गुणी दोनों से अत्यन्त भिन्न हैं, ऐसे गुण और गुणी अत्यन्त भिन्न नहीं। जानने-देखने की अपेक्षा से गुण को जब भिन्न गिनो, तो गुणी को भी उनसे भिन्न व्यवहार से कहा जाता है—नाम, संज्ञा आदि से। परन्तु वस्तु—गुणी और गुण के प्रदेश भिन्न हैं, ऐसा नहीं है। समझ में आया? वास्तव में तो, शुभ-अशुभभाव है न, उनके तो प्रदेश भी भिन्न हैं, ऐसा कहते हैं। भाव भी भिन्न। ऐसे यह गुण और गुणी के प्रदेश भिन्न नहीं हैं। भाव और भाववान—आत्मा भाववान, गुण ज्ञान-दर्शन भाव—ऐसा नाम—संज्ञाभेद से भेद दिखता है, परन्तु प्रदेशभेद से, वस्तुभेद से भेद नहीं। समझ में आया? १६३ गाथा।

अप्पा परप्पयासो तइया अप्पेण दंसणं भिण्णं।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥१६३॥

यह तो आचार्य स्वयं कहते हैं, वरना टीका करनेवाले का दोष किसलिए निकाले?

लोगों को अपने अभिप्राय प्रमाण ठीक न लगे न, (इसलिए) यह खोटा, यह खोटा। तेरा अभिप्राय खोटा है, इसलिए खोटा लगता है। ऐसा उसे निर्णय नहीं होता।

पर ही प्रकाशे जीव तो हो आत्म से दृग् भिन्न रे।
'परद्रव्यगत नहिं दर्श', वर्णित पूर्व तव मंतव्य रे॥१६३॥

टीका : यह, एकान्त से आत्मा को परप्रकाशकपना होने की बात का खण्डन है। जिस प्रकार पहले (१६२वीं गाथा में) एकान्त से ज्ञान को परप्रकाशकपना खण्डित किया गया है,... अकेला ज्ञान पर को जाने, ऐसा है नहीं। ऐसा कहो तो ज्ञान का आधार आत्मा नहीं रहता। उसमें आ गया। **उसी प्रकार अब यदि 'आत्मा केवल परप्रकाशक है'...** अब आत्मा को, देखो! वह गुण को लिया। **ऐसा माना जाए तो वह बात भी उसी प्रकार खण्डन प्राप्त करती है,...** अकेला आत्मा केवल पर को प्रकाशित करे और स्व को प्रकाशित न करे—ऐसा है नहीं। **क्योंकि भाव और भाववान एक अस्तित्व से रचित होते हैं।** देखो! भाव अर्थात् गुण, भाववान अर्थात् गुणी। भाववान, भगवान आत्मा भाववान और ज्ञान-दर्शन, वह उसके भाव। यह भाववान और भाव एक अस्तित्व—एक सत्ता से रचित है। दो की सत्ता का अस्तित्व भिन्न नहीं है। कहो, समझ में आया?

ज्ञान-दर्शन का जो अस्तित्व, वही आत्मा का अस्तित्व; आत्मा का अस्तित्व, वही ज्ञान-दर्शन का अस्तित्व है। अस्तित्व दो भिन्न नहीं है। समझ में आया? गुण और गुणी की बात चलती है यह। पर्याय और द्रव्य भिन्न हो गये। वह तो ... वह अलग वस्तु हुई। यहाँ तो गुण और गुणी की बात चलती है। समझ में आया? ज्ञान-दर्शन जो गुण है, उनसे गुणी भिन्न यदि कहो तो ऐसा है नहीं। क्योंकि दोनों के अस्तित्व की शक्ति का एक ही तत्त्व है। दोनों एक अस्तित्व से रचित हैं। ज्ञान-दर्शन का होनापना—अस्तित्व भिन्न और आत्मा का अस्तित्व भिन्न—ऐसा है नहीं। थोड़ा सूक्ष्म है। तब पर्याय का अस्तित्व सर्वथा भिन्न, ऐसा कहते थे न? ऐई! वह अलग वस्तु है। यह तो गुण और गुणी की बात है। उसकी पर्याय जो होती है... समझ में आया? भारी सूक्ष्म बात!

पर्याय जो अवस्था है, वह गुणी से एक न्याय से निश्चय से तो (भिन्न है)। इसका अर्थ ... भिन्न है व्यवहार से। निश्चय से भिन्न है, व्यवहार से अभिन्न कहा जाता है। और क्या कहा? यहाँ तो कहते हैं कि गुण-गुणी का अस्तित्व एक है, यह भाव और

भाववान। पश्चात्, भाव की जानने-देखने की क्रिया बाद में डालेंगे। भाव ज्ञान-दर्शन भाव और भाववान, यह एक अस्तित्व से—एक सत्ता से—एक होनापने से रहा हुआ है। दो के होनापने के अस्तित्व भिन्न नहीं। वह जो बात है पर्याय की, वह दूसरी बात है। पर्याय है, वह कथंचित् निश्चय से भिन्न है और व्यवहार से (अभिन्न है)। वहाँ भी कथंचित् है। समझ में आया?

मुमुक्षु : जीव का अस्तित्व....

पूज्य गुरुदेवश्री : ....विशेष हो गया न! सामान्य तो गुण रहा न! उसका विशेषपना हो गया न! वह तो दूसरी अवस्था हो गयी। समझ में आया?

यहाँ तो उसकी अभिन्नता बतलानी है। समझ में आया? जैसे गुण की अभिन्नता है, वैसे जानने-देखने की पर्याय की भी अभिन्नता बतलानी है। आहाहा! समझ में आया? ....वापस बाधा आवे, तब (कहे), ऐसा कहा था न? एक समय की पर्याय और द्रव्य सर्वथा भिन्न है निश्चय से। समझ में आया? यहाँ तो यह कहा नहीं। अभिन्नपने का यहाँ वर्णन है, इसलिए गुण और गुण की पर्याय, वह सब आत्मा के साथ एक अस्तित्व से रचित है, ऐसा सिद्ध करना है। गजब कितनी बातें इसमें! समझ में आया?

पहले (१६२वीं गाथा में) ऐसा बतलाया था... बतलाया था कि यदि ज्ञान (केवल) परप्रकाशक हो तो ज्ञान से दर्शन भिन्न सिद्ध होगा! क्योंकि ज्ञान परप्रकाशक और दर्शन स्वप्रकाशक (होवे तो) दोनों अत्यन्त भिन्न सिद्ध हों। दो गुण अभिन्न रहे नहीं। गुण अभिन्न रहे (नहीं)। **यहाँ (इस गाथा में) ऐसा समझना कि यदि आत्मा (केवल) परप्रकाशक हो...** आत्मा लिया यहाँ। वह गुण और गुणी लिया था। **आत्मा (केवल) परप्रकाशक हो तो आत्मा से ही दर्शन भिन्न सिद्ध होगा!** क्योंकि आत्मा परप्रकाशक और दर्शन स्वप्रकाशक, (ऐसे) दो भिन्न सिद्ध हों, (परन्तु) ऐसा है नहीं। आहाहा! कितनी गाथा में लिया है देखो! मात्र व्यवहार एकान्त भेद को माननेवाले का निषेध करने के लिये यह सब लिया है, देखो!

और यदि 'आत्मा परद्रव्यगत नहीं है (अर्थात् आत्मा केवल परप्रकाशक नहीं है, स्वप्रकाशक भी है)' ऐसा (अब) माना जाए तो आत्मा से दर्शन की (सम्यक् प्रकार से) अभिन्नता सिद्ध होगी, ऐसा समझना। तो आत्मा और दर्शन एक ही सिद्ध

हो, भिन्न सिद्ध नहीं हो। **इसलिए वास्तव में आत्मा स्व-परप्रकाशक है।** लो! आत्मा अकेला परप्रकाशक है और दर्शन (अकेला) स्वप्रकाशक है, ऐसा रहा नहीं। दर्शन भी स्व-परप्रकाशक और आत्मा भी स्व-परप्रकाशक है। **जिस प्रकार (१६२वीं गाथा में) ज्ञान का कथंचित् स्व-परप्रकाशकपना सिद्ध हुआ, उसी प्रकार आत्मा का भी समझना,...** लो, जैसे ज्ञान भी पर को जानता है और स्व को जानता है, ऐसा स्व-परप्रकाशक ज्ञान का स्वभाव सिद्ध किया, तो वह आत्मा का कथंचित् स्व-परप्रकाशक (अर्थात् कि) निश्चय से स्व को जानता है और व्यवहार से पर को (जानता है, यह निश्चित हुआ)। यह अलग कहेंगे। समझ में आया? यह आगे की गाथा में लेंगे। व्यवहारनय से पर को जानता है, ऐसा।

क्योंकि अग्नि और उष्णता की भाँति धर्मी और धर्म का एक स्वरूप होता है। अग्नि धर्मी (और) उष्णता धर्म, इसी प्रकार आत्मा धर्मी और ज्ञान-दर्शन उसका धर्म। इन दोनों का एक स्वरूप होता है। दोनों भिन्न होते नहीं। थोड़ा-थोड़ा विचार करना। थोड़ा विचार करे तो समझ में आये। न समझ में आये, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह व्याकरण नहीं। वर्तमान में तो कुछ (ज्ञान ही नहीं होता कि) यह आत्मा क्या और उसकी शक्ति क्या, उसकी दशा क्या, यह द्रव्य क्या, गुण क्या और पर्याय क्या? समझ में आया? पर्याय क्या, इसकी खबर नहीं होती।

एक दिगम्बर पण्डित आये थे, लो न! सुभय शास्त्री, सोलापुर। क्या कहा जाता है? महाराष्ट्र। महाराष्ट्र के पण्डित आये थे यहाँ सुभय। सुभय न? सुभैया। कहे, पर्याय क्या? वैसे कहलाये बड़े पण्डित। पर्याय कहीं सुनी नहीं। लो, अरे भगवान! परन्तु उसे कुछ भान भी नहीं, लक्ष्य भी नहीं। तत्त्वार्थसूत्र में है, गुणपर्ययवत् द्रव्यं। आहाहा! द्रव्य-पर्याय को जाने केवलज्ञान... एक व्यक्ति और ऐसा कहता था कि पर्याय तो ब्राह्मण में से आयी है। परन्तु ब्राह्मण में कहाँ पर्याय थी वहाँ? वह तो वेदान्त कूटस्थ माननेवाले हैं। वहाँ तो पर्याय है ही नहीं। यहाँ ऐसा कहाँ से आया? मूल द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान जगत में घट गया, इसलिए फिर सब विवाद उठे। ऐसा सिद्धान्त करे कि पर्याय मेरी है, गुण मेरा, द्रव्य मेरा—तीनों अभेद हैं। तो पर की पर्याय का करना सिद्ध नहीं हो और पर से अपने में कुछ होता है, ऐसा भी रहे नहीं। समझ में आया?

अपवास करो, रोटियाँ छोड़ी, पानी छोड़ा। क्या छोड़ा था? पर के द्रव्य-गुण-पर्याय छोड़े हैं? वे छूटे ही हैं। यदि द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान यथार्थ हो तो इसका अभिमान रहे नहीं। मैंने यह छोड़े, यह मेरे अपवास हुआ, यह नहीं। राग छोड़े स्वभाव के आश्रय से, आनन्द के आश्रय से, उसे उपवास होता है। उसने राग का त्याग किया, ऐसा व्यवहार से कहा जाताहै। कहो, समझ में आया? आया था न, वह नाशक नहीं आया था? **अघसमूह का नाशक...** देखो! पहले कलश में आया इसके पहले। भगवान (आत्मा) पुण्य-पापरूपी समूह के नाशक, ऐसा कहा। समझाना है तो क्या समझावे?

ऐसे देखो तो पुण्य-पाप का नाशक आत्मा है ही नहीं। आया न ३४ गाथा में, समयसार (में)। राग के दोष का नाशकर्ता आत्मा को कहना, यह व्यवहार बातें हैं। परमार्थ से दोष का नाशक वह आत्मा नहीं। क्योंकि यह दोष है और नाश करूँ, यह तो पर्यायबुद्धि हो गयी। यह उसके स्वभाव में है नहीं। वह तो चैतन्य का पूर्ण आनन्द स्वभाव, उसका आश्रय लेने से राग की—विकार की उत्पत्ति नहीं होती, उसे 'नाश किया' ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। कहो, पोपटभाई! यह वर्षीतप किया, मनाया। किसका वर्षीतप? लंघन है सब। गजब! लाखोंपति की महिलायें करती होंगी न! रोटियाँ घर की हैं तो भी छोड़ती हैं वे। छोड़ती हैं, वह धर्म को, सुन न! तुझे खबर नहीं। ज्ञान-दर्शन जानने-देखने का स्वभाव उसे छोड़ता है और यह ग्रहण करूँ-छोडूँ, ऐसे भाव को वह ग्रहण करता है। कहो, समझ में आया?

भाई! दुनिया से वीतराग का मार्ग ऐसा भिन्न है। अपवास हो, फिर पारणा हो, फिर बड़े क्या कहलाते हैं? शोभायात्रा। शोभायात्रा। स्त्री भी प्रसन्न हो, और पति भी पाँच-पच्चीस खर्च करे, वह तो शक्ति प्रमाण। कोई पचास (हजार), लाख खर्च करे, कोई पचास हजार खर्च करे, लाख खर्च करे। एक वर्षीतप का पारणा किया, पिचहत्तर हजार खर्च किये। गृहस्थ व्यक्ति थे। पिचहत्तर हजार। पूरी स्पेशल (ट्रेन) उतारी यहाँ पालीताणा। प्रसन्न हो जाये कि हमने कुछ धर्म किया और वे जाने कि अपने वर्षीतप को मनाया। मिथ्यात्व को मनाया है। ऐई!

यहाँ तो कहते हैं कि 'पर का त्याग करता हूँ' यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। यहाँ तो, राग का नाश करूँ, यह मान्यता ही सच्ची नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

गजब बात, भाई! क्योंकि परवस्तु तो यहाँ से दूर रहनेवाली थी, वह रही है। तूने छोड़ी है, इसलिए दूर गयी है, ऐसा है नहीं। अब, राग का नाश करना, वह भी वस्तु में नहीं। ऐसा मार्ग! क्योंकि राग है तो पर्याय में—विकृतदशा में। यह है और उसे नाश करना, ऐसा है? है, उसे नाश करूँ या नहीं, उसे नाश करूँ? समझ में आया? शब्द तो ऐसे आये, देखो न! **अघसमूह के नाशक आत्मा में...** दूसरी ओर कहते हैं कि यह तो कर्म का नाशक क्या, परन्तु पुण्य-पाप का नाशक कहना, वह भी व्यवहार का—अभूतार्थनय का कथन है। आहाहा! ऐसी चीज़... इस चीज़ की इसे खबर नहीं होती, इसलिए कहीं न कहीं गड़बड़ खतौनी कर डाली।

यहाँ तो कहते हैं कि अग्नि और उष्णता की भाँति धर्मी और धर्म का एक स्वरूप होता है। गुण और गुणी नामभेद से (भेद) होने पर भी... अग्नि और उष्णता के नामभेद है, अग्नि, ऐसा नाम है; उष्णता, ऐसा नाम है। संज्ञा भेद है, (परन्तु) वस्तु भिन्न नहीं।

[अब, इस १६३वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:] २७९ न?

आत्मा धर्मी भवति सुतरां ज्ञान-दृग्धर्म-युक्तः,
तस्मिन्नेव स्थितिमविचलां तां परिप्राप्य नित्यम्।
सम्यग्दृष्टिर्निखिल-करण-ग्राम-नीहार-भास्वान्,
मुक्तिं याति स्फुटितसहजावस्थया सन्स्थितां ताम्॥२७९॥

श्लोकार्थ : कहते हैं कि यह भगवान आत्मा **ज्ञानदर्शनधर्मों से युक्त...** है। धर्म अर्थात् उसका स्वभाव। शरीर और रागसहित है नहीं आत्मा। उनसे रहित है, परन्तु अपने ज्ञान-दर्शन के धर्म से सहित है। **ज्ञानदर्शनधर्मों से युक्त...** अर्थात् सहित **होने से...** इस कारण से, ऐसा। ज्ञान-दर्शन के स्वभाव से सहित **होने के कारण आत्मा वास्तव में धर्मी है।** आत्मा धर्मी... यह धर्म सम्यग्दर्शन-ज्ञान की अभी बात नहीं है। उसका जो जानने-देखने का स्वभाव—धर्म उस सहित आत्मा होने से (अर्थात्) आत्मा उस धर्म का धारक होने से, उसे धर्मी कहा जाता है। कहो, समझ में आया? इसने सूक्ष्मता से तत्त्व क्या, गुण क्या, धर्म क्या, स्वभाव क्या—इसके विचार किये नहीं, उसका मंथन

किया नहीं, उसका निर्णय किया नहीं। यह तो सब पर का काम हुआ करे, वह तो जड़ का जड़ में होता है। समझ में आया?

तुझमें क्या होता है और क्या है? उसमें जानने-देखने का धर्म अर्थात् स्वभाव है। उस जानने-देखने के स्वभाव से सहित होने से... आत्मा जानने-देखने के गुण अर्थात् धर्म के स्वभावसहित होने से—इसलिए युक्त होने से धर्मी कहा जाता है। कहो, समझ में आया? और जानने-देखने की पर्याय, वह स्वयं धर्म है। दया, दान, व्रत परिणाम, वह कोई धर्म नहीं। उन विकार के परिणाम को अपने में रहकर पृथक् रहकर जानने-देखने की पर्याय (होती है), वह आत्मा का पर्यायधर्म मुक्ति का मार्ग है। समझ में आया?

सकल इन्द्रियसमूहरूपी हिम को (नष्ट करने के लिए)... आहाहा! **सूर्य समान ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव...** देखो! सकल इन्द्रियसमूहरूपी हिम को नष्ट करने के लिये सूर्य समान, ऐसा समकिती जीव... अपने में पूर्ण आनन्द और ज्ञान भरा हुआ है, ऐसा वह धर्मी जीव... धर्मी के ऊपर उसकी दृष्टि होने से, ऐसा कहते हैं। धर्मी की धर्मी के ऊपर दृष्टि होने से... धर्मी अर्थात् यहाँ सम्यग्दृष्टि, उसकी दृष्टि में स्वीकार तो पूर्णानन्द प्रभु आत्मा का है। उसके कारण से सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रिय के समूह के हिम को नष्ट करने के लिये सूर्य समान है। हिम होती है, परन्तु जहाँ सूर्य उगा, हिम का नाश होता है। इसी प्रकार भगवान आत्मा अपने शुद्ध आनन्द और ज्ञान स्वभाव पूर्ण की प्रतीति और अनुभव हुआ—ऐसा जो सम्यग्दर्शन (हुआ), वह सम्यग्दृष्टि जीव अणीन्द्रिय की रमणता में रमनेवाला है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? चौथे गुणस्थान से, हों!

भगवान आत्मा अणीन्द्रियस्वरूप, उसे अनुभव से प्रगट हुई जो दृष्टि, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों के समूह को—हिम को नाश करने के लिये सूर्य समान है। आहाहा! इन्द्रियों की ओर के झुकाववाली वृत्तियों का नाश करने के लिये सम्यग्दृष्टि सूर्य समान है। रखने के लिये नहीं, उत्पन्न करने के लिये नहीं। समझ में आया? सम्यग्दृष्टि जीव, ज्ञान-दर्शन के धर्म से भरपूर धर्मी ऐसा आत्मा, उसकी दृष्टि में आने से—दृष्टि होने से, वह जीव अपने स्वभाव-सन्मुख की क्रिया में पड़ा होने से, उसे विभाव

को—इन्द्रियों की ओर के झुकाव की वृत्तियों को नाश करने की सामर्थ्यवाला है। समझ में आया? धर्मी जीव राग, इन्द्रियों की ओर के झुकाववाले भाग को रखनेवाला रक्षक नहीं, उसका पालन-पोषण करनेवाला नहीं, ऐसा कहते हैं। वह तो अतीन्द्रिय आनन्द स्वभाव के आश्रय से परिणति में पड़ा हुआ धर्मी पाँच इन्द्रिय के झुकाववाली वृत्तियों का नाश करने में समर्थ है। लो, यहाँ 'नाश करने में समर्थ' आया। ऐई! परन्तु क्या समझाना?

एक ओर कहते थे कि आत्मा राग का नाश करे, यह व्यवहार से कहा जाता है, अभूतार्थनय से—असत्यार्थदृष्टि से कहा जाता है। ऐसा का ऐसा समझना यहाँ भी यह। कथन की पद्धति क्या आवे? भगवान ने चार घनघातिकर्म टाले। जड़ को टालता होगा आत्मा? भावकर्म को टालता नहीं, वहाँ और (जड़) कर्म को टाले? परन्तु टल जाते हैं, इसलिए व्यवहार से 'टालता है' ऐसा कहा जाता है। समझ में आया? भारी सूक्ष्म! इसमें पकड़ना क्या? बेचारे मुश्किल-मुश्किल से धन्धे में से आये हों, घण्टे-दो घण्टे समय मिले, अब उसमें ऐसी सूक्ष्म बातें। मोक्षमार्ग तो सूक्ष्म और गम्भीर ही होगा न! समझ में आया? पुण्य-पाप के परिणाम को जहाँ स्थूल कहा है, उस स्थूल को आत्मा छूता भी नहीं, ऐसा कहते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव अपना सूक्ष्म अतीन्द्रिय पदार्थस्वभाव, उसे स्पर्शित है, उसे छुआ हुआ है, इसलिए वह दया, दान, व्रत के परिणाम को स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा! ऐसा यह जीव राग-द्वेष के भाव को—हिम को नष्ट करने के लिये सूर्य समान चैतन्य की ज्योति है।

उसी में (ज्ञानदर्शनधर्मयुक्त आत्मा में ही)... देखो! सम्यग्दृष्टि जीव धर्मी उसे कहते हैं कि यह राग-द्वेष के परिणाम को नाश करने के लिये सूर्य समान है और इसमें (आत्मा में) स्थिर रहने में पुरुषार्थ है। **ज्ञानदर्शनधर्मयुक्त आत्मा...** आत्मा कैसा है? कि जानने-देखने सहितवाला भगवान। वह **सदा अविचल स्थिति प्राप्त करके...** वह स्वरूप में स्थिर होकर (अर्थात्) अन्तर की आनन्द की क्रिया में स्थिर होकर सदा अविचल स्थिति प्राप्त करता है। **मुक्ति को प्राप्त करता है,...** ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया? ओहो! न्याय, धर्म का न्याय वापस... पर्याय का। क्योंकि ज्ञान और दर्शन का स्वभाव जैसे स्व-परप्रकाशकपना है, वैसा ही आत्मा का स्वभाव भी स्व-परप्रकाशकपना

है। और वह ज्ञान-दर्शन धर्मसहित होने से भगवान आत्मा ज्ञान-दर्शन के स्वभाववाला होने से, वह स्वभाववान धर्मी है।

ऐसे धर्मी पर दृष्टि होने से... धर्मी की—सम्यग्दृष्टि की धर्मी के ऊपर दृष्टि होने से... आहाहा! वह **सदा अविचल स्थिति प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त होता है...** ध्रुव में स्थिर होकर... ज्ञान-दर्शनस्वभाव, ऐसा ध्रुव, उसका धारक भगवान ध्रुव, उसमें स्थिर होकर—सदा अविचल स्थिति प्राप्त करके मुक्ति को पाता है। लो, यह सार निकाला इसमें से। परप्रकाशक और स्वप्रकाशक और आत्मा स्व-परप्रकाशक करके क्या करना है परन्तु? जब दर्शन भी स्व-परप्रकाशक, ज्ञान भी स्व-परप्रकाशक, तो एक गुण और दूसरा गुण अभिन्न सिद्ध हुआ। और जब दो गुण अभिन्न सिद्ध हुए, तब गुण का धारक आत्मा भी अभिन्न सिद्ध हुआ।

यह आत्मा भी ऐसा स्व-परप्रकाशक होने से, ऐसे आत्मा की दृष्टिवाला धर्मी जीव... आहाहा! समझ में आया? अपना धर्म धरनेवाला तत्त्व पूर्णस्वरूप प्रभु की दृष्टिवाला जीव—सम्यग्दृष्टि जीव उसमें रहकर—ज्ञान-दर्शनसहित ऐसा आत्मा, उसमें रहकर, सदा अविचल (स्थिति प्राप्त करता है)। इससे बीच में यह व्यवहार विकल्प आवे, उसका तो वह नाश करनेवाला है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? उसका रक्षक, उसका पालक, उससहित नहीं। मात्र उसे स्वभाव सन्मुख की दृष्टि में वे उत्पन्न नहीं होते, इसलिए उनका 'नाश किया' ऐसा कहा जाता है। आहाहा! ऐसे भगवान आत्मा के धर्मवाला—स्वभाववाला ऐसा स्वभाववान, उसकी दृष्टि करके, उसमें स्थिर रहकर, सदा अविचलपने की प्राप्ति ऐसी मुक्ति को प्राप्त करता है।

कि जो मुक्ति प्रगट हुई सहज दशारूप से सुस्थित है। मुक्ति कैसी है? मुक्ति भी पर्याय है, मुक्ति कहीं द्रव्य-गुण नहीं। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल है। सिद्धपद भी पर्याय है। मोक्षमार्ग में जो स्थित होना, धर्मी की दृष्टि करके स्थिर होना, वह भी पर्याय है। समझ में आया? कितना याद रखना इसमें? **कि जो मुक्ति प्रगट हुई सहज दशारूप से सुस्थित है।** सुस्थित है, ऐसा कहते हैं। वह दशा प्रगट हुई, सो प्रगट हुई, वह वापस जाये—ऐसी नहीं है। कहे न कि मुक्ति होने के पश्चात् भी अवतार धारण करे। यह खोटी बात है। आहाहा! शुद्धस्वरूप पूर्णानन्द प्रभु के ऊपर दृष्टि करने से वापस हटता नहीं, वह पूर्ण

होने के पश्चात् वापस हटे? आहाहा! वे प्रगट हुई सहज दशायें हैं, स्वाभाविक अवस्था है वह तो। सिद्ध—मुक्ति की अवस्था तो स्वाभाविक अवस्थारूप से है। जो स्वभाव है धर्मी का, ऐसे स्वभाव की परिणतिरूप से पूर्ण पर्याय प्रगट हुई, उसे मुक्ति कहते हैं और उसमें वह सुस्थित है। बराबर स्थित है कि जिसमें से पर्याय एक समय भी फिरती नहीं।

लो, श्लोक यह डाला। ठीक! यह किसलिए कहा यह सब? यह सब कहा अभिन्न को सिद्ध करने के लिये। ज्ञान पर को प्रकाशे, पर को नहीं, तो ज्ञान का आधार आत्मा रहता नहीं। जैसे दर्शन स्व को देखे... आँख तो पर को देखती है, स्व को देखती नहीं, लो! इसलिए तू ऐसा सिद्ध करने जाये कि दर्शन (केवल) स्व को देखता है, तो बात समुचित नहीं है। इसलिए दर्शन भी स्व को देखता है और पर को देखता है, ज्ञान भी स्व को जानता है और पर को जानता है, उस धर्म का धारक धर्मी भी स्व-परप्रकाशक, (ऐसा) उसका स्वरूप अभेद है। समझ में आया? यहाँ जरा व्यवहार डालते हैं। पर को जानना-देखना, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। वह व्यवहार तीनों को लागू पड़ता है, ऐसा कहते हैं। तीन कौन? ज्ञान, दर्शन और आत्मा। जैसे तीनों को स्व-परप्रकाशक लागू किया, वैसे तीनों को व्यवहार लागू पड़ता है, कहते हैं। १६४ (गाथा)।

नियमसार शास्त्र ही बहुत थोड़े समय (पहले) बाहर आया। उसमें भी पढ़ने में कम आवे, इसलिए लोगों को उसका अभ्यास नहीं होता तो जरा कठोर लगता है। परन्तु अभ्यास से सब सरल है। अभ्यास से केवलज्ञान लिया जा सकता है, तो अभ्यास से यह समझ में नहीं आये, ऐसा कैसे बने? समझ में आया?

णाणं परप्पयासं ववहारणयेण दंसणं तम्हा।
अप्पा परप्पयासो ववहारणयेण दंसणं तम्हा॥१६४॥

व्यवहार से है ज्ञान पर-गत दर्श भी अतएव है।
व्यवहार से है जीव पर-गत दर्श भी अतएव है॥१६४॥

इसमें 'अन्वयार्थ' (शब्द) लिया है। इसमें 'अन्वयार्थ' लिखते हैं, उसमें 'गाथार्थ'

(लिखते हैं) समयसार में। **अन्वयार्थः—व्यवहारनय से ज्ञान...** व्यवहारनय से ज्ञान **परप्रकाशक है;...** 'पर को प्रकाशे' कहना, यह व्यवहार है। यह स्व-परप्रकाशक स्व का स्वरूप है, परन्तु पर को प्रकाशित करता है, ऐसा कहना वह (व्यवहार है)। 'पराश्रित व्यवहार' है न! **इसलिए दर्शन परप्रकाशक है।** यह दर्शन भी परप्रकाश है व्यवहार से। **व्यवहारनय से आत्मा परप्रकाशक है;...** जब दो गुणों को परप्रकाशक व्यवहार से कहा, तब धारक आत्मा भी पर को जाननेवाला परप्रकाशक (कहा)। **इसलिए दर्शन परप्रकाशक है।** लो। आत्मा परप्रकाशक है, इसलिए दर्शन भी परप्रकाशक है। वह पर की अपेक्षा का कथन तीनों को लागू पड़ता है। यह तो आ गया था कि दर्शन परप्रकाशक है, परन्तु दर्शन को अकेला 'स्वदर्शन' कहा था न, तो व्यवहार से दर्शन भी परप्रकाशक है, (ऐसा सिद्ध किया)। ज्ञान भी परप्रकाशक और आत्मा भी परप्रकाशक। यह व्यवहारनय के सफलपने का कथन है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर शुक्ल १४, बुधवार, दिनांक-०१-१२-१९७१
गाथा-१६४-१६६, श्लोक-२८०-२८२, प्रवचन-१९१

नियमसार। **टीका : यह व्यवहारनय का सफलपना दर्शानेवाला कथन है।** यद्यपि पहली गाथा में आ गया था, १५९, पहली गाथा। व्यवहारनय से पर को जानते हैं, निश्चय से स्व को जानते हैं, परन्तु अधिक स्पष्ट (करते हैं)। पहली गाथा शुरु की उसमें आया। १५९, १५९ न? शुरुआत की पहली।

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवल-णाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥१५९॥

भाई! केवलज्ञान और केवलदर्शन का विषय है न? जरा सूक्ष्म-सूक्ष्म पड़े, ऐसा परन्तु सुनकर जरा विचारना तो पड़ेगा न? कहते हैं कि व्यवहारनय का सफलपना दर्शानेवाला कथन। व्यवहार कैसे कहा? किस अपेक्षा से कहा? वह कथन है इसमें। **समस्त ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय हुआ होने से...** केवली भगवान को **प्राप्त होता सकल विमल केवलज्ञान।** समस्त कर्म का क्षय होने से, ऐसा शब्द उठाया है। संक्षिप्त में कहना हो तो ऐसा ही कहे न! **कर्म का क्षय होने से प्राप्त होता सकल विमल केवलज्ञान, पुद्गलादि मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन, परद्रव्य-गुण-पर्याय का प्रकाशक किस प्रकार है?** पुद्गलादि मूर्त और अमूर्त। एक मूर्त और पाँच अमूर्त (द्रव्य), एक चेतन और पाँच अचेतन। छह द्रव्य है न? ऐसे परद्रव्य-गुण-पर्याय समूह का, परद्रव्य के गुण और पर्याय का समूह, प्रकाशक किस प्रकार हुआ? यह प्रश्न हो, उसका उत्तर इस प्रकार है।

'पराश्रितो व्यवहारः (व्यवहार पराश्रित हैं)' ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से,... व्यवहावरनय के बल से ऐसा है। व्यवहारनय के बल से ज्ञान परप्रकाशक है - ऐसा है। इसका स्पष्टीकरण आगे नीचे किया है। व्यवहारनय क्यों कहा? पर में तन्मय नहीं होता। पर को जानता नहीं, ऐसा नहीं। समझ में आया? उसमें तन्मय होकर नहीं जानता; इसलिए उसे व्यवहार कहा जाता है। स्पष्टीकरण आगे किया है। बड़ा पेरेग्राफ है। ३३६ पृष्ठ पर है।

व्यवहारनय के बल से ऐसा है (अर्थात् परप्रकाशक है).... क्या परप्रकाशक है? केवलज्ञान। भगवान का केवलज्ञान व्यवहार से परप्रकाशक है। अर्थात् पर में तन्मय हुए बिना जानता है, इसलिए उसे व्यवहार से परप्रकाशक कहा जाता है। **इसलिए दर्शन भी वैसा ही...** जैसा ज्ञान है, वैसा दर्शन भी परप्रकाशक ही है। **और तीन लोक के प्रक्षोभ के हेतुभूत...** भगवान को ज्ञान होने पर तीन लोक में आनन्द की खलबलाहट हो जाती है। क्षणभर तो नारकी को भी साता (हो जाती है)। साता का आनन्द, हों! यहाँ अतीन्द्रिय आनन्द की बात नहीं है। समझ में आया?

लोक के **तीन लोक के प्रक्षोभ के हेतुभूत तीर्थंकर-परमदेव को...** तीन लोक के प्रक्षोभ के हेतुभूत कहा है न? निमित्त। **तीर्थंकर-परमदेव को कि जो सौ इन्द्रों की प्रत्यक्ष वन्दना के योग्य हैं...** सिद्ध हैं, वे तो परोक्ष वन्दना के योग्य है। यह तो अरिहन्त साक्षात् समवसरण में बिराजते हों, तो **सौ इन्द्रों की प्रत्यक्ष वन्दना के योग्य हैं और कार्यपरमात्मा हैं...** स्वयं कार्यपरमात्मा हैं। पूर्ण ज्ञान-दर्शन आदि पूर्ण दशा हो गयी, इसका नाम कार्यपरमात्मा। **उन्हें ज्ञान की भाँति ही (व्यवहारनय के बल से) परप्रकाशकपना है...** आत्मा को भी, ऐसा है। ज्ञान की परप्रकाशपना है, दर्शन को भी परप्रकाशपना है, और आत्मा को भी परप्रकाशपना है। **इसलिए व्यवहारनय के बल से उन भगवान का केवलदर्शन भी वैसा ही है।** यद्यपि पहले आ गया था। दर्शन सामान्य, पहले आ गया था न? इसलिए दर्शन भी वैसा ही है, इतना कहा था।

भगवान का केवलदर्शन भी वैसा ही है। पर को प्रकाशित करनेवाला। व्यवहारनय से। व्यवहार का अर्थ कि उसमें निमित्त की अपेक्षा आयी न? पर को जाने, इतनी अपेक्षा आयी न, पर को जाने, इतनी अपेक्षा आयी तो व्यवहार। **इसी प्रकार श्रुतबिन्दु में (श्लोक द्वारा) कहा है कि...** आचार्य ने इसमें बहुत गाथायें ली हैं। अभेद की सिद्ध करने को भेद को व्यवहार कहना है और अभेद को निश्चय कहना है। यह श्रुतबिन्दु में कहा है।

जयति विजितदोषोऽमर्त्यमर्त्येन्द्रमौलि-
प्रविलसदुरुमालाभ्यर्चिताङ्घ्रिर्जिनेन्द्रः।

त्रिजग-दजगती यस्येदृशौ व्यश्नुवाते,
सममिव विषयेष्वन्योन्य-वृत्तिं निषेद्धुम्॥

भगवान **जिन्होंने दोषों को जीता है,...** सर्वज्ञ परमात्मा, तीर्थंकर देव और केवली आदि सब। **दोषों को जीता है, जिनके चरण देवेन्द्रों तथा नरेन्द्रों के मुकुटों में प्रकाशमान मूल्यवान मालाओं से पुजते हैं...** भगवान के चरण पुजते हैं **(अर्थात् जिनके चरणों में इन्द्र तथा चक्रवर्तियों के मणिमालायुक्त मुकुटवाले मस्तक अत्यन्त झुकते हैं)...** यह पुण्य वर्णन किया। दोष नाश हुए हैं, यह गुण वर्णन किये। भगवान ने दोषों को जीता है, यह गुण वर्णन किये और यह पुण्य वर्णन किया। पुण्य भी ऐसा। पवित्रता पूरी और पुण्य भी पूर्ण। तीर्थंकर दोनों में पूरे होते हैं।

और (लोकालोक के समस्त) पदार्थ एक-दूसरे में प्रवेश को प्राप्त न हों... अर्थात् कि भिन्न-भिन्न ज्ञात होते हैं। परमाणु, परमाणुरूप से; आत्मा, आत्मारूप से; धर्मास्ति, धर्मास्तिक रूप से; गुण, गुणरूप से; पर्याय, पर्यायरूप से। **एक-दूसरे में प्रवेश को प्राप्त न हों, इस प्रकार तीन लोक और अलोक जिनमें एक साथ ही व्याप्त हैं...** लो! तीन लोक और अलोक जिसमें एक ही साथ व्यापते हैं। **(अर्थात् जो जिनेन्द्र को युगपत् ज्ञात होते हैं), वे जिनेन्द्र जयवन्त हैं।** इस जगत में जिनेन्द्र बिराजते हैं। ज्ञान से पर को जाने, दर्शन से पर को देखे। आत्मा से भी स्व-पर को देखे। यह व्यवहार हो गया न? दो हुए इसलिए। ऐसा जिनेन्द्रपना जयवन्त वर्तता है। इसकी टीका मुनि स्वयं करते हैं।

व्यवहरण-नयेन ज्ञान-पुञ्जोऽयमात्मा,
प्रकटतर-सुदृष्टिः सर्व-लोक-प्रदर्शी।
विदितसकलमूर्तामूर्ततत्त्वार्थसार्थः,
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः॥२८०॥

केवलज्ञान, केवलदर्शन में (अज्ञानियों की) गड़बड़ है, वह सब समझाते हैं। कितने ही तो, केवलज्ञान है ही नहीं - ऐसा कहते हैं। एक समय में, और सब जाने, ऐसा होता है? कोई कहे केवलज्ञान जाने और केवलदर्शन देखे, इसका अन्तर है, समयभेद है। यह पहली बात स्पष्टीकरण कर गये। कोई कहे, भाई! केवलज्ञान और

केवलदर्शन... ज्ञान पर को प्रकाशित करता है और दर्शन स्व को। इतना भेद ही है, ऐसा माने। उसके सामने यह सब तर्क हैं। समझ में आया? आवे तब, सभी बात आवे न?

ज्ञानपुंज ऐसा यह आत्मा अत्यन्त स्पष्ट दर्शन होने पर (अर्थात् केवलदर्शन प्रगट होने पर) व्यवहारनय से सर्व लोक को देखता है... आत्मा के अतिरिक्त परचीज़ है न? इसलिए उसे देखता है - ऐसा कहना, वह व्यवहारनय है। क्योंकि उसे देखते हुए, उसके सुख-दु:ख को वेदते नहीं हैं। अपने को देखते हुए तो अपने आनन्द को वेदते हुए अपने को देखते हैं और पर को देखते हुए पर के सुख-दु:ख जानते-देखते नहीं, इससे उसे तन्मय हुए बिना देखते हैं, इसलिए उसे व्यवहार कहने में आता है। नहीं जानता, इसलिए नहीं। व्यवहार से जानता है और वास्तव में नहीं जानता - ऐसा नहीं। समझ में आया? व्यवहार से जानता है, निश्चय से नहीं - ऐसा नहीं। व्यवहार से जानता है, इसका अर्थ कि उसमें तन्मय होकर नहीं जानते, परन्तु जानते हैं सब। समझ में आया? ऐसा आत्मा एक पर्याय में ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण, उसका सामर्थ्य इतना, ऐसे आत्मा को आत्मा कहा जाता है। समझ में आया?

आत्मा अत्यन्त स्पष्ट दर्शन होने पर (अर्थात् केवलदर्शन प्रगट होने पर) व्यवहारनय से सर्व लोक को देखता है तथा (साथ में वर्तते हुए केवलज्ञान के कारण)... अब ज्ञान डाला। **समस्त मूर्त-अमूर्त पदार्थसमूह को जानता है।** पहले में देखने की बात थी। **वह (केवलदर्शनज्ञानयुक्त) आत्मा...** अब आत्मा डाला। दर्शन पर को देखता है, ज्ञान पर को जानता है, ऐसे आत्मा भी **वह (केवलदर्शनज्ञानयुक्त) आत्मा परमश्रीरूपी कामिनी का (मुक्तिसुन्दरी का) वल्लभ होता है।** यह आत्मा मुक्तिरूपी परम आनन्द की दशा, उसे छोड़े नहीं, ऐसी दशा उसे प्रगट होती है। यह व्यवहार की बात की। अब निश्चय से। १६५ (गाथा)।

णाणं अप्पपयासं णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा।
अप्पा अप्पपयासो णिच्छय-णयएण दंसणं तम्हा॥१६५॥

यह तो इस गाथा में डाला है सब। जरा वह खटका था १६५ में, जड़ जैसा है, ऐसी वह टीका डाली थी।

मुमुक्षु : व्यवहारनय का कथन है, उसे मानते नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा नहीं। वह तो बराबर है - ऐसा मानते हैं। गुणभेद भेद से कहा है... इस दर्शन-विशुद्धि से रहित मूर्ख है। पर को देखे और जाने तथा स्व को देखे और जाने नहीं, पर को देखे और जाने, यह ज्ञान पर को जाने, और दर्शन स्व को देखे? उसे पाठ में है इतना भले अर्थ विशेष किया। परन्तु इतना तो है न? पाठ देखो!

णाणं परप्पयासं दिट्ठी अप्पप्पयासया चेव।
अप्पा सपरपयासो होदि त्ति हि मण्णसे जदि हि॥१६१॥

ज्ञान पर को जाने, दर्शन स्व को देखे और आत्मा स्व-पर को प्रकाशित करे, ऐसा होवे तो वह **मण्णसे जदि** ऐसा यदि मानता हो तो... ऐसा कहकर झूठा सिद्ध किया है। वह तो यह टीका की इन्होंने। **इस प्रकार हे जड़मति प्राथमिक शिष्य! यदि तू दर्शनशुद्धि के अभाव के कारण मानता हो, तो वास्तव में तुझसे अन्य कोई पुरुष जड़ (मूर्ख) नहीं है।** आचार्य उसे ऐसा कहते हैं और तू... पद्मप्रभमलधारिदेव मुनिरूप से ऐसे (को) मूर्ख सिद्ध करते हैं! किस अपेक्षा से कहते हैं। भेद से ही मात्र तू मानता हो और अभेद न माने, तो तू मूर्ख है - ऐसा कहते हैं। मात्र व्यवहार से जो माना है, उसे ही माने। आत्मा निश्चय अभेद है। उसके ज्ञान से स्व-पर को जाने, दर्शन से स्व-पर को जाने और आत्मा भी स्व-पर को जाने, ऐसा उसका स्वरूप है। आहाहा!

णाणं अप्पपयासं णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा।
अप्पा अप्पपयासो णिच्छय-णयएण दंसणं तम्हा॥१६५॥

नीचे हरिगीत-

है ज्ञान निश्चय निज-प्रकाशक इसलिए त्यों दर्श है।
है जीव निश्चय निज-प्रकाशक इसलिए त्यों दर्श है॥१६५॥

ओहो! कुन्दकुन्दाचार्य जैसे तीसरे नम्बर पर आये। भगवन महावीर और पश्चात् गणधर और पश्चात् कुन्दकुन्दाचार्य। उन्हें इस बात का इतना स्पष्टीकरण करना पड़ा। मुनि महासन्त हैं। उनके सभी मार्गानुसारी जो यह मुनि आदि हुए हैं, वे इनके मार्गानुसारी कहलाते हैं। उन्होंने इतना स्पष्टीकरण करना पड़ा। गुणभेद के अकेले गुण को माने और

अभेद को न माने तो अज्ञान है। तेरी दृष्टि मिथ्या है - ऐसा कहते हैं। व्यवहार ही अकेला माने और निश्चय न माने तो तू मूर्ख है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? १६५ की टीका।

यह, निश्चयनय से स्वरूप का लक्षण है। पहले में व्यवहारनय से आया था।

मुमुक्षु : व्यवहारनय से सफलपना....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, सफलपना अर्थात् इससे कहा कि यह पर को जानता है, इतनी अपेक्षा इसकी व्यवहार की है। जानने में पर की अपेक्षा आयी न? पर की अपेक्षा आयी, वह व्यवहार है; स्व की अपेक्षा आवे, इसका नाम निश्चय है।

यहाँ निश्चयनय से शुद्ध ज्ञान का लक्षण स्वप्रकाशकपना कहा है;... लो, निश्चय से तो शुद्धज्ञान स्व—अपने को ही प्रकाशित करता है। स्वयं अपने को ही जानता है। **उसी प्रकार सर्व आवरण से मुक्त शुद्ध दर्शन भी स्वप्रकाशक ही है।** ज्ञान जैसे स्वप्रकाशक है, वैसे दर्शन भी स्वप्रकाशक है। दर्शन अर्थात् समकित नहीं, दर्शनोपयोग। आहाहा! **आत्मा वास्तव में, उसने सर्व इन्द्रिय-व्यापार को छोड़ा होने से, स्वप्रकाशकस्वरूप लक्षण से लक्षित है;...** तीसरे का डालना है न? जैसे ज्ञान स्वप्रकाशक है, वैसे दर्शन स्वप्रकाशक है, वैसे आत्मा भी स्वप्रकाशक है, (ऐसा)।

सर्व इन्द्रिय-व्यापार को छोड़ा होने से,... ऐसा **स्वप्रकाशकस्वरूप लक्षण से लक्षित है;...** यह तो। **सर्व इन्द्रिय-व्यापार को छोड़ा होने से, स्वप्रकाशकस्वरूप लक्षण से लक्षित है; दर्शन भी, उसने बहिर्विषयपना छोड़ा होने से, स्वप्रकाशकत्वप्रधान ही है।** ऐसा लिया। कहो, समझ में आया? दर्शन नाम की पर्याय, वह भी बहिर्विषयपना छोड़ा है। क्योंकि व्यवहार में बहिर्विषय आता है, निश्चय में तो परविषय नहीं आता। इसलिए जिसने बहिर्विषयपना-व्यवहारपना छोड़ा है, ऐसा कहते हैं। **स्वप्रकाशकत्वप्रधान ही है।** दर्शन भी स्व को प्रकाशे, ऐसी मुख्यता है। प्रधान ही है। उसमें ऐसा कहा, ज्ञानप्रधान है।

इस प्रकार स्वरूपप्रत्यक्ष-लक्षण से लक्षित... देखो! अपना जो द्रव्य-गुण-पर्याय का पूरा स्वरूप है, ऐसे **स्वरूपप्रत्यक्ष-लक्षण से लक्षित...** अपने स्वरूप को

प्रत्यक्ष लक्षण के लक्षणवाला यह आत्मा है। कहो, समझ में आया? **अखण्ड-सहज-शुद्धज्ञानदर्शनमय होने के कारण,...** अखण्ड है। स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय होने के कारण। स्वाभाविक ज्ञान और दर्शन आत्मा के साथ अभेद है। **निश्चय से...** वास्तव में **त्रिलोक-त्रिकालवर्ती...** तीन लोक में रहनेवाले और त्रिकालवर्ती, उसमें आकाश भी आ जाता है। **स्थावर-जंगमस्वरूप...** स्थिर और गति करनेवाले द्रव्यस्वरूप **समस्त द्रव्यगुणपर्यायरूप विषयों...** समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय विषय **सम्बन्धी प्रकाश्य-प्रकाशकादि विकल्पों से...** रहित। प्रकाश्य और प्रकाशक, प्रकाशित करनेयोग्य और प्रकाश करनेवाला, ऐसा भी जिसमें भेद नहीं।

अति दूर वर्तता हुआ,... भेद से अति दूर वर्तता हुआ। प्रकाश करनेवाला है और यह प्रकाश दिखता है। प्रकाशित योग्य ज्ञात होता है और प्रकाश करनेवाला है - ऐसा भेद भी उसमें नहीं है। ऐसे भेद से प्रकाश्य और प्रकाशक, प्रकाशनयोग्य-जाननेयोग्य और जाननेवाला, ऐसे (भेद से) **विकल्पों से अति दूर वर्तता हुआ,...** सूक्ष्म अधिकार है, भाई! यह नियमसार। ऐसी बात अन्यत्र कहीं नहीं आती। श्वेताम्बर में तो यह बात कहीं नहीं है। वह तो व्यवहार से ऐसा है और वैसा है। वह तो एक समय में जानते हैं और दूसरे समय में देखते हैं, बस जाओ।

यहाँ तो कहते हैं कि जाननेवाला और ज्ञात होनेयोग्य, ऐसा भी जिसमें भेद - प्रकार नहीं पड़ता। आहाहा! कहो, समझ में आया? अपने को ही प्रकाशित करता है और प्रकाशनेयोग्य भी स्वयं ही है, ऐसा भी जिसमें भेद नहीं है। आहाहा! पर को जानता है और जाननेवाला स्वयं, यह भी उसमें निश्चय से तो है नहीं। क्या कहा, समझ में आया? परप्रकाश्य—ज्ञात होनेयोग्य और ज्ञान, प्रकाशक, ऐसा तो उसमें नहीं। परन्तु स्वयं अपने में भेद कि प्रकाशनेयोग्य आत्मा और प्रकाश करनेवाला आत्मा - ऐसा भेद उसमें नहीं। समझ में आया?

स्वस्वरूपसंचेतन जिसका लक्षण है... लो! स्व-स्वरूप संचेतन। अपने स्वरूप का ही वेदन करे और जाने, ऐसा जिसका लक्षण है। **ऐसे प्रकाश द्वारा सर्वथा अन्तर्मुख होने के कारण,...** वह तो सर्वथा अन्तर्मुख है। **आत्मा निरन्तर अखण्ड-अद्वैत-**

चैतन्यचमत्कारमूर्ति रहता है। लो! आहाहा! भगवान आत्मा निरन्तर सदा अखण्ड अद्वैत चैतन्य चमत्कारमूर्ति; चैतन्य चमत्कारवाला, ऐसा नहीं। चैतन्य चमत्कारमूर्ति अभेद। बहुत सूक्ष्म बात, भाईसाहेब! थोड़ी-थोड़ी चलती है, भाई! यह कहीं बहुत... आचार्य ने ही स्वयं इतना कहा है। इसकी पूरी दशा प्राप्त होने पर पूरी दशा का स्वरूप क्या है? समझ में आया? और पूरा न जाने तो वह ज्ञान कैसा? तो पूरा जानने का प्रकार क्या? - कि पर को पूरा जानना, यह? स्व को पूरा जानना, यह? पर को पूरा जानना - ऐसा कहना, वह तो व्यवहार है। पर की अपेक्षा आयी इसलिए। निश्चय को पूरा जानना, यह तो इसका स्वरूप है, ऐसा कहते हैं।

स्वस्वरूपसंचेतन जिसका लक्षण है... यह तो। अपने पूर्ण आनन्द, ज्ञान, द्रव्य-गुण-पर्याय को पूर्ण रीति से प्रत्यक्ष स्व को जाने, यह तो उसका प्रत्यक्ष लक्षण-स्वभाव है। सर्वथा अन्तर्मुख है। वह तो अन्तर्मुख ही है। पर को जानता है, इसलिए बहिर्मुख हो गया है - ऐसा नहीं है, परन्तु पर को जानना, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। समझ में आया? एक तो धर्म का स्वरूप सूक्ष्म, और उसमें ज्ञान-दर्शन का फल जो मोक्षमार्ग है, वह सूक्ष्म। एक तो कहे, विकल्प से धर्म होता नहीं है। यहाँ कहे, भेद से आत्मा जानता नहीं है। वह अभेद ही निश्चय अन्तर्मुख से जानता है। कहो, समझ में आया? व्यवहार का विकल्प है, उससे धर्म नहीं होता। वैसे आत्मा भेद से अपने को और पर के जाने, ऐसा है नहीं। अन्तर्मुख से अभेद तत्त्व, वह जानता है। ऐसा निश्चय स्थिति सिद्ध की। समझ में आया?

निरन्तर अखण्ड-अद्वैत-चैतन्यचमत्कारमूर्ति रहता है। लो, मूल आत्मा को वर्तमान में सब बदलकर सब क्रियाकाण्ड में फँस गया, जो कुछ धर्म का स्वरूप ही नहीं। यह स्वरूप ज्ञान-दर्शन स्वरूपवाला आत्मा है। दर्शन अर्थात् उपयोग... उसका स्वरूप ही त्रिकाल ज्ञान और दर्शनस्वरूप है। पंचास्तिकाय में सब जगह आता है। अपने समयसार में आ गया! दर्शन-ज्ञान अर्थात् नियतवृत्ति। नियतवृत्ति, दूसरी गाथा में आया है। भगवान आत्मा ज्ञान-दर्शन दो, इसका निश्चय अस्तित्व टिकना, ऐसा इसका स्वरूप है। समझ में आया? ऐसा यह चैतन्य चमत्कार मूर्ति, अपने को जानता है, उसमें अनादि-अनन्त उस प्रमाण जिसका सिद्धपना आदि है, वह ऐसा ही रहा करता है।

मुनिराज श्लोक कहते हैं -

(अब इस १६५ गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं।)

आत्मा ज्ञानं भवति नियतं स्वप्रकाशात्मकं या,
दृष्टिः साक्षात् प्रहत-बहिराल-बना सापि चैषः।
एकाकार-स्व-रस-विसरापूर्ण-पुण्यः पुराणः,
स्वस्मिन्नित्यं नियतवसतिर्निर्विकल्पे महिम्नि॥२८१॥

दृष्टि शब्द से यहाँ दर्शन है। '**विसरापूर्ण**' यह शब्द बहुत जगह आता है, अन्यत्र आता है। '**एकाकारस्वरस-विसरापूर्णपुण्यः**' अमृतचन्द्राचार्य की बहुत शैली ली है। **निश्चय से आत्मा स्वप्रकाशक ज्ञान है;...** यह स्वयं अपने को ही प्रकाशित करता है, ऐसा ही उसका स्वभाव है। यह शरीर और वाणी ज्ञात होते हैं न? लोकालोक ज्ञात होता है न? - कहते हैं, नहीं। यह अपना जो ज्ञान हुआ है, वह ज्ञान ज्ञात होता है। केवली को भी लोकालोक का जो ज्ञान हुआ है, वह ज्ञान ज्ञात होता है। समझ में आया?

जिसने बाह्य आलम्बन नष्ट किया है... निश्चय से तो व्यवहार का निषेध करना है न? बाह्य का अवलम्बन, लोकालोक का जानना, वह इसमें है नहीं। ऐसा यह स्वप्रकाशक है। यहाँ भी इस ज्ञान की पर्याय में यह शरीर, राग, यह ज्ञात हो, वह शरीर और रागादि नहीं ज्ञात होते, कहते हैं; ज्ञान की पर्याय में ज्ञान स्वयं अपने को जाने और स्वयं ज्ञात होता है। समझ में आया? जैसे व्यवहार से भगवान पर को जाने और तन्मय नहीं, वैसे आत्मा नीचे भी राग और पर को व्यवहार से जाने, परन्तु उनमें तन्मय नहीं। समझ में आया?

राग है, पुण्य है, दया-दान के विकल्प हैं, उन्हें धर्मी जीव-आत्मा। आत्मा उसे कहते हैं न? वह रागादि को जाने, शरीर को जाने, ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। क्योंकि उन्हें वास्तव में जानता नहीं। वास्तव में तो अपनी ज्ञानपर्याय, द्रव्य-गुण-पर्याय को जानती है। समझ में आया? नीचे भी बाह्य अवलम्बन का त्याग है, भगवान को भी बाह्य अवलम्बन का त्याग है। समझ में आया? धर्मी जीव में, अर्थात आत्मा में, अर्थात्

आत्मा की दृष्टि हुई वह, उसे भी बाह्य का अवलम्बन है नहीं, ऐसा कहते हैं। परन्तु यहाँ तो आत्मा की लगायी है। कहनेवाले की-फहनेवाले की यहाँ बात कहाँ है ? आहाहा!

भगवान का ज्ञान स्वप्रकाशक है। उस ज्ञान ने बाह्य का अवलम्बन छोड़ा है। लोकालोक है, इसलिए स्व को जानता है - ऐसा नहीं। आहाहा! वह ज्ञान की पर्याय ही इतनी प्रगट हुई है, उसे ही वह जानता है। उसे जानने से पर को जानता है - ऐसा कहना, वह व्यवहार कहने में आता है। आहाहा! परमात्मप्रकाश का दृष्टान्त दिया था, नहीं ? योगीन्द्रदेव कहते हैं, भाई! पानी है, ऐसे पानी-जल, नदी का स्वच्छ निर्मल जल; रात्रि का समय (हो), ऊपर लाखों-करोड़ों चन्द्र और तारे, वे पानी में ज्ञात होते हैं। उस पानी में वे चन्द्र और तारे नहीं है। वहाँ है ? पानी है न, पानी ? पानी की स्वच्छता, वह सब एक ही रूप स्वयं का है, पानी का वह रूप है; वह कहीं पर के कारण से है और पर उसमें आया है - ऐसा नहीं है। समझ में आया ? स्वच्छ पानी का प्रवाह चलता हो, उसे ऐसे देखने पर वह सब पानी की ही पर्याय है। उस पर्याय में चन्द्र-सूर्य आदि सब दिखायी देते है, वह कहीं चन्द्र-सूर्य नहीं है, वह तो जल की अवस्था है। इसी प्रकार केवलज्ञान में लोकालोक ज्ञात होता है, वह कहीं लोकालोक उसमें नहीं आया है। लोकालोक सम्बन्धी का स्वयं का ज्ञान हुआ, उसे वह जानता है। समझ में आया ? भाई! यह तो वीतरागमार्ग है। इसे किसी के साथ मिलाया जा सके, ऐसा नहीं है। ऐसी बात है। साधारण प्राणी को ऐसा लगता है न, केवली... भगवान जैसा कुछ... यह भगवान का मार्ग, सर्वज्ञ के कहे हुए ऐसे मार्ग की निश्चय-व्यवहार की बात ही जगत में नहीं है।

अकेला भगवान आत्मा अपने ज्ञान की निर्मलता में, जिस निर्मलता को जानता है, उसमें लोकालोक ज्ञात होता है, ऐसा कहना व्यवहार है। परन्तु उस सम्बन्धी का, अपने सम्बन्धी का ज्ञान जो परिणमा है, उसे जानता है, वह निश्चय है। समझ में आया ? यह पानी के दृष्टान्त से। यहाँ भी यही है। अपना जो ज्ञानस्वभाव, वह आत्मा, ज्ञानरूप परिणमन हुआ, ज्ञान की अवस्था हुई, उस ज्ञान में ज्ञान की पर्याय ज्ञात होती है, उस पर्याय में लोकालोक सम्बन्धी का ज्ञान आया है, उसके सम्बन्धी का नहीं, परन्तु उस सम्बन्धी का अपना। वह ज्ञान ज्ञात होता है। यहाँ तो नीचे भी राग, पुण्य और व्यवहार को जानना कहना, वह भी व्यवहार है। वह भी परालम्बी हो गया।

भगवान आत्मा अपनी ज्ञानपर्याय, स्व-पर को प्रकाशित करने की ताकतवाला ज्ञान, वह ज्ञान स्व का अपना है। सर्वज्ञ आया या नहीं? सर्वज्ञ हुआ न? सर्वज्ञ अर्थात् सर्व को जाने, इसलिए सर्वज्ञ है, ऐसा नहीं। इसे जाने इसलिए सर्वज्ञ, सर्व शब्द इसमें आया है? सर्वज्ञ ज्ञान की पर्याय, वह आत्मज्ञपर्याय है। सर्व शब्द लागू पड़ा, इसलिए व्यवहार हो गया, ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? इसलिए यह बड़ा विवाद उठा है न? देखो! सर्वज्ञ कहा। सर्व में सर्व आया, सर्व आया वह पर आया, पर आया इसलिए व्यवहार से पर को जानता है, निश्चय से पर को (जानता) नहीं, परन्तु किस अपेक्षा से? समझ में आया?

यह सर्वज्ञपना ही अपना आत्मज्ञपना निश्चय से है। उसे जानता है। समझ में आया या नहीं? अपनी पर्याय जो सर्वज्ञपना प्रगट हुआ है, वह आत्मज्ञ ही है। वह आत्मा का जाननेवाला है। सर्वज्ञ पर्याय, वह आत्मज्ञ है, आत्मा की पर्याय है। वह पर के कारण सर्वज्ञ पर्याय हुई है, ऐसा नहीं है। आहाहा! सर्वज्ञपने में इतने अधिक बड़े विवाद। अभी जैन में गड़बड़ उठती है और बहुत दरकार समझना न हो, उसे जो भगवान कहे वह सच्चा, जाओ। परन्तु भगवान क्या कहते हैं, उसका तुझे सच्चा निर्णय आये बिना तुझे सच्चा कहाँ से होगा? और दूसरा कोई कहेगा, वहाँ भी हाँ... हाँ... यह बराबर है, यह बराबर है। भगवान का मार्ग अनेकान्त है। किस प्रकार से अनेकान्त है? स्व से जानना वह बराबर है। पर को जानना, वह व्यवहार कहने में आता है, वास्तव में वह पर को जानता नहीं। ऐसा अनेकान्त है। समझ में आया?

बाह्य आलम्बन नष्ट किया है ऐसा (स्वप्रकाशक) जो साक्षात् दर्शन उस-रूप भी आत्मा है। लो ठीक। आत्मा स्वप्रकाश ज्ञान है, जिसने बाह्य अवलम्बन छोड़ा है, नष्ट किया है। वह **जो साक्षात् दर्शन उस-रूप भी आत्मा है।** दर्शन ने भी बाह्य का अवलम्बन छोड़ा है, ऐसा कहते हैं। जैसे ज्ञान स्व-प्रकाशक है, वैसे दर्शन भी स्व-प्रकाशक ही है। उसने बाहर का देखना है नहीं। वह तो उसको अनुकूल पड़े। यह तो दूसरी बात कहते हैं। वहाँ ऐसा कहते हैं कि दर्शन अभ्यन्तर है। यहाँ तो अभ्यन्तर और बाह्य का जो दर्शन है, वह निश्चय से स्व का ही है, ऐसी बात है यह तो। समझ में आया? यह तो अन्तर आत्मा की अन्तर वस्तु क्या है, उसकी बात चलती है। आहाहा!

भगवान आत्मा तो ज्ञान और दर्शन से पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... भरपूर पदार्थ है। उसकी जो पर्याय अर्थात् ज्ञानदशा प्रगट हुई, वह भी स्वयं के आश्रय से प्रगट होती है। वह कहीं लोकालोक है, इसलिए केवलज्ञान प्रगट होता है, (ऐसा नहीं है)। लोकालोक तो अनादि के हैं। उससे होवे तो अनादि का केवलज्ञान सबको होना चाहिए। वह केवलज्ञान और केवलदर्शन भी स्वयं से होता है और वह अपने को ही जानता है, ऐसा कहते हैं। अपने से होता है और अपने को ही जानता है। क्योंकि स्वयं तन्मय होकर जानता है, इसलिए निश्चय है। दूसरे को तन्मय होकर नहीं जानता, इसलिए जानता है कहना, यह व्यवहार कहने में आता है। कहो, समझ में आया?

उस-रूप भी आत्मा है। वापस। जैसे ज्ञानरूप आत्मा है, वैसे दर्शनरूप भी आत्मा है। **एकाकार निजरस के विस्तार से पूर्ण होने के कारण...** भगवान आत्मा एक ही स्वरूप अखण्ड ज्ञान और दर्शनरूप परिणमित हुआ, एकाकार निजशक्ति का विस्तार, अपनी शक्ति का ही फैलाव हुआ है। आहाहा! जानना-देखना, वह निजशक्ति सम्पूर्ण थी, उसका ही फैलाव। विस्ताररूप से उसका परिणमन हुआ। **जो पवित्र है...** अपने **निजरस के विस्तार से पूर्ण होने के कारण जो पवित्र है...** ऐसा। पर को जानना, इसलिए पवित्र है, (ऐसा नहीं)। कहते हैं न, अपने थोड़ा जानते हैं तो थोड़ा। भगवान तो सबको जानते हैं, इसलिए पर को देखने का अनन्त सुख है। क्यों यह नाटक थोड़ा देखने जाए तो उसमें थोड़ा सुख नहीं? भले ही कल्पित किया हुआ। भगवान तीन काल, तीन लोक का नाटक देखते हैं, इसलिए वे सुखी हैं। ऐसा नहीं है। स्वयं को पूर्णरूप से प्रगट हुआ है, इसलिए सुखी हैं और अपने को पूर्णरूप से जानते हैं, इसलिए सुखी हैं। आहाहा!

एकाकार निजरस के विस्तार से पूर्ण होने के कारण... देखो, ऐसा कहते हैं। पर के कारण नहीं, प्रगट अपनी शक्तिरूप फैलाव से, विस्तार से; इस प्रकार वह पवित्र है। जिसे किसी की अपेक्षा नहीं। **तथा जो पुराण (सनातन) है...** भगवान सनातन आत्मा, अनादि का यह आत्मा है। **ऐसा यह आत्मा सदा अपनी निर्विकल्प महिमा में निश्चितरूप से वास करता है।** ऐसा आत्मा सदा अपनी अभेद महिमा में, अपने प्रकाश महिमा में **निश्चितरूप से वास करता है।** पर की अपेक्षा जिसे है नहीं। आचार्य ने स्वयं

इतना स्पष्टीकरण किया है। व्यवहार से वहाँ... कहा है। यह तो इन्होंने और जरा गाथाएँ आगे-पीछे की है। कैसा सागर? ....सागर। उसने कुछ आगे-पीछे गाथाएँ की हैं। अधिक चतुर हैं। किसी ने कुछ न कुछ किया है... कुछ न कुछ किया है... कुछ न कुछ किया है... इसने गाथा आगे-पीछे की है। नग्न साधु है। आये थे। आठ दिन रहे थे। प्रतिमाधारी थे तब। देखो! भाई! क्या कहते हैं?

अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ॥१६६॥

निश्चय का पहले डाला है, व्यवहार का बाद में डालेंगे। पर को जाने और स्व को न जाने, ऐसा कोई व्यवहार से कहे थे उसे क्या? यह बाद में कहेंगे। वरना तो स्व को जाने और पर को न जाने, ऐसा कोई कहे तो उसमें दूषण क्या है? ऐसा कहे। नीचे हरिगीत।

प्रभु केवली निजरूप देखें और लोकालोक ना।
यदि कोइ यों कहता अरे उसमें कहो है दोष क्या॥१६६॥

श्रीमद् में ऐसा आता है, देखो न! क्या आया है? 'केवल निजस्वभाव का अखण्ड वर्ते ज्ञान, कहिये केवलज्ञान वह देह होत निर्वाण।' लोकालोक आया नहीं। वहाँ निश्चय डाला है।.... 'केवल निजस्वभाव का अखण्ड वर्ते ज्ञान, कहिये केवलज्ञान वह देह होत निर्वाण।' वह निश्चय से अपने को....

यह, शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा से... विवक्षा अर्थात् कहना। शुद्ध निश्चय के कथन से **परदर्शन का (पर को देखने का) खण्डन है।** पर को वास्तव में नहीं देखता, इस तरह खण्डन करते हैं। आहाहा! **यद्यपि व्यवहार से एक समय में तीन काल सम्बन्धी पुद्गलादि द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानने में समर्थ सकल-विमल केवलज्ञानमयत्वादि...** केवलज्ञान आदि, **केवलज्ञानमयत्वादि विविध महिमाओं का धारण करनेवाला है, तथापि वह भगवान,...** व्यवहार से एक समय में तीन काल-तीन लोक सम्बन्धी **पुद्गलादि द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानने में समर्थ...** व्यवहार से। **सकल-विमल केवलज्ञानमयत्वादि विविध महिमाओं का धारण करनेवाला है, तथापि वह**

भगवान, केवलदर्शनरूप तृतीय लोचनवाला होने पर भी,... केवलदर्शनरूप तीसरे नेत्रवाला होने पर भी, **परम निरपेक्षपने के कारण निःशेषरूप से (सर्वथा) अन्तर्मुख होने से....** दो आँखों के उपरान्त केवलदर्शन तीसरा लोचन है, ऐसा कहते हैं। वहाँ पर को देखने की अपेक्षा ली है, तथापि वह व्यवहार से पर को देखता है, ऐसा है।

परम निरपेक्षपने के कारण निःशेषरूप से (सर्वथा) अन्तर्मुख होने से केवल स्वरूपप्रत्यक्षमात्र व्यापार में लीन... लो। अकेला स्वरूपप्रत्यक्ष में लीन। भले उसे केवलदर्शन कहो या पर को देखने की अपेक्षावाला, परन्तु परमार्थ से केवल स्वरूपप्रत्यक्षमात्र, अकेला स्वरूपप्रत्यक्षमात्र व्यापार में लीन। स्वरूपप्रत्यक्ष पहले एक आ गया है। वह त्रिकाल की बात है। पहले आ गया है वह। ज्ञान में आ गया है। यह उसकी पर्याय की बात है। **केवल स्वरूपप्रत्यक्षमात्र व्यापार में लीन...** उपयोग के अधिकार में यह आया है। वह त्रिकाली स्वरूपप्रत्यक्ष। त्रिकाली वस्तु स्वरूपप्रत्यक्ष ही है। यह स्वरूपप्रत्यक्ष पर्याय की बात है।

केवल स्वरूपप्रत्यक्षमात्र... अकेला स्वरूपप्रत्यक्ष। ज्ञान-दर्शन आदि की पर्याय, अखण्ड प्रत्यक्षपना ऐसे **व्यापार में लीन...** लो! ऐसी पर्याय में वह अभेद लीन है। **ऐसे निरंजन निज सहजदर्शन द्वारा...** ऐसे निरंजन—अंजनरहित निर्मल निज सहजदर्शन द्वारा **सच्चिदानन्दमय आत्मा को...** लो! सच्चिदानन्दमय भगवान आत्मा को। लो, आत्मा को यहाँ सच्चिदानन्द कहा। वह कहे, सच्चिदानन्द अपने होता नहीं। सच्चिदानन्द अन्य को होता है। शब्द को क्या दिक्कत है, सुन न! सच्चिदानन्दमय आत्मा। सत् अर्थात् शाश्वत् चिद् और आनन्द। ज्ञान और आनन्दमय ऐसा भगवान यह आत्मा। यह तो आत्मा की व्याख्या है। यह लोग सच्चिदानन्द कहते हैं, वह तो भगवान और सब व्यापक है, ऐसा कहते हैं। ऐसा नहीं है। यह तो एक ही भगवान आत्मा अपने **निरंजन निज सहजदर्शन द्वारा...** निरंजन निज सहजदर्शन द्वारा। निर्विकल्प शुद्ध पूर्ण हुए दर्शन द्वारा। **सच्चिदानन्दमय आत्मा को निश्चय से देखता है...** वह स्वयं अपने को ही वास्तव में देखता है।

(परन्तु लोकालोक को नहीं)-ऐसा जो कोई भी शुद्ध अन्तःतत्त्व का वेदन करनेवाला (जाननेवाला, अनुभव करनेवाला) परम जिनयोगीश्वर शुद्धनिश्चयनय

की विवक्षा से कहता है, उसे वास्तव में दूषण नहीं है। निश्चय से अपने को जानता है, लोकालोक को नहीं। तो वह बराबर है। अपने को जानता है, इसका अर्थ कि लोकालोक सम्बन्धी का ज्ञान अपना है, उसे जानता है। लोकालोक को नहीं। समझ में आया? ऐसे धर्म की बातें कहेंगे सूक्ष्म पड़ेगी। तेरे घर की बातें कैसी है और क्यों है, उसका निर्णय है यह तो। तेरे घर में क्या है? तेरे लिये क्या है? तुझमें क्या है? आहाहा! शुद्ध अन्तःतत्त्व का वेदन करनेवाला ऐसा कोई परम मुनि शुद्धनिश्चयनय के कथन से कहे, उसे वास्तव में दूषण नहीं है। इतना स्पष्टीकरण वहाँ अन्दर से श्लोक में से किया है।

[अब, इस १६६वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:] लो! २८२।

पश्यत्यात्मा सहज-परमात्मान-मेकं विशुद्धं,
स्वान्तःशुद्ध्यावसथमहिमाधारमत्यन्तधीरम्।
स्वात्मन्युच्चै-रविचलतया सर्वदान्तर्निमग्नं,
तस्मिन्नैव प्रकृति-महति व्यावहार-प्रपञ्चः ॥२८२॥

(निश्चय से)... इसका स्पष्टीकरण नीचे किया है, देखो! **यहाँ निश्चय-व्यवहार सम्बन्धी ऐसा समझना कि—जिसमें स्व की ही अपेक्षा हो, वह निश्चयकथन है...** स्व-आश्रय निश्चय। **जिसमें पर की अपेक्षा आये, वह व्यवहारकथन है; इसलिए केवली भगवान लोकालोक को—पर को जानते-देखते हैं, ऐसा कहना, वह व्यवहारकथन है और केवली भगवान स्वात्मा को जानते-देखते हैं, ऐसा कहना, वह निश्चयकथन है।** जिसमें स्व की अपेक्षा हो, वह निश्चय और पर की अपेक्षा हो, वह व्यवहार। **यहाँ व्यवहारकथन वाच्यार्थ ऐसा नहीं समझना कि जिस प्रकार छद्मस्थ जीव लोकालोक को जानता-देखता ही नहीं है; उसी प्रकार केवली भगवान लोकालोक को जानते-देखते ही नहीं।** ऐसा नहीं समझना। समझ में आया? लोकालोक को जानते हैं।

छद्मस्थ जीव के साथ तुलना की अपेक्षा से तो केवली भगवान लोकालोक को जानते-देखते हैं, वह बराबर सत्य है—यथार्थ है, क्योंकि वे त्रिकाल सम्बन्धी सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायों को यथास्थित बराबर परिपूर्णरूप से वास्तव में जानते-देखते हैं। 'केवली भगवान लोकालोक को जानते-देखते हैं' ऐसा कहते हुए पर की अपेक्षा

आती है, इतना ही सूचित करने लिए, तथा केवली भगवान जिस प्रकार स्व को तद्रूप होकर... अपने में तद्रूप होकर वेदन करे-अनुभव करे **निजसुख के संवेदनसहित जानते-देखते हैं,...** अपने आनन्द के वेदनसहित जाने-देखे। **उसी प्रकार लोकालोक को (पर को) तद्रूप होकर परसुखदुःखादि के संवेदनसहित नहीं जानते-देखते,...** नारकी को भगवान जाने तो नारकी का दुःख वेदन करते हैं ? समझ में आया ?

परन्तु पर से बिलकुल भिन्न रहकर, पर के सुखदुःखादि का संवेदन किये बिना जानते-देखते हैं, इतना ही सूचित करने के लिए उसे व्यवहार कहा है। परन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि लोकालोक को वे जानते ही नहीं। लोकालोक का ज्ञान, वह तो अपनी पर्याय का ज्ञान है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? यह कहते हैं वे ? कभी प्रश्न उठता है। केवली तो सर्वज्ञ हैं, वे व्यवहार से पर को जानते हैं। परन्तु व्यवहार से पर को जानते हैं, इसका अर्थ क्या ? वे पर को नहीं जानते ? पर में तन्मय होकर नहीं जानते, इसलिए व्यवहार से जानते हैं, ऐसा कहा है। समझ में आया ? इस ज्ञान में अग्नि का ज्ञान होता है या नहीं ? यह ज्ञान अग्नि को जानता है, यह तो व्यवहार हुआ। क्योंकि अग्नि में ज्ञान कहीं एकमेक होकर अग्नि को नहीं जानता। यदि अग्नि में (तन्मय होकर) जाने तो ज्ञान वहाँ जल जाए। ज्ञान अग्नि से भिन्न रहकर अग्नि सम्बन्धी का जो ज्ञान, वह स्वयं को होकर स्वयं को जानता है। आहाहा! इतनी सब चर्चा ली होगी तो कुछ हेतुवश होगी या नहीं ? कुन्दकुन्दाचार्य जैसे अध्यात्म के प्रखर प्रणेता, वे प्रखर स्वसंवेदन के वेदन करनेवाले, प्रचुर स्वसंवेदन। कहो, समझ में आया ? केवलज्ञान और केवलदर्शन की अपनी सम्पत्ति में कुछ फेरफार माने तो वह वस्तु को मान नहीं सकता, इसलिए उसकी छनावट करके बतलाया है।

(निश्चय से) आत्मा सहज परमात्मा को देखता है— ठीक। स्वयं अपने को ही देखता है, उसमें यह सब लोकालोक का ज्ञान आ जाता है। यह लोकालोक का ही नहीं परन्तु अपना। स्व-परप्रकाशक ज्ञान, वह अपना है। परप्रकाशक कहना, वह तो पर की अपेक्षा से भले कहा, परन्तु है वह स्व-परप्रकाशक ज्ञान अपना आत्मज्ञान है। समझ में आया ? **आत्मा सहज परमात्मा को देखता है—कि जो परमात्मा एक है,...** स्वयं एक है, ऐसा यह कहते हैं। सब होकर परमात्मा की बात यहाँ नहीं है। स्वयं अपना

आत्मा एक है। दूसरे के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। **विशुद्ध है, निज अन्तःशुद्धि का आवास होने से (केवलज्ञानदर्शनादि) महिमा का धारण करनेवाला है,...** लो। अन्तःशुद्धिज्ञान और आनन्द का आवास आत्मा है। लोकालोक उसमें नहीं आते, ऐसा कहते हैं। लोकालोक को रहने का वह स्थान नहीं है। परन्तु केवलज्ञान और केवलदर्शन को रहने का वह भगवान आत्मा स्थान है।

अत्यन्त धीर है और निज आत्मा में अत्यन्त अविचल होने से सर्वदा अन्तर्मग्न है। लो। वह स्वयं अपने में ही है। सर्वज्ञ परमात्मा स्वयं अपने में अन्तर्मग्न में ही है। बाहर में कुछ जाते नहीं और बाहर को कुछ देखते नहीं। अपने में रहकर अपने को जानते और देखते हैं। विशेष बाकी है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण १, शुक्रवार, दिनांक-०३-१२-१९७१
गाथा-१६७-१६८, श्लोक-२८२-२८३, प्रवचन-१९२

१६६ गाथा का कलश है, कलश। २८२ है न? आधा चला है, आधा बाकी था, फिर से लेते हैं।

पश्यत्यात्मा सहज-परमात्मान-मेकं विशुद्धं,
स्वान्तः शुद्ध्यावसथमहिमाधारमत्यन्तधीरम्।
स्वात्मन्युच्चै-रविचलतया सर्वदान्तर्निमग्नं,
तस्मिन्नैव प्रकृति-महति व्यावहार-प्रपञ्चः ॥२८२॥

यह ज्ञान-दर्शन की व्याख्या चलती है। भगवान का ज्ञान अपने को जानता है, यह निश्चय है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यहाँ भी वास्तव में तो स्वयं अपने को ही जानता है। पर को जानना, वह तो एक व्यवहार कहने में आता है। पर सम्बन्धी का ज्ञान अपना, वह अपने ज्ञान को जानता है, यह निश्चय है; पर को जानना कहना, वह उपचार से व्यवहार है। भगवान को भी ऐसा है, कहते हैं।

श्लोकार्थ—(निश्चय से) आत्मा सहज परमात्मा... अपना त्रिकाली स्वभाव। आत्मा सहज परमात्मा को, वह अपना सहज परमात्मा, उसे **देखता है—** उसे देखता है। भगवान तो अपनी आत्मा को देखते हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **कि जो परमात्मा एक है,...** स्वयं एक स्वरूप परमात्मा है, उसमें दूसरे लोकालोक की मिलावट नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! केवलज्ञान कैसा होता है, उसकी व्याख्या है। अरिहंत परमात्मा को जो केवलज्ञान होता है, वह केवलज्ञान अपने को देखता है, ऐसा कहते हैं।

विशुद्ध है,... स्वयं परमात्मा आत्मा पूर्ण शुद्ध एक है। **विशुद्ध है, निज अन्तःशुद्धि का आवास होने से...** लो। स्वयं आत्मा अन्तर शुद्धि का रहने का वह आत्मा स्थान है। निर्मल आनन्द आदि दशा का आवास भगवान आत्मा स्वयं है। **(केवलज्ञानदर्शनादि) महिमा का धारण करनेवाला है,...** केवलज्ञान, अनन्त आनन्द आदि दशा का—अवस्था

का वह धारक है। **अत्यन्त धीर है...** परमात्मा अत्यन्त धीर शान्त... शान्त (है)। **और निज आत्मा में अत्यन्त अविचल होने से....** अपने ही आत्मा में यह अत्यन्त और अविचल होने से **सर्वदा अन्तर्मग्न है।** भगवान अपने अन्तर स्वरूप में ही अन्तर्मग्न है। यह थोड़ा सुधारा है। सुधारा है? भाई ने सुधारा है। अब सुधारा है। अन्तर्मग्न के पश्चात्।

स्वभाव से महान ऐसे उस... ऐसा सुधारना। जो लिखा है, उसमें अन्तर है। **स्वभाव से महान ऐसे उस आत्मा में व्यवहारप्रपंच...** यह सब निकाल डालना। यह निकाल देना। **स्वभाव से महान ऐसे उस आत्मा में व्यवहारप्रपंच (विस्तार) है ही नहीं।** समझ में आया? व्यवहार सम्बन्धी प्रपंच करने में आते हैं, यह सब निकाल डालना। यहाँ तो कहते हैं कि भगवान आत्मा अपना और भगवान आत्मा का। यह अपने स्वभाव की महिमा से **उस आत्मा में व्यवहारप्रपंच (विस्तार) है ही नहीं।** पर को जानना, ऐसा उसमें नहीं है। ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

ऐसा आत्मा अनुभव करे, जाने, उसे सम्यग्दर्शन होता है। जो आत्मा अपने स्वरूप में ही है। महान स्वभाव से महान है। यह पुण्य और पाप, शरीर आदि से तो रहित है परन्तु पर के जानने से भी रहित है। समझ में आया? पर का जानना अर्थात् कि यह है ही, ऐसा जानना, वह तो व्यवहार है। उस सम्बन्धी का अपना ज्ञान और अपने सम्बन्धी का अपना ज्ञान, उसे वह जाने, यह निश्चय है। थोड़ी सूक्ष्म बात है। समझ में आया?

स्वभाव से महान **उस आत्मा में व्यवहारप्रपंच (विस्तार) है ही नहीं।** पर को जानना वह इसमें है नहीं। लो, ठीक। अपना सर्वज्ञस्वभाव है, उसे जानता है। पर को जानता है, वह तो व्यवहार ऐसा प्रपंच इसमें नहीं है। कोष्ठक है। **(अर्थात् निश्चय से आत्मा में लोकालोक को देखनेरूप व्यवहार-विस्तार है ही नहीं)।** इतना कलश में डालना। **(अर्थात् निश्चय से आत्मा में लोकालोक को देखनेरूप व्यवहार-विस्तार है ही नहीं)।** समझ में आया? क्या कहा यह? लोकालोक को आत्मा जानता नहीं, ऐसा कहा न? नहीं जानता इसका अर्थ?—कि वह लोकालोक यह है, ऐसा नहीं जानता। वह लोकालोक और अपना जो ज्ञान अपने में, उसे वह जानते हुए लोकालोक जानने में आ जाता है। समझ में आया? ऐसे भगवान आत्मा में लोकालोक का व्यवहार विस्तार नहीं ही है।

श्रीमद् में भी ऐसा ही आता है न? क्या आता है? 'केवल निजस्वभाव का अखण्ड वर्ते...' यह निश्चय से बात की है, इसलिए लोकालोक नहीं जानते, ऐसा नहीं है। लोकालोक को जानना, वह पर है, उसे जानना कहना, वह व्यवहार है। परन्तु लोकालोक और स्वयं जिस स्वरूप है, उसका ज्ञान अपने में अपने से अपने में होता है, उसे जाने, इसका नाम निश्चय है। इसलिए केवली लोकालोक को नहीं जानते, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

मुमुक्षु : व्यवहार से जानते हैं तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार से जानते हैं इसका अर्थ? पर को तन्मय होकर नहीं जानते, इसलिए उसे व्यवहार कहने में आता है। परन्तु उस सम्बन्धी का ज्ञान अपना ज्ञान तन्मय होकर उसमें अपने में जानते हैं, उसमें लोकालोक का ज्ञान अपनी पर्याय में अपने से अपने में अपने कारण से आ जाता है। यह बात नीचे पढ़ी जा चुकी है। नीचे नोट (फुटनोट) है न? वह पढ़ा गया है।

यहाँ तो पर को जाने, ऐसा कहना, वह पर की अपेक्षा आती है न, इसलिए उसे व्यवहार कहा जाता है और स्व को जानने पर स्व की अपेक्षा आवे, इसलिए निश्चय कहा जाता है। स्व के ज्ञान में सर्वज्ञ में सब ज्ञात हो गया है। परन्तु वह सर्वज्ञ की पर्याय अपनी है, उसे जानते हैं, वह निश्चय है - ऐसा कहते हैं। यह तो तत्त्व की सूक्ष्म बात है, भाई! समझ में आया?

अन्तर आत्मा, यह ज्ञान ज्ञान को जाने। इस ज्ञान में राग, शरीरादि क्या है, ऐसा उसमें ज्ञान अपने स्व-पर प्रकाश के सामर्थ्य में आ जाता है, तथापि उसे देखे—ऐसा कहना वह व्यवहार है और अपना स्व-पर सामर्थ्य है, स्व-परप्रकाशक जानने का सामर्थ्य है, उसे देखे यह, निश्चय है। आहाहा! गजब! जानने में भी व्यवहार और निश्चय, आचरण में भी व्यवहार और निश्चय, श्रद्धा-ज्ञान में भी व्यवहार और निश्चय, चारित्र में भी व्यवहार और निश्चय। किस अपेक्षा से बात है, यह समझना चाहिए न!

आत्मा अपने स्वरूप को शुद्ध अखण्ड अभेद की श्रद्धा करे, वह सम्यग्दर्शन निश्चय स्व-आश्रय है और पर की श्रद्धा—देव-गुरु-शास्त्र आदि, वह व्यवहार विकल्प

है। समझ में आया? ऐसे-ऐसे अपने आत्मा को जाने, वह सम्यग्ज्ञान है, शास्त्र को जाने, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। इसी प्रकार आत्मा अपने स्वरूप में, आनन्द में रमे, वह निश्चयचारित्र है और उसमें पंच महाव्रतादि के विकल्प उठें, वह व्यवहारचारित्र; अर्थात् 'नहीं है', उसे कहना, इसका नाम व्यवहार है। समझ में आया? इसी प्रकार लोकालोक को जाने, ऐसा कहना वह व्यवहार है, क्योंकि लोकालोक का यह ज्ञान नहीं है। यह ज्ञान तो अपना है। समझ में आया?

अरे! आत्मा की इसने बात ही कभी प्रेम से सुनी नहीं। जगत के व्यर्थ प्रयत्न करके मर गया। समझ में आया? परन्तु यह आत्मा कितना सामर्थ्यवाला सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा वह, हों! परमात्मा तीर्थंकरदेव ने जो ऐसा चैतन्य में से आत्मा की बात करे, वह आत्मा इसने जाना नहीं।

यहाँ तो भगवान आत्मा... कहते हैं कि वह स्वयं ज्ञान की दशा, अपने स्वभाव के आश्रय से ज्ञान से प्रगट की। इस ज्ञान में यह ज्ञान स्व-आत्मा परमात्मा को ही जानता है। परमात्मा का ज्ञान अपने परमात्मा को जानता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? परमात्मा का ज्ञान पर को जानता है, ऐसा कहना, ऐसे पर की अपेक्षा आयी; इसलिए व्यवहार परन्तु परसम्बन्धी का ज्ञान अपने में नहीं, ऐसा नहीं है। समझ में आया? यह परसम्बन्धी का अपना ज्ञान है। सर्वज्ञपना, वह आत्मज्ञ है अर्थात् सर्वज्ञपना पर के कारण है, ऐसा नहीं है। वहाँ भी व्यवहार और निश्चय, नीचे व्यवहार और निश्चय। सब विवाद निकाले। निमित्त अकिंचित (कर) नहीं... व्यवहार साधन है, ये सब लेख (आते हैं)। भाई! यह सब है, यह सब सुन न।

भगवान आत्मा अपना ज्ञान और आनन्दस्वभाव, उसे अन्तर में अनुभव करके जो सम्यग्दर्शन होता है और उसे जानकर जो ज्ञान होता है और उसमें रमणता करके चारित्र होता है, वह निश्चय कहलाता है, क्योंकि स्व के आश्रय से हुआ। यह सच्चा ज्ञान-दर्शन और चारित्र है। तथा पर के आश्रय से जितना कहा जाता है—देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा... ऐई! भीखाभाई! वह राग कहा जाता है, वह व्यवहार कहा जाता है, वह सत्य नहीं कहा जाता। आहाहा! गजब बात, भाई!

निश्चय, वह सत्यार्थ है; व्यवहार, वह असत्यार्थ है। असत्यार्थ का अर्थ ? पर को जानता है, वह असत्यार्थ है। पर को जानता है, वह यथार्थ में नहीं है। आहाहा!

अपना भगवान आत्मा अपने ज्ञान-दर्शन-आनन्द को और आत्मा को जाने, वह स्व को जाने, वह यथार्थ है। आहाहा! समझ में आया ? नीचे निश्चय और व्यवहार, वह ठेठ केवलज्ञान तक ले गये। आहाहा! ऐसा स्वरूप सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर के अतिरिक्त कहीं नहीं हो सकता। सब वेदान्त ने भले आत्मा... आत्मा की बातें की हो। समझ में आया ? यह वस्तु कहीं है नहीं। समझ में आया ? देवजीभाई! यह २८२ कलश हुआ।

१६७ गाथा।

मुत्त-ममुत्तं दव्वं चेयण-मियरं सगं च सव्वं च।
पेच्छंतस्स दु णाणं पच्चक्खमणिंदियं होइ॥१६७॥

नीचे इसका हरिगीत है।

जो मूर्त और अमूर्त जड़ चेतन स्वपर सब द्रव्य हैं।
देखे उन्हें उसको अतीन्द्रिय ज्ञान है प्रत्यक्ष है॥१६७॥

टीका : यह, केवलज्ञान के स्वरूप का कथन है। छह द्रव्यों में... जगत में छह द्रव्य हैं। भगवान ने छह द्रव्य देखे। देखो, और कहते हैं, छह द्रव्य देखे। परन्तु इस ज्ञान में इनका ज्ञान स्वयं को देखा और इन छह द्रव्यों को देखा, वह व्यवहार हुआ। समझ में आया ? परन्तु उन छह द्रव्यों को ज्ञान बराबर देखता है। अपनी ज्ञान पर्याय में छह द्रव्य सम्बन्धी का जो ज्ञान कहा है, उसे देखते हैं और उन छह द्रव्यों को देखते हैं, ऐसा कहना वह व्यवहार है। पराश्रय हुआ न ? आहाहा!

छह द्रव्यों में... देखो! जगत में छह द्रव्य लिये हैं। अनन्त आत्मायें, इससे अनन्त गुणे परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्ति, एक अधर्मास्ति और आकाश। यह छह द्रव्य जगत के अन्दर हैं, अनादि अनन्त हैं। केवलज्ञान में ये प्रत्यक्ष जानने में आये हैं। उनमें **पुद्गल को मूर्तपना है,...** यह शरीर, वाणी, मन, कर्म यह सब दिखता है, वह मूर्त है। **पुद्गल को मूर्तपना है,...** वह रूपी है, मूर्त है। **(शेष) पाँच को अमूर्तपना है;...** धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल और जीव। जीव को अमूर्तपना है, ऐसा कहा है।

कहीं फिर उसे कर्म के सम्बन्ध से मूर्त कहा, वह व्यवहार से कहा है। समझ में आया? मूर्त है नहीं। आलाप पद्धति में लिया है। यह तो मूल तत्त्व का... आलाप पद्धति में पाठ लिया है। जीव मूर्त है, अमूर्त है। मूर्त है, इसका अर्थ? कर्म मूर्त जो है, उनके निमित्त के सम्बन्ध में इसे मूर्त का उपचार दिया है, वस्तु अमूर्त है।

मुमुक्षु : पर्याय?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय अमूर्त है।

मुमुक्षु : उसे मूर्त कही।

पूज्य गुरुदेवश्री : इस निमित्त के कारण कही। है नहीं उसे कही। पर्याय अमूर्त है। जीव की विकारी पर्याय अमूर्त है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : किस अपेक्षा से? यह तो आत्मा के त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव की अनुभवदशा के भाव में रागादि परिणाम इसका स्वरूप नहीं है, इसलिए इसे पुद्गल के परिणाम कहा है। गजब बात, भाई! कहो, समझ में आया?

यहाँ तो उसके अस्तित्व में उसका अस्तित्व क्या है, इतना सिद्ध करना है। फिर द्रव्य और पर्याय विकार के दो के अस्तित्व की भिन्नता करनी हो, तब इस द्रव्य में विकार है नहीं। परन्तु विकार है, वह अमूर्त है। समझ में आया? द्रव्य की अशुद्ध पर्याय—संसार, वह द्रव्य की अशुद्ध पर्याय है। आहाहा! संसार कहीं जीव की पर्याय से बाहर नहीं रहता। आहाहा! जीव का संसार स्त्री, पुत्र, परिवार, मकान, वह संसार नहीं है। जीव का संसार स्त्री, पुत्र, पैसा, शरीर, कर्म, वह संसार नहीं है, वह तो परवस्तु है। संसार—उसके स्वरूप से हटकर विकार की पर्याय में आया, वह विकार भाव, यह इसका संसार है। समझ में आया? वह विकार भाव 'संसरणं इति संसारः' भगवान आत्मा अपनी शुद्ध आत्मा से हट गया है, हटकर राग में आया, वह संसार है। आहाहा! समझ में आया? संसार का नाश करना है, इसका अर्थ कि यह अज्ञान और मिथ्यात्व और राग-द्वेष का नाश। संसार का नाश करे अर्थात् स्त्री-पुत्र का नाश करना है? समझ में आया? लोग बाहर से तो ऐसा मानते हैं कि लो, यह स्त्री-पुत्र छोड़े तो यह संसार

छोड़ा। अरे! संसार कहना किसे, इसकी तुझे खबर नहीं। स्त्री-पुत्र संसार थे? अपने शुद्ध स्वरूप से हटकर राग—पुण्य-पाप आदि मेरे हैं, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव और पुण्य-पापभाव, वह संसार है। आहाहा! समझ में आया? यह उसकी अमूर्तदशा है। बहुत पहलू पड़ते हैं।

एक ओर कहे कि विकार, वह पुद्गल का परिणाम है; एक ओर कहे कि जीव की पर्याय के सत्त्व में वह है, इसलिए इसके परिणाम हैं। दूसरी ओर कहे कि आत्मा आनन्दस्वभाव के भाव में आकर जहाँ परिणमे, फिर जो राग रहा, वह कर्म के कारण परिणमता है। (समयसार) ७५वीं गाथा में आता है न? तब राजकोट में चला था न? सोमचन्दभाई! हमारे यहाँ सोमचन्द... टांक। सोमचन्दभाई थे न? इस मनु के पिता। उसने तब प्रश्न किया था। वहाँ राजकोट में किया था (संवत्) १९९९ में। यह विकार है किसका? ७५ में तो ऐसा कहा कि विकार तो कर्म का कार्य है, आत्मा का नहीं। उसमें फिर कहे कि विकार आत्मा में होता है। देखो! अमूर्त है और आत्मा में है। उसका पर से भिन्न अस्तित्व सिद्ध करना हो, तब तो इसमें ही है और इससे विकार हुआ है। परन्तु विकार से ही जब अकेला स्वभाव भिन्न सिद्ध करना हो, अकेला शुद्ध चिदानन्दमूर्ति आत्मा है। विकार को स्पर्श भी नहीं किया है विकार तो पर है और वहाँ रूपी कहते हैं, उसे मूर्त कहते हैं। यह सब कहते हैं। किस अपेक्षा से है, यह समझना चाहिए न! निकल जाता है, इसकी जाति में नहीं है, इसलिए इसे मूर्त कहकर पर का कहा। परन्तु होता है इसकी दशा में। क्या पर की दशा में विकार होता है? विकार का अस्तित्व इसकी दशा में है।

मुमुक्षु : दो अपेक्षा है, उसमें सच्ची कौन सी?

पूज्य गुरुदेवश्री : अपेक्षा से दोनों सच्ची है। जिस अपेक्षा से कही उस (अपेक्षा से)। पर से भिन्न कहने में विकार इसका है। विकार से भिन्न कहने में विकार इसका नहीं। समझ में आया? वीतरागमार्ग बहुत गूढ़ है, गम्भीर है। नयों के पहलू इतने अधिक पड़ते हैं कि जिस अपेक्षा से कहा, उसे समझे नहीं तो एकान्त हो जाए। समझ में आया? आहाहा! उसने यहाँ यह पूछा था कि इसमें निश्चय से तो विकार कर्म का कहा है। किसने इनकार किया? कहा। किस अपेक्षा से? आत्मा आनन्दस्वरूप ज्ञानानन्द

चिदानन्द है, ऐसा जहाँ भान हुआ, इससे इसका परिणमन तो द्रव्य का है स्वभाव, उसका परिणमन हो उसे। विकाररूप परिणमन फिर रहा, वह जैसे कर्म भिन्न है, वैसे परिणमन भी भिन्न गिनकर, दो कर्म के कार्य गिनकर उसे निकाल डाला परन्तु पहले से विकार कर्म से होता है, कर्म से होता है, वह तो पहले से ही भूला है। कर्म तो परद्रव्य है। परद्रव्य के कारण स्वद्रव्य में होता नहीं। इसमें कहते हैं, देखो!

पाँच तो अमूर्तपना है। जीव को अमूर्तपना है। विकारी पर्याय भी अमूर्त है। समझ में आया? समयसार के निश्चय का अधिकार आवे, तब कहते हैं कि वह तो मूर्त है, स्थूल है। विकार, हों! पुण्य-पाप के परिणाम, वे स्थूल हैं, उनमें सूक्ष्मता का अभाव है क्योंकि भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञान का जहाँ भान हुआ, ऐसे सूक्ष्म की अपेक्षा से तो विकार बहुत स्थूल है और निकल जाता है, इसलिए उसकी चीज़ नहीं है, ऐसा कहा है। है तब तक तो उसकी दशा में है। ऐसा अनेकान्तस्वरूप भगवान का है। ऐसा स्वरूप ही वस्तु का है। समझ में आया? लोगों को बात की क्या चीज़ है, उसका ज्ञान किये बिना अकेले बिना भान के क्रियाकाण्ड करे, भक्ति, पूजा, दया, दान और व्रत (करे), वे सब मिथ्यासहित पुण्य बँधता है। चार गति में भटकना मिटता नहीं। आहाहा!

कहते हैं कि भाई! तू तो तीनों काल अमूर्त है न! वह कहे कि मूर्त कहा है। वह .... करता था। .... दिगम्बर हुआ है न, क्षुल्लक। वेदान्त का, आर्य समाज का। कैसा? कर्म...

मुमुक्षु : कर्मानन्द।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्मानन्द। कर्मानन्द। कर्मानन्द कहता है विकार को रूपी कहा है। वहाँ ऐसा कहा है, जीव को मूर्त कहा है। जीव को मूर्त कहा, उसका विवाद था। अरे! भगवान! सुन न, भाई! यह तो अन्तर के सूक्ष्म स्वभाव की दृष्टि की अपेक्षा से, निकाल डालना (है, इसलिए) उसे रूपी और मूर्त कहा है परन्तु होता है, इसका अस्तित्व सिद्ध करने के लिये तुझमें है, उसे मूर्त कहा। समझ में आया? आहाहा! यह लोगों को ऐसा ज्ञान करना सूक्ष्म पड़ता है न, इसलिए फिर... व्यवहार में चढ़ गये। दया पालो, व्रत पालो, अपवास करो, भगवान की पूजा करो, व्यवहार में चढ़ गये। भगवान

के अतिरिक्त कहीं होता ही नहीं न! तीर्थंकर परमेश्वर के अतिरिक्त यह बात कहीं तीन काल में नहीं होती। वाडावालों को समझ में नहीं आता तो अन्यत्र तो कहाँ होगा? यह वस्तु अन्यत्र होगी कैसी? आहाहा! यह सब स्पष्टीकरण मोक्षमार्गप्रकाशक में किया है। मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है न! प्रज्ञाभक्ति, निर्गुणभक्ति सब बहुत लिया है। बहुत सब अच्छा लिया है। एक-एक बात है। वह सब मिथ्या।

यहाँ तो छह द्रव्य में पाँच तो अनादि-अनन्त अमूर्त हैं। लो, यह तो अपने पहले आया। इसमें प्रवचनसार में। अमूर्त के अमूर्त गुण, अमूर्त की अमूर्त पर्याय। पहले आ गया है। प्रवचनसार में है।

जीव को ही चेतनपना है,... छह द्रव्य में यह भगवान आत्मा ही चेतनेवाला, जाननेवाला है। बाकी दूसरे पाँच द्रव्य अचेतन हैं। कहो, **अचेतनपना है।** यह शरीर, कर्म, वाणी सब अचेतन जड़ हैं, मिट्टी हैं। आहाहा! **त्रिकाल सम्बन्धी मूर्त-अमूर्त चेतन-अचेतन स्वद्रव्यादि अशेष को....** लो। कहते हैं कि भगवान का ज्ञान-केवलज्ञान त्रिकाल सम्बन्धी मूर्त वस्तु पुद्गल, अमूर्त वस्तु पाँच। चेतन एक, अचेतन पाँच। यह स्वद्रव्य आदि, अशेष। अपने को और पर को **(स्व तथा पर समस्त द्रव्यों को) निरन्तर देखनेवाले भगवान श्रीमद् अर्हत्परमेश्वर का जो...** ज्ञान। श्रीमद् श्रीमद्—स्वरूपलक्ष्मी वाले, ऐसे अरहन्त परमेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा, **जो क्रम, इन्द्रिय और व्यवधान रहित,...** उन्हें जानने में क्रम नहीं होता कि पहले यह जाने, पहले स्व को जाने और पश्चात् पर को जाने, ऐसा क्रम केवली को नहीं होता। इन्द्रिय का अवलम्बन नहीं होता। भगवान को इन्द्रिय का अवलम्बन नहीं होता, उन्हें तो अतीन्द्रिय ज्ञान हुआ। छद्मस्थ को नीचे जानने में इन्द्रिय का निमित्त, अवलम्बन अर्थात् निमित्त (होता है), (वह) उन्हें नहीं होता।

व्यवधान रहित,... आड़; पर्दा... रहित। आगे पहले स्पष्टीकरण आ गया है। केवलज्ञान को जानने में कोई आड़ नहीं है, पर्दा नहीं है, विघ्न नहीं है। आहाहा! ऐसी केवलज्ञान की पूर्ण पर्याय अरहन्त को होती है, ऐसा यदि यथार्थ ज्ञान करे तो उसे अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय जानने पर, अपना आत्मा ऐसा है—ऐसा मिलान करे तो उसे सम्यग्दर्शन हुए बिना नहीं रहता। समझ में आया? आहाहा! सर्वज्ञ की महत्ता

जहाँ-तहाँ गाते हैं। पूर्ण पर्याय वही सर्वज्ञ। अरे! पूर्ण न हो, दिव्यज्ञान न हो ऐसा तो तुम्हें दिव्यज्ञान कहे कौन? पर के कारण जाने, परोक्ष को जाने, उसे दिव्यज्ञान कहे कौन? प्रवचनसार में आया है।

अतीन्द्रिय सकल-विमल... भगवान का ज्ञान तो **अतीन्द्रिय सकल-विमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान वह सकलप्रत्यक्ष है।** लो। वह सबको जानता है। उसमें इनकार किया था। वह सबको जानता है। वह व्यवहार से जानने का इनकार किया था परन्तु जानने का तो उनका बराबर है। समझ में आया? **सकलप्रत्यक्ष है।** असंख्य प्रदेशी चैतन्यसूर्य, शक्ति में से व्यक्ति प्रगट हो गयी है। जो सर्वज्ञ शक्ति थी... शक्ति तो है। पर्याय प्रगटी तो होती है। समझ में आया? आहाहा! सर्वज्ञ शक्तिवान द्रव्य, उसके अन्तर में एकाग्र होकर सर्वज्ञ व्यक्तता प्रगट की, वह **सकलप्रत्यक्ष है।** यह उसका स्वरूप और उसके स्वभाव की पूर्णता की यह सत्ता है। समझ में आया?

अरे! ऐसे अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने। '**जो जाणदि अरहंतं**' आता है न। '**दव्वत्तगुणत्त पज्जयतेहिं सो जाणदि अप्पाणं**' वह आत्मा को जानता है। है, तो निमित्त पर। परन्तु उसके ज्ञान में उनकी महत्ता जहाँ ख्याल में आयी, ऐसे ज्ञान की पर्याय मेरे द्रव्य से प्रगट हुई है, उन्हें उनके द्रव्य से प्रगट हुई है। मेरा द्रव्य भी वैसा ही है। ऐसी केवलज्ञान की पर्याय, इतनी बड़ी ऐसी, जिसे उनकी सत्ता का स्वीकार होता है, उसका स्वीकार पर्यायदृष्टि से नहीं होता, उसका स्वीकार द्रव्य में ऐसी शक्तियाँ अनन्त है, उसके स्वीकार से उन अरहन्त की पर्याय का स्वीकार कहने में आता है। वह तो सम्यग्दर्शन हुआ। आहाहा! समझ में आया?

यह बात साधारण नहीं है, हों! यहाँ यह कहते हैं। गाथायें ली है तो कारण से ली है न? कुन्दकुन्दाचार्य जैसे निर्ग्रन्थ मुनि, तीन कषाय का अभाव (होकर) वीतराग के आनन्द के वेदन करनेवाले, जिन्हें विकल्प भी अमुक छठवाँ गुणस्थान होवे, तब आता है। निर्विकल्प हों तो आनन्द में मस्त हैं। ऐसे वे ऐसी गाथा को कहते हैं। अरिहन्त का पूर्ण रूप स्वप्रत्यक्ष है, ऐसा कहते हैं। उसमें सब पर का ज्ञान आ जाता है, सकलप्रत्यक्ष है। आहाहा! ऐसा तो उनका ज्ञान का स्वभाव है। कोई पुण्य-पाप होना और रहना, वह उनका स्वभाव नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : ....यह व्यवहार से कहा या निश्चय से?

पूज्य गुरुदेवश्री : निश्चय से।

केवलज्ञान वह सकलप्रत्यक्ष है। कहो, समझ में आया? क्योंकि सकलप्रत्यक्ष में सकल आया न? यह व्यवहार कहना या निश्चय? यहाँ तो सकलप्रत्यक्ष निश्चय अपना है।

इसी प्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसार में (५४वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:— लो। आहाहा!

जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं॥

देखनेवाले का जो ज्ञान अमूर्त को, मूर्त पदार्थों में भी... यहाँ तो उसका ज्ञातादृष्टा का स्वभाव कैसा होता है, उसे सिद्ध करना है। कोई राग-बाग और पुण्य-फुण्य उसके हैं, (ऐसा नहीं कहना है)। वह उसमें है ही नहीं। आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा जैसे गुलाब की कली खिले, वैसे जब खिलकर केवलज्ञान पाता है, तब देखनेवाले का मूर्त-अमूर्त सबमें, अतीन्द्रिय को भी जाने, प्रच्छन्न को जाने। प्रच्छन्न अर्थात्? भूतकाल-भविष्य काल, वर्तमान में नहीं। ढंका हुआ है, उसे भी जाने। आहाहा! परमाणु को जाने, काल को जाने। आहाहा!

इन सबको—स्व को तथा पर को—देखता है,... स्व-पर को देखे, ऐसा ही ज्ञान अपने को **प्रत्यक्ष है।** मात्र पर को जानना वह है उपचार इतना। परन्तु पर को जानना, वह अपना ज्ञान है। वह उपचार नहीं; वह प्रत्यक्ष ही है। समझ में आया? अपने को अपनी जाति को जान, ऐसा कहते हैं। वह दूसरे को जानना तेरा एक ज्ञान होगा, उसमें सब ज्ञान आ जाएगा। श्रीमद् के पत्र में एक लाईन आती है—'तुझे एक को जानने पर तेरे ज्ञान में लोकालोक ज्ञात हो जाएगा।' समझ में आया?

२८३ श्लोक।

सम्यग्वर्ती त्रिभुवन-गुरुः शाश्वतानन्त-धामा,
लोकालोकौ स्वपरमखिलं चेतनाचेतनं च।

तार्तीयं यन्नयन-मपरं केवल-ज्ञान-सञ्ज्ञं,
तेनैवायं विदितमहिमा तीर्थनाथो जिनेन्द्रः ॥२८३॥

केवलज्ञान नाम का जो तीसरा उत्कृष्ट नेत्र... लो। ऐसे दो आँखें तो कहते हैं कहीं रह गयी। यह तो तीसरी आँख अन्दर उगी। आहाहा! केवलज्ञानरूपी पर्याय का तीसरा नेत्र। वह भी **उत्कृष्ट नेत्र, उसी से जिनको प्रसिद्ध महिमा है,...** उस केवलज्ञान से भगवान की महिमा है, कहते हैं। अतिशय और पुण्य बाहर का होता है न? समवसरण और... उससे उनकी महिमा नहीं है। वह तो व्यवहार हुआ। आहाहा! भगवान का अतिशय ऐसा है, वह तो सब व्यवहार है, पुण्य है। समवसरण हो, ऐसी दिव्यध्वनि निकले। यहाँ तो कहते हैं कि **केवलज्ञान नाम का जो तीसरा उत्कृष्ट नेत्र...** भगवान ज्ञान की दशा, अपने ज्ञानस्वभाव में ज्ञान का आराधन करके, अपने ज्ञान का आराधन करके जिन्हें केवलज्ञान पर्याय प्रगट हुई है, उससे उनकी महिमा है। **जिनको प्रसिद्ध महिमा है,...** वह तो प्रसिद्ध महिमा है। आहाहा!

दुनिया में केवलज्ञानी की केवलज्ञान के कारण प्रसिद्ध महिमा है, कहते हैं। उनकी दशा, पूर्ण परमात्मदशा प्रगट हुई, ज्ञान की पूर्णता, वह उनकी महिमा है। समझ में आया? अमुक के वे पुत्र थे, अमुक माता के गर्भ में जन्मे, इन्द्रों ने आकर ऐसा किया, मेरुपर्वत पर ले गये। (इससे महिमा नहीं)। यह महिमा है। आहाहा! समझ में आया?

जिन्हें एक समय में तीन काल-तीन लोक को जाननेवाला ज्ञान प्रगट हुआ, वह उनकी महिमा है। समझ में आया? स्वयंभू में कहा न कि हे भगवान! एक समय में जगत के उत्पाद-व्यय और ध्रुव, एक समय में आप जानते हो, यही आपकी सर्वज्ञता की विशेषता विशिष्ट महिमा है। समय एक और उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीन, ऐसी जो ज्ञान की पर्याय की सामर्थ्य, वह सर्वज्ञपना बतलाती है। आपकी सर्वज्ञता है। समझ में आया?

निमित्त, विकल्प और पर्याय से विमुख होकर द्रव्यस्वभाव की महिमा में जावे, तब उसे केवलज्ञान की महिमा यथार्थरूप से दिखती है। समझ में आया? ओहो! ऐसा

स्वभाव! वह गुण चैतन्यचमत्कार, गुप्त चैतन्यचमत्कार... जिसके स्वभाव में गुप्तरूप से रहा हुआ ज्ञान, दर्शन, आनन्द की महान सामर्थ्य है, ऐसा जो चमत्कार, वह जीव की महिमा और यहाँ प्रसिद्ध केवलज्ञान हुआ, वह उनकी महिमा है। समझ में आया? उन्होंने तीर्थंकर गोत्र बाँधा, समवसरण आया, इन्द्र आये, यह उनकी महिमा नहीं है। समझ में आया?

जो तीन लोक के गुरु हैं... गुरु अर्थात् तीन लोक के जाननेवाले हैं। वे बड़े जाननेवाले। तीन लोक में जाननेवाले वे बड़े हैं। सब उनके ज्ञान में (ज्ञात हो गया है)। आहाहा! ऐसा तू है, ऐसा देख तो सही! जैसे वे हैं, वैसा तू है। तेरी शक्ति में वह सब पड़ा है, परन्तु यह तुझे खबर नहीं है। अरहन्त, सिद्ध (आदि) पाँचों पद तेरे गुण में स्थित है। आहाहा! वह अरहन्तपद तेरे स्वभाव में स्थित है। आहाहा! यह बाहर का विवाद करने लगे। अरे..! उसकी लगा न। विवाद किसका करता है? बड़ा भगवान तू... आहाहा! तू तीन लोक का गुरु है। देवाधिदेव तू है, भाई! आहाहा! पर्याय में प्रगट हुए वे परमात्मा साक्षात् देव हैं। तेरा स्वभाव भी परमात्मा है, तू भी अन्दर परमात्मा अपेक्षा से तीन लोक का जाननेवाला तू भी एक गुरु है। आहाहा! समझ में आया?

शाश्वत अनन्त जिनका धाम है— लो। **भव्यता; तेज; बल।** आत्मा में जिसका अनन्त बल है। उस बल का कार्य अनन्त पूर्ण स्वरूप की रचना (करना है)। समझ में आया? यह क्या कहा? **शाश्वत अनन्त जिनका धाम है—** कोई ऐसा कहता है कि भगवान को सर्वशक्ति नहीं। अनन्त बल कहो, परन्तु सर्वशक्तिमान न कहो। क्योंकि सर्वशक्तिमान होवे, तब तो दूसरे के कर्म भी नाश करे। ऐसी व्याख्या। पण्डित ऐसी व्याख्या करते हैं। ऐई! एक पण्डित ने ऐसा रखा था। वह बेचारा गुजर गया। फिरोजाबादवाले माणेकचन्द।

सर्वशक्तिमान न कहो, अनन्त शक्तिमान कहो। परन्तु वह तो सर्वशक्तिमान कहो या अनन्त शक्तिमान कहो, दोनों एक ही हैं। पूर्ण शक्तिवान कहो। सर्वज्ञ कहो अर्थात् उसका अर्थ क्या हुआ? पूर्ण बलवाला है, पूर्ण ज्ञानवाला है परन्तु स्वयं के लिये है न? पर का कर दे, इसलिए सर्व बलवाला है, ऐसा है वहाँ? तीन काल, तीन लोक को जानते हैं, किसी का करते नहीं, किसी से लेते नहीं। लेते हैं, द्रव्य में से और जानते हैं

सबको। समझ में आया? आहाहा! ऐसे भगवान जिन्हें देवरूप से स्वीकारे, समझ में आया? उसे पामर की गिनती उसकी दृष्टि में होती नहीं। यह ठेक ठिकाने के देव-देवल को मानता है न? हनुमान, शिकोतेर, अमुक। ऐई..! मनहर! तुझे क्या था वह? सांईबाबा। सांईबाबा नहीं, क्या कहलाता है यह? हैदरशाही। हैदरशाही को माननेवाले बनिये। ऐसे के ऐसे सब ठोठ जैसे सब इकट्ठे किये। हैदरशाही को बहुत मानते थे। खबर है या नहीं? आहाहा!

ऐसे तीन लोक के नाथ, तीन लोक को—लोकालोक को जाने इस अपेक्षा से। ऐसे देव के अतिरिक्त दूसरे देव धर्मी को होते नहीं। और उस देव का देव तो वापस आत्मा है। उसे जानने पर अनन्त ज्ञान में यह अपने को जानता है। ऐसे अनन्त-अरिहन्त-सिद्धों को जाननेवाला आत्मा है। समझ में आया? वह तू देव है, ऐसा कहा है न? तू गुरु है। तेरा गुरु तू है। तू तुझे समझाता है। तू तुझे समझाता है, इसलिए तू तेरा गुरु। तू तेरा दिव्यशक्ति का भण्डार, इसलिए देव। आहाहा!

शाश्वत अनन्त जिनका... वही शक्ति है, बल है, भव्यता। **शाश्वत अनन्त जिनका धाम है—ऐसे यह तीर्थनाथ जिनेन्द्र लोकालोक को...** ऐसे जिनेन्द्र भगवान **लोकालोक को अर्थात् स्व-पर ऐसे समस्त चेतन-अचेतन पदार्थों को...** स्व को-पर को। **समस्त चेतन-अचेतन पदार्थों को सम्यक् प्रकार से (बराबर) जानते हैं।** आहाहा! समझ में आया? २८३ कलश हुआ। १६८ (गाथा)।

पुव्वुत्तसयलदव्वं णाणागुणपज्जएण संजुत्तं।
जो ण य पेच्छइ सम्मं परोक्खदिट्ठी हवे तस्स॥१६८॥

जो विविध गुण पर्याय से संयुक्त सारी सृष्टि है।
देखे न जो सम्यक् प्रकार परोक्ष रे वह दृष्टि है॥१६८॥

यहाँ, केवलदर्शन के अभाव में (अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शन के अभाव में) सर्वज्ञपना नहीं होता, ऐसा कहा है।

समस्त गुणों और पर्यायों से संयुक्त पूर्वसूत्रोक्त (१६७वीं गाथा में कहे हुए) मूर्तादि द्रव्यों को... क्या कहा? जगत में जितने द्रव्य-पदार्थ हैं, वे समस्त गुण और

पर्याय से सहित हैं। देखो! गुण और पर्याय दो डाले हैं। समझ में आया? **समस्त गुणों और पर्यायों से...** है न? देखो! गुण और पर्याय दो प्रकार डाले। कितने ही कहते हैं न कि भाई! द्रव्य और पर्याय दो, अब गुण तीसरा नहीं।

मुमुक्षु : श्वेताम्बर के।

पूज्य गुरुदेवश्री : श्वेताम्बर के...

यहाँ तो कहते हैं, वस्तु है, वह द्रव्य है और उसकी कायम रहनेवाली शक्तियाँ, वह गुण है और उसकी वर्तमान दशा, वह उसकी पर्याय है। तीन सिद्ध होते हैं।

समस्त गुणों और पर्यायों से... सहित ऐसा डाला, देखो! **पूर्वसूत्रोक्त (१६७वीं गाथा में कहे हुए) मूर्तादि द्रव्यों को जो नहीं देखता;...** अरे! सब पदार्थ और उनकी शक्तियाँ अर्थात् गुण और पर्याय उस सहित जो देखता नहीं, **अर्थात् मूर्त द्रव्य के मूर्त गुण होते हैं, अचेतन के अचेतन गुण होते हैं,...** लो। देखो, वापस यहाँ आया। ऐसा कहते हैं गुण-पर्यायसहित द्रव्य को देखे तो गुण कैसे? **मूर्त द्रव्य के मूर्त गुण होते हैं,...** यह परमाणु जो यह रजकण हैं, वे मूर्त द्रव्य हैं, जड़ हैं। उनके गुण मूर्त हैं। रंग, गन्ध, स्पर्श। आहाहा! शरीर मूर्त है। उसके रंग, गन्ध, स्पर्श आदि गुण मूर्त हैं।

अचेतन के अचेतन गुण होते हैं,... लो! आत्मा के अतिरिक्त पाँच द्रव्य अचेतन हैं, उनके गुण अचेतन हैं। **अमूर्त के अमूर्त गुण होते हैं,...** यहाँ स्पष्टीकरण किया। पहले आ गया है। अमूर्त के अमूर्त गुण होते हैं। पुद्गल के अतिरिक्त पाँच अमूर्त—अरूपी हैं। उनके अरूपी गुण होते हैं। द्रव्य स्वयं अरूपी, उसके गुण भी अरूपी। **चेतन के चेतन गुण होते हैं;...** सब होकर चेतन के चेतन गुण होते हैं। ठीक। क्या कहा समझ में आया? आत्मा के जितने गुण हैं, वे चेतन के चेतन गुण होते हैं, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है न? आहाहा! **चेतन के चेतन गुण होते हैं;...** आहाहा!

मुमुक्षु : रागादि चेतन.... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह नहीं। वह इसकी पर्याय। यहाँ तो गुणों की (बात) है न? चैतन्यगुण होता है। यहाँ तो कहना है, चेतन के चेतनगुण होते हैं। चेतन के गुण तो चैतन्य ही होते हैं। नहीं तो कहीं ऐसा आता है न कि चेतन है, तो वह ज्ञान-दर्शन

उपयोग है, उसे जीव कहा है और एक न्याय से दूसरे को अजीव कहा है। सप्तभंगी ली है। सप्तभंगी में। ज्ञान-दर्शन यह चेतन, उसके अतिरिक्त के अचेतन, ऐसा कहकर सप्तभंगी उतारी है। यहाँ कहते हैं कि वह तो उसका लक्षण मुख्य है, उसका स्वरूप जानने का, वह उसकी मुख्यता बताने को... ऐसा यहाँ कहीं डाला है। बाकी यहाँ तो चेतन के गुण सब चेतन हैं। समझ में आया? व्यापक है न? लोगों को कितना याद रखना? वे कहें, छह काय की दया पालना, लो। एक अपवास करना करना, प्रौषध करना, अष्टमी और चतुर्दशी का अपवास करना। जिन लोगों को चौदश नहीं होती, पूर्णिमा का करते हैं। ... जाओ प्रौषध हो गया, धर्म हो गया, लो। धूल में भी धर्म नहीं है, तेरा प्रौषध करके सूख जा न! प्रौषध तो उसे कहते हैं कि जिसमें आत्मा के अनन्त गुण की पुष्टि मिले। अब आत्मा की खबर नहीं हो (तो) पुष्टि कहाँ से लाना? समझ में आया? आत्मा कौन है? गुण क्या है? दशा क्या है? उसका सामर्थ्य कितना है? इसकी खबर बिना पुष्टि कहाँ से लाना? जाना हुआ हो आत्मा आनन्द और शान्ति का सागर है, ऐसा भान हुआ हो, वह अन्तर में एकाग्र हो तो पुष्टि करे, इसका नाम प्रौषध कहलाता है। वह तो सब लंघन है। पूनमभाई! छह काय... छह काय में स्वयं नहीं? अपने को कूट मारा है या नहीं इसने? देखो यह करूँ, यह करूँ, ऐसा करके मिथ्यात्व से कूट मारा है। समझ में आया? आहाहा!

चेतन के चेतन गुण होते हैं;... अचेतन के अचेतन गुण होते हैं। **षट् (छह प्रकार की) हानिवृद्धिरूप, सूक्ष्म, परमागम के प्रमाण से स्वीकार करनेयोग्य अर्थ-पर्यायें...** है। इस पर्याय में बात आयी। द्रव्य कहा, उसके गुण कहे। थोड़ी सूक्ष्म बात है। छह प्रकार की हानि-वृद्धि होती है। एक समय में अनन्त गुण-हानि, अनन्त गुण-वृद्धि, असंख्य गुण हानि, असंख्य गुण-वृद्धि (इत्यादि) ऐसे छह प्रकार पड़ते हैं। यह जरा सूक्ष्म विषय है। यह **हानिवृद्धिरूप, सूक्ष्म, परमागम के प्रमाण से...** भगवान ने कहे वह आगम से माननेयोग्य हैं। **स्वीकार करनेयोग्य अर्थ-पर्यायें छह द्रव्यों को साधारण हैं,...** सब द्रव्य को अर्थपर्याय होती है। छहों द्रव्यों को—काल को, धर्मास्ति को, सबको अर्थपर्याय होती है।

नरनारकादि व्यंजनपर्यायें पाँच प्रकार की संसारप्रपंचवाले जीवों को होती

हैं,... देखो! समझ में आया? व्यंजनपर्याय यहाँ सिद्ध को नहीं ली है। **नरनारकादि व्यंजनपर्यायें...** विभाविक को यहाँ व्यंजनपर्याय में लेते हैं? यह शैली इसमें है। मनुष्य, नारकी आदि आकार है न? द्रव्य का आकार... आकार... यह विभाव **व्यंजनपर्यायें पाँच प्रकार की संसारप्रपंचवाले जीवों को होती हैं,...** लो। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव, ऐसे पाँच परावर्तन में भटकनेवाले, उसे वह व्यंजनपर्याय होती है। यह सब जानकर इसे अन्दर इनका जाननेवाला आत्मा है, उसका अनुभव करना, उसकी दृष्टि करना, उसमें स्थिर होना, वह इसका सार है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण २, शनिवार, दिनांक-०४-१२-१९७१
गाथा-१६८-१७०, श्लोक-२८४-२८५, प्रवचन-१९३

शुद्धोपयोग अधिकार चलता है। (गाथा) १६८ का थोड़ा सा भाग बाकी है। सर्वज्ञ सब न जाने तो वे सर्वज्ञ किसके? ऐसा कहते हैं। समझ में आया? ऐसा करके (सिद्ध किया कि) ज्ञान का स्वभाव सम्पूर्ण प्रगट हो, वह सबको जाने, ऐसा जीव का स्वभाव है। यहाँ तक आया है।

नरनारकादि व्यंजनपर्यायें पाँच प्रकार की संसारप्रपंचवाले जीवों को होती हैं,... प्रत्येक द्रव्य—मूर्त हो उसके मूर्त गुण (होते हैं), अमूर्त के अमूर्त गुण (होते हैं) और उसकी पर्याय स्वाभाविक और व्यंजनपर्याय (होती है)। स्वाभाविक में तो यह षट्गुणहानिवृद्धि प्रत्येक द्रव्य में होती है, वह आगमगम्य है और यह व्यंजनपर्याय (अर्थात्) उसकी आकृति... **पुद्गलों को स्थूल-स्थूल आदि स्कन्धपर्यायें होती हैं...** यह जड़ परमाणुओं में बहुत रजकण इकट्ठे हों, तब उसे स्कन्ध अर्थात् जत्था की अवस्था होती है। **और धर्मादि चार द्रव्यों को शुद्ध पर्यायें होती हैं;...** धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल—चार द्रव्य-वस्तु है, उनकी पर्याय में शुद्धपना होता है। उन्हें विभाव और अशुद्धि नहीं होती। **इन गुणपर्यायों से संयुक्त...** अब इसका योगफल करते हैं। जिसके मूर्तगुण हैं, वह मूर्त; अमूर्त गुण है, उसके अमूर्त और उसकी स्वाभाविक और विभाविक पर्याय... परमाणु पुद्गल में और जीव में (विभाविक और) चार में तो स्वाभाविक पर्याय होती है।

ऐसे गुण और पर्याय से सहित **ऐसे उस द्रव्यसमूह को जो वास्तव में नहीं देखता;...** पूर्ण स्वरूप को जो देखता नहीं, वह **(भले वह सर्वज्ञता के अभिमान से दग्ध हो तथापि)...** हम सर्वज्ञ हैं, ऐसा अज्ञान से मानता हो। ... बहुत से कहते हैं न कि हम सर्वज्ञ हैं। वर्तमान का सब जाने, वह सर्वज्ञ, ऐसा (वे) कहते हैं। भाई ने—महेन्द्र ने डाला है न! वर्तमान में सबसे अधिक जाने, उसे सर्वज्ञ कहते हैं। यहाँ तो कहते हैं कि

वर्तमान, भूत और भविष्य... सब आ गया न? प्रछन्न का आ गया पहले। प्रछन्न, नहीं? भूतकाल का, भविष्यकाल का, ढँके हुए कालादि द्रव्य का, धर्मास्ति आदि का, अलोकाकाशादि क्षेत्र प्रछन्न—ढँका हुआ—उन सबको, ढँके हुए अर्थात् बहुत सूक्ष्म, उन्हें भी यह आत्मा का ज्ञानस्वभाव पूर्ण प्रगट होने से सबको जानता है। समझ में आया?

ऐसा कहकर इसके ज्ञान की पर्याय का सामर्थ्य सब कितना यह बतलाया। परन्तु वह ज्ञान की पर्याय प्रगट होती है, असाधारण ज्ञायकभाव ज्ञानगुण है उसमें से। समझ में आया? असाधारण ऐसा आत्मा का ज्ञानस्वभाव, उसका आश्रय करके धर्म होता है। समझ में आया? ज्ञानस्वभाव वस्तु त्रिकाल का आश्रय करने से व्यक्तरूप से जो ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र की पर्याय (होती है), वह सब ज्ञान की पर्याय कहलाती है, राग की नहीं। वह पर्याय प्रगट होने पर उसका पूर्ण स्वरूप सर्वज्ञपना, उसे प्रगट होता है। समझ में आया? वस्तु ज्ञानस्वभाव का आश्रय लेकर ज्ञान की अर्थात् रागरहित ज्ञान की—श्रद्धा-ज्ञान आदि पर्याय प्रगट होती है, वह धर्म (और) उसका पूर्ण फल वह केवलज्ञान। समझ में आया?

इसलिए ज्ञान का स्वभाव इतना है, ऐसा यहाँ निश्चय कराते हैं। तू इतना है, ऐसा निश्चय कराते हैं। समझ में आया? 'ज्ञान' ऐसा बतलाकर (सिद्ध किया कि) वह ज्ञानस्वभाव किसी का करता नहीं और किसी से कुछ लेता नहीं और जितने हैं उतने को जाने बिना रहता नहीं। समझ में आया? ऐसा आत्मा का ज्ञानस्वभाव प्रगट होने पर पूर्ण सबको जाने—तीन काल, तीन लोक को। तीन काल में भविष्य अनन्त-अनन्त है, उसे भी वह जाने। कुछ उसे बाकी नहीं। ऐसा यदि न जाने और पर की अपेक्षा से जाने, वह सर्वज्ञ नहीं। वह तो परोक्ष दृष्टि है। वह ज्ञान का पूर्ण स्वभाव नहीं। सूक्ष्म लगे... ऐसा क्या? सिद्ध करके ज्ञान का स्वभाव ऐसा है, ऐसा वर्णन करते हैं। समझ में आया? इसकी टीका का मुनिराज श्लोक कहते हैं। २८४ (कलश)।

[अब, इस १६८वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:—]

यो नैव पश्यति जगत्त्रय-मेक-दैव,
काल-त्रयं च तरसा सकल-ज्ञ-मानी।

प्रत्यक्षदृष्टिरतुला न हि तस्य नित्यं,
सर्वज्ञता कथमिहास्य जडात्मनः स्यात्॥२८४॥

इस ओर अर्थ है। देखो! यह आत्मा और आत्मा का स्वभाव और स्वभाव का सामर्थ्य कितना, यह बतलाते हैं। यह वस्तु का स्वरूप वास्तविक जानना और उसका आश्रय लेना त्रिकाली ज्ञान का, उसका नाम धर्म और मुक्ति का मार्ग है, ऐसा सिद्ध करते हैं। समझ में आया?

श्लोकार्थः—सर्वज्ञता के अभिमानवाला... 'अभिमानवाला' कहाँ से निकाला? **मानी... सकलज्ञमानी...** सकलज्ञ माननेवाला। कहो, समझ में आया? सर्वज्ञ के अभिमानवाला... सर्वज्ञपना नहीं। सर्वज्ञपना हो तो वह तो तीन काल-तीन लोक का जानने का ही यह कार्य उसका है, किसी को बाकी रखे बिना। कहो, समझ में आया? इसमें ही विवाद निकाले सब। कितने ही प्रश्न उठें, सर्वज्ञ... कोई कहे कि सर्वज्ञ जाने, (परन्तु) अन्तिम पर्याय नहीं जानते। कोई कहे कि सर्वज्ञ... परन्तु अन्तिम पर्याय है ही नहीं तो जाने कहाँ से? सर्वज्ञ अनन्त को जाने, इसलिए वहाँ अनन्त का अन्त आ गया। बहुत प्रकार से सर्वज्ञ की शक्ति के सामर्थ्य में लोगों को सन्देह है। निःसन्देह चीज़ क्या है, उसकी खबर नहीं।

तो कहते हैं कि सर्वज्ञता के मानी लोग—**जो जीव शीघ्र एक ही काल में...** एक ही समय में... बहुत सूक्ष्म बात है। **तीन जगत को तथा तीन काल को...** एक समय में तीन काल और... तीन जगत तो लिया है, परन्तु अलोक भी इकट्ठा लिया है। समझ में आया? **नहीं देखता, उसे सदा (अर्थात् कदापि) अतुल प्रत्यक्ष दर्शन नहीं है;...** ऐसा देखता नहीं, उसे कदापि अतुल—उपमा न दी जा सके, ऐसा प्रत्यक्ष दर्शन नहीं है। देखना नहीं अर्थात् उसे सर्वज्ञपना नहीं।

उस जड़ आत्मा को... आहाहा! भगवान (आत्मा) तो जगत की आँखें हैं। यह आत्मा, हों! भगवान तो भगवान है। यह आत्मा भी जगत की चक्षु है। तीन काल, तीन लोक को जाने, ऐसा ही उसका—एक समय की पर्याय का स्वभाव है। सर्वज्ञ की व्याख्या की है। कोई ज्ञानी भी एक समय में सब जाने, ऐसा जो ज्ञान के अंश का—पर्याय का

स्वभाव है। ऐसा सर्वज्ञपना जिसे नहीं, वह जड़ जैसा है, कहते हैं यहाँ तो। समझ में आया? और हम सब तीन काल, तीन लोक को जानते हैं, ऐसा कहते हैं। **अतुल प्रत्यक्ष दर्शन नहीं है; उस जड़ आत्मा को सर्वज्ञता किस प्रकार होगी?** सर्व-ज्ञ (अर्थात्) सबको पूर्ण जानना, ऐसा ज्ञान की पूर्ण पर्याय का स्वभाव है। समझ में आया? उसके साथ अपने को मिलाते हैं कि मैं एक आत्मा आनन्दस्वरूप हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ। उस ज्ञानस्वरूप में वर्तमान पर्याय में पूर्णता क्यों नहीं? इससे वह ज्ञान की पर्याय कहीं अटकी रही हुई है। समझ में आया?

वह जो, पूर्ण ज्ञानस्वभाव अपना है, भगवान आत्मा ज्ञानस्वभाव ही है, उसमें जो रहे, लीन हो तो वह सर्वज्ञपर्याय प्रगट होती है। समझ में आया? और उसे मोक्ष कहा जाता है। अरे! **जड़ आत्मा को...** कहते हैं। यहाँ तो उसे जड़ कहा है। अब एक समय में पूर्ण सबको न जाने, महाराज! वह ज्ञान की सर्वज्ञता के स्वभावरहित, ऐसा। ऐसा कहते हैं, जड़ है। कहो, समझ में आया? चैतन्य तो उसके चैतन्य की शक्ति... चेतन तो चैतन्य की शक्ति... चेतनद्रव्य, उसकी चैतन्यशक्ति—गुण, उसके आश्रय से हुई चैतन्य की प्रगट अवस्था—सर्वज्ञता, वह द्रव्य-गुण-पर्याय का उसका पूरा रूप है। समझ में आया? ऐसा पूरा रूप नहीं तो, कहते हैं कि वह आत्मा ही नहीं, सब जड़ है। आहाहा! समझ में आया?

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को वह पूर्ण नहीं, परन्तु उसे पूर्ण की प्रतीति है। आत्मा पूर्ण स्वभाव से है और मेरी पर्याय पूर्ण होनेवाली है। उस पूर्ण स्वभाव का आश्रय लेकर चैतन्य के अन्तर घोलन में जो दशा प्रगट हुई, उससे पूर्ण दशा क्रम से प्रगट होगी, (ऐसा) वह मानता है। समझ में आया? यह तो सर्वज्ञ नहीं और सर्वज्ञ माने, (तो) परोक्ष दृष्टि अकेली जड़ है। समझ में आया?

(अब गाथा) १६९। जरा दूसरी बात है। '**लोयालोयं जाणइ**' जरा शान्ति से—धीरज से समझने जैसी बात है। यह तो अन्तर की अलौकिक बातें हैं। समझ में आया?

लोयालोयं जाणइ अप्पाणं णेव केवली भगवं।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ॥१६९॥

भगवान केवलि लोक और अलोक जाने, आत्म-ना।
यदि कोइ यों कहता अरे उसमें कहो है दोष क्या॥१६९॥

क्या कहा? लोकालोक को जाने और आत्मा को न जाने तो क्या बाधा है? कहते हैं। **टीका : यह, व्यवहारनय की प्रगटता से कथन है। 'पराश्रितो व्यवहारः (व्यवहारनय पराश्रित है)' ऐसे (शास्त्र के) अभिप्राय के कारण, व्यवहार से व्यवहारनय की प्रधानता द्वारा (अर्थात् व्यवहार से व्यवहारनय को प्रधान करके), 'सकल-विमल केवलज्ञान जिनका तीसरा लोचन है...** यह दो आँखें तो जड़ की यह बाहर की है। जिन्हें अन्दर की आँखें खिल गयी हैं, उन्हें केवलज्ञान के नेत्र। भगवान चैतन्य के पूर्ण स्वभाववाला, उसकी पर्याय में पूर्ण स्वभाव प्रगट हो गया। जैसे कली खिले, वैसे आत्मा का ज्ञान अन्तर में पूर्ण था, उसकी एकाग्रता द्वारा वह ज्ञान खिल गया। आहाहा! कहो, समझ में आया? उसे यहाँ सर्वज्ञज्ञान कहते हैं।

ऐसे सर्वज्ञ का तीसरा लोचन **और अपुनर्भवरूपी सुन्दर कामिनी के जो जीवितेश हैं (-मुक्तिसुन्दरी के जो प्राणनाथ हैं)...** मुक्तिरूपी स्त्री—परिणति उसके वे प्राणनाथ हैं (अर्थात्) जीवितेश हैं। आहाहा! सर्वज्ञ, भगवान आत्मा का स्वभाव सर्वज्ञ है, वह सर्वज्ञपना जिसने प्रगट किया, वह सुन्दर पूर्ण मुक्तिरूपी स्त्री के वे प्राणनाथ हैं, उसके जीवत्व के ईश्वर हैं। आहाहा! समझ में आया? **ऐसे भगवान छह द्रव्यों से व्याप्त तीन लोक को...** छह द्रव्य... यह चौदह ब्रह्माण्ड है, उसमें उसे छह द्रव्य हैं, उन्हें **और शुद्ध-आकाशमात्र अलोक को जानते हैं,...** छह द्रव्य और लोक को—अलोक को जाने, (परन्तु) अपने को न जाने। किस अपेक्षा से? जैसे पर को ऐसे जाने, वह व्यवहार है, इस प्रकार से व्यवहार से अपने को न जाने। अपने को जाने तो निश्चय से तन्मय होकर जानते हैं। समझ में आया? सूक्ष्म बात है।

यह पुस्तक है, इसे जानना। जानना वह ज्ञान कहीं पुस्तक में तन्मय नहीं होता; इसलिए उसे व्यवहार कहा है। ऐसे व्यवहार से आत्मा को जाने; पर को जैसे जाने, वैसे व्यवहार से आत्मा को जाने—ऐसा नहीं है। समझ में आया? आत्मा तो निश्चय से अपने को जाने। तन्मय होकर जाने इसलिए निश्चय है। वह व्यवहार से न जाने, ऐसा कहना (उसमें) कुछ बाधा नहीं है। ऐसे पर में तन्मय होकर नहीं जानता, समझ में

आया? ऐसे आत्मा में, तन्मय होकर न जाने, ऐसा व्यवहार (नहीं है, इसलिए) वह व्यवहार से आत्मा को नहीं जानता। समझ में आया? पर को भिन्न रखकर जानना, वह व्यवहार हुआ, ऐसे आत्मा को भिन्न रखकर जाने—ऐसा उसमें नहीं। क्या कहा यह, समझ में आया?

यह क्या कहलाता है? यह प्लास्टिक है न। रतिभाई का, यह राजकोट का प्लास्टिक है। यह तुम्हारा है। यह लकड़ी का लो दृष्टान्त। इस लकड़ी को ज्ञान जाने, (तो) ज्ञान उसमें एकमेक होकर जानता है? पर अपेक्षा से उसे 'जानता है', ऐसा कहना, वह व्यवहार। इसी प्रकार आत्मा व्यवहार से आत्मा को जाने? समझ में आया? ज्ञान पर को जाने—ऐसा कहना, वह व्यवहार है, इस प्रकार ही आत्मा व्यवहार से ज्ञात हो—ऐसा नहीं है। भिन्न रहकर उसे जानता है, ऐसा आत्मा में नहीं है। इसलिए व्यवहार से आत्मा को नहीं जानता, व्यवहार से उसे (पर को) जाने। हीराभाई! गजब बातें ऐसी... साधारण समाज को (कठिन लगे)। बापू! तेरा स्वभाव ऐसा है, भाई! ऐसा कहते हैं। स्वयं अपने को जाने तो एकरूप—तन्मय होकर जाने। अलग रहकर जाने, ऐसा उसमें है नहीं। समझ में आया?

निरुपराग (निर्विकार) शुद्ध आत्मस्वरूप को नहीं ही जानते... जैसे पर को भिन्न रखकर जानता है, वैसे आत्मा को भिन्न रखकर जानता है, ऐसा है नहीं। **ऐसा यदि व्यवहारनय की विवक्षा से...** अर्थात् कथन से **कोई जिननाथ के**—सर्वज्ञ परमात्मा के **तत्त्वविचार में निपुण जीव (-जिनदेव द्वारा कहे हुए तत्त्व के विचार में प्रवीण जीव) कदाचित् कहे, तो उसे वास्तव में दूषण नहीं है।** क्यों नहीं दूषण? आत्मा को न जाने, वह दूषण नहीं? भिन्न रखकर जाने, ऐसा उसमें है ही नहीं, इसलिए दूषण है नहीं। समझ में आया? कठिन बातें, भाई! आत्मा ज्ञानानन्दस्वभाव, वह ज्ञान को तो ज्ञान में तन्मय होकर उसे जाने। ज्ञान से दूर रहकर ज्ञान को जाने, वह व्यवहार उसमें है नहीं। समझ में आया इसमें? आहाहा!

ऐसा कोई तत्त्वविचार से कहे तो उसे बाधा—दूषण नहीं है। पहले ऐसा आया था कि निश्चय से आत्मा आत्मा को जानता है, लोकालोक को नहीं जानता। ऐसा आया था न? लोकालोक को तन्मय होकर जानता है? कड़वाहट है, देखो! यहाँ मुख में

कड़वाहट आयी या मिठास आयी। मिठास लो शक्कर। ज्ञान शक्कर को, ज्ञान शक्कर में तन्मय होकर जानता है? शक्कर को भिन्न रखकर ज्ञान जानता है, इसलिए व्यवहार हुआ। परन्तु ज्ञान ज्ञान को जानता है, वह शक्कर की भाँति ज्ञान को भिन्न रखकर ज्ञान को जानता है? सूक्ष्म पड़े। समझ में आया? कुन्दकुन्दाचार्य ने गाथायें यह ली है तो कुछ हेतु से ली है न! उसका स्वभाव पूर्ण है। शक्ति से तो पूर्ण है, परन्तु प्रगट हो, तब पूर्ण है और पूर्ण ज्ञान में अनन्त आनन्द है। समझ में आया? ऐसा स्वरूप का सामर्थ्य है कि जो स्वयं अपने को एकमेक—तादात्म होकर जानना, उसका नाम निश्चय है और तादात्म होकर नहीं जानना, उसका नाम व्यवहार है। तो व्यवहार से आत्मा ज्ञात नहीं होता। व्यवहार से पर ज्ञात होता है। समझ में आया? **उसे वास्तव में दूषण नहीं है।** श्लोक है इसका। दूसरा है।

इसी प्रकार (आचार्यवर) श्री समन्तभद्रस्वामी ने (बृहत्स्वयंभूस्तोत्र में श्री मुनिसुव्रत भगवान की स्तुति करते हुए ११४वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

स्थितिजननिरोधलक्षणं
चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम्।
इति जिन सकलज्ञ-लाञ्छनं
वचनमिदं वदताम्वरस्य ते॥

श्लोकार्थ:—हे जिनेन्द्र! तू वक्ताओं में श्रेष्ठ है;... सत्य को कहने के कथन के वक्ता में आप श्रेष्ठ हो। **चराचर (जंगम तथा स्थावर) जगत...** गतिमान पदार्थ और स्थिर रहे हुए पदार्थ। ऐसे जगत को **प्रतिक्षण (प्रत्येक समय में)...** समय-समय में... एक 'क' बोले उसमें असंख्य समय जाते हैं। उसके छोटे में छोटे भाग को समय कहा जाता है। ऐसे प्रतिक्षण—प्रत्येक समय में यह जगत **उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणवाला है' ऐसा यह तेरा वचन...** वक्ता में लिया है सही न। वक्ताओं में श्रेष्ठ है, ऐसा कहा है न? एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में प्रत्येक द्रव्य—वस्तु में नयी अवस्था उत्पन्न हो, पुरानी अवस्था व्यय हो, सदृशरूप से ध्रौव्यपने वह तत्त्व रहे। समय एक और अंश तीन। ऐसा उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणवाला है। कौन? यह जगत। **ऐसा यह तेरा वचन...** यह आपकी

वाणी ऐसी आयी, वह **(तेरी) सर्वज्ञता का चिह्न है।** वह सर्वज्ञता का चिह्न, 'आप सर्वज्ञ हो' ऐसा उसका लक्षण ज्ञात होता है। आहाहा! समझ में आया?

ऐसा सर्वज्ञ जीव हो सकता है, ऐसा उसका स्वरूप है। भारी किया... तीन काल, तीन लोक... यहाँ तो श्रुतज्ञान आत्मा का होने से, ज्ञान में भगवान अनन्तस्वरूप प्रभु आत्मा है, ऐसा अन्तर वेदन ज्ञान का होने से, वह ज्ञान की पर्याय भी जितनी है, उतनी जानने की सामर्थ्य रखती है। इससे दूसरा अनन्तगुणा होता, (तो उसे जानने की) वह सामर्थ्य रखती है। आहाहा! किसी का करना या किसी से लेना या किसी को जाने बिना रहना—ऐसा उसका स्वरूप नहीं। समझ में आया? .... पूर्ण जाने, पूर्ण जाने। एक समय में तीन भाग—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इस प्रकार से तीनों काल वर्तते हैं। एक समय में तीन पकड़े और आपने कहा कि एक समय में तीन हैं। आपने कहा, वह सर्वज्ञता का चिह्न है। यह वाणी सर्वज्ञ के अनुसार निकली हुई है। समझ में आया?

यह समन्तभद्र आचार्य की (द्वारा की हुई) स्तुति है मुनिसुव्रतनाथ भगवान की। अभी आ गया है, स्तुति में आ गया है भक्ति में। पूरा जगत—चौदह ब्रह्माण्ड (में रहे हुए) छह द्रव्य एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में—एक समय में—जिस काल के दूसरे भाग न पड़ें, ऐसे काल में—एक समय में—जगत के द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रुव (रूप से) वर्तते हैं, ऐसा आपने कहा। यह कहा, वह वचन सर्वज्ञता का लक्षण बताता है। समझ में आया? वक्ताओं में श्रेष्ठ है। आप श्रेष्ठ हो वक्ताओं में। समझ में आया? जिस सर्वज्ञता में एक समय में प्रत्येक द्रव्य की तीन वस्तु (-अंश) ज्ञात हुई और ऐसा है, ऐसा आपने कहा। ठीक! वक्ता में श्रेष्ठ हो और सर्वज्ञता का लांछन है (अर्थात्) चिह्न है, चिह्न, ऐसा। समझ में आया? है न अन्दर लांछन है न? **लांछनं...** लांछन अर्थात् यह लांछन (कलंक) लगे, ऐसा नहीं। चिह्न। आहाहा!

अनन्त-अनन्त आकाश है ऐसा। है या नहीं? ऐसे चीज़ है वह। ऐसे जाते... जाते... जाते कहीं अन्त आयेगा? अन्त आवे कहीं उसमें? अन्त आवे तो फिर क्या? आकाश अरूपी ऐसे अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त ऐसा का ऐसा जाते... जाते... जाते... जाते... जाते, कि अब समाप्त हो गया (ऐसा) है? ऐसे भाग को भी आपने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यवाला एक समय में कहा। यह सर्वज्ञ का

चिह्न है। आपने सब देखा है। समझ में आया? अनन्त क्षेत्र, अनन्त काल, अनन्त द्रव्य, अनन्त गुण, अनन्त अवस्था, अवस्था के भी अनन्त-अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदों के अंश प्रत्यक्ष, प्रभु! आपने देखे हैं। इसलिए आपका वचन, उत्पाद-व्यय-ध्रुव एक समय में कहनेवाला, वह आपका वचन सर्वज्ञता को बताता है। ऐसी वाणी सर्वज्ञ के अतिरिक्त कहीं होती नहीं। समझ में आया? आहाहा! हम परमेश्वर हैं, ऐसा कहे और फिर घोड़ी पर बैठे, हम परमेश्वर हैं और फिर आहार करे, हम परमेश्वर हैं और शरीर में रोग हो—वह परमेश्वर ही नहीं। समझ में आया? ऐसे आचरण में सर्वज्ञपना हो नहीं सकता और उसमें एक समय में तीन (अंश) जाने, ऐसी वाणी भी होती नहीं। आहाहा!

और (इस १६९वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):— २८५।

'**जानाति लोकमखिलं खलु तीर्थनाथः**' ऐसे जीव को देवरूप से कहते हैं, ऐसा कहते हैं। इसके अतिरिक्त के सब देव नाम धरानेवाले अज्ञान से जल रहे हैं, कहते हैं। समझ में आया? जिसे दिव्यशक्ति ज्ञान की पूर्ण प्रगट हो गयी है, उसे देव कहते हैं, दूसरे को देव नहीं कहा जाता। नहीं माना जाता। मानने की दिक्कत अभी।

जानाति लोक-मखिलं खलु तीर्थ-नाथः
स्वात्मान-मेक-मनघं निज-सौख्य-निष्ठम्।
नो वेत्ति सोऽय-मिति तं व्यवहार-मार्गाद्,
वक्तीति कोऽपि मुनिपो न च तस्य दोषः॥२८५॥

'**मुनिपो**' अर्थात्? '**मुनिपो**' शब्द आया न। मुनिवर सहित। 'मुनिवर' है अनदर। '**मुनिपो**' अर्थात् मुनिवर।

श्लोकार्थ : तीर्थनाथ—जिनेन्द्रदेव सर्वज्ञ परमात्मा जिन्होंने एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में तीन काल, तीन लोक जाने हैं, ऐसे तीर्थनाथ **वास्तव में समस्त लोक को जानते हैं और वे एक, अनघ (निर्दोष),...** है। जिस प्रकार लोक को—पर को जानते हैं, इस प्रकार से एक निर्दोष **निजसौख्यनिष्ठ (निज सुख में लीन)...** भगवान आत्मा है। सर्वज्ञ हुए वे तो पूर्ण आनन्द में लीन हैं। आनन्दस्वभाव जो आत्मा में था,

अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ आत्मा है, वह आनन्द जहाँ सर्वज्ञपने में प्रगट हुआ, पूर्ण आनन्द में लीन है। वह भगवान **स्वात्मा को नहीं जानते...** जैसे दूसरे को दूर रखकर जानते हैं, वैसे आत्मा को दूर रखकर नहीं जानते। आहाहा! समझ में आया?

निजसौख्यनिष्ठ... भगवान तो अपने आनन्द में लीन हैं। उसे दूर रखकर जाने, ऐसा है नहीं और व्यवहार से आत्मा को आत्मा जानता नहीं। यहाँ तो ऐसा विचार आया कि जहाँ निश्चय आत्मा का भान हुआ, निश्चय हो तो उसे रागादि व्यवहार होता है। क्योंकि भिन्न जानकर—भिन्न रखकर जाने। समझ में आया? ऐसे नीचे (के गुणस्थान में) भी आत्मा भिन्न रखकर उसे जाने, ऐसा व्यवहार उसमें नहीं। राग को भिन्न रखकर जाने, ऐसा व्यवहार है। समझ में आया? आत्मा के स्वभाव में निश्चय लीन रहकर राग को जाने, वह व्यवहार है, परन्तु राग को भिन्न रखकर जाने, वैसे आत्मा को भिन्न रखकर जाने, ऐसा है नहीं। क्या कहा, समझ में आया इसमें? व्यापारियों को ऐसे सब तर्क नहीं उठते। बिना भान के चले गाड़ी। आहाहा!

यहाँ तो वास्तविक तत्त्व भगवान चैतन्यस्वरूप यह देह के परमाणु—मिट्टी से भिन्न है। चैतन्यस्वभाव—जिसका जानना स्वभाव है, जगत की आँखें वह तो है। जगतरूप नहीं, जगत की आँखें हैं। वह जगत को जाने, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। और उसी प्रकार आत्मा आत्मा को व्यवहार से जाने, ऐसा नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? ऐसे निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान में आत्मा आत्मा से-अपने से जाने, तन्मय होकर जाने, वह तो निश्चय है और राग को तन्मय हुए बिना जाने, वह व्यवहार कहलाता है। परन्तु (जैसे) राग को तन्मय हुए बिना जाने, वैसे आत्मा को तन्मय हुए बिना जाने, ऐसा उसके स्वभाव में है नहीं। आहाहा! समझ में आया?

साधारण बात लगे, परन्तु बात में अन्दर गहरा माल है। लोगों को यह द्रव्य-गुण-पर्याय क्या, इसका ज्ञान ही फेरफार हो गया। फिर व्यवहार और निश्चय के भाग करना, वह तो और कहीं रह गया। आहाहा! भगवान आत्मा... यहाँ तो देखो न! एक साधारण शिक्षा का ज्ञान कहीं बड़ा प्राप्त करे और कुछ पार पाये। क्या कहलाता है? उसे—मास्टर को कहा जाता है न। वह क्या कहलाता है? मास्टर कहा जाता है न बहुत पढ़े हुए को। सबमें होशियार वह मास्टर कहलाता है। ऐसा आता है कहीं। ... वह तो

उपाधि, परन्तु मास्टर बड़ा प्रोफेसर। यह मास्टर साधारण, ऐसा नहीं। यहाँ देते हैं, पदवी देते हैं। ... बड़ा मास्टर निष्णात। धूल में भी निष्णात नहीं। परवस्तु का ज्ञान, वह ज्ञान नहीं। वह शिक्षा का ज्ञान, यह वकालत का ज्ञान, यह डॉक्टर का ज्ञान—यह सब अज्ञान है। समझ में आया? कुज्ञान कहो या अज्ञान कहो। कुज्ञान है, बन्ध का कारण है, भटकने का कारण है। क्योंकि उस ज्ञान में स्वयं आया नहीं। उस ज्ञान में यह सब... यह सब... यह सब आया, ऐसा। समझ में आया?

जिस ज्ञान में स्वयं नहीं आया, उस ज्ञान को अज्ञान कहते हैं। जिस ज्ञान में स्वयं आया, यथार्थरूप से स्वज्ञेय को जाना, वह निश्चयज्ञानी कहलाता है और रागादि बाकी रहते हैं... देव-गुरु-शास्त्र को जाने, उसे व्यवहार कहा जाता है। क्योंकि उसमें एकमेक होकर नहीं जानता। भिन्न रखकर जाने, उसे व्यवहार कहते हैं। अभेद होकर—तन्मय होकर जाने, उसे निश्चय कहते हैं। समझ में आया? यह व्रत पालना, ब्रह्मचर्य (पालना), अपवास करना—ऐसे-ऐसे... क्या कहते हैं उसमें कुछ अता-पता हाथ आवे नहीं। आहाहा!

तीर्थनाथ पूरे लोक को जानते हैं। और एक यह जो आनन्द में लीन प्रभु आत्मा हैं... सर्वज्ञ की बात है न! ऐसे स्वात्मा को... (निज सुख में) लीन है, उसमें लीन रहे बिना **स्वात्मा को नहीं जानते—ऐसा कोई मुनिवर व्यवहारमार्ग से कहे तो उसे दोष नहीं है।** उसे भिन्न रखकर वह जानता नहीं, इसलिए व्यवहार से जानता नहीं। आहाहा! समझ में आया? .... कहाँ जाता है? जाता है कहाँ? ... व्यवहार से न जाने अर्थात् व्यवहार से भिन्न है, ऐसा जाने? जैसे जगत को भिन्न रखकर ज्ञान जाने, उसे व्यवहार कहा, इस प्रकार से आत्मा को भिन्न रखकर जाने? इसलिए व्यवहार से जानता ही नहीं। समझ में आया? स्पष्टीकरण तो आ गया है दो-तीन बार।

सच्चिदानन्द प्रभु, आनन्द का नाथ आत्मा, उसे तो उसमें एकाकार होकर वह जानता है। समझ में आया? एकाकार हुए बिना वह ज्ञात ही नहीं होता, ऐसा कहते हैं और राग में एकाकार हुए बिना राग ज्ञात होता है। समझ में आया? यह शरीर है, लो हड्डियाँ। यह तो जड़ है, मिट्टी है। यह ज्ञान जानता है या नहीं? ज्ञान क्या जाने? किस प्रकार जानता है? यह ठण्डा है। ठण्डा में प्रवेश करके जानता है? भिन्न रखकर जानता

है। ऐसा पराश्रित है न इसलिए। यह है, यह है, उसका जो ज्ञान हुआ, वह तो अपने में हुए है, परन्तु वह ज्ञान उसे जानता है, ऐसा उसमें एक (हुए) बिना जानता है, इसलिए उसे व्यवहार कहा जाता है। ऐसे आत्मा अपने स्वरूप को ज्ञान में एकाकार हुए बिना जानता है? व्यवहार से जानता नहीं। ऐकमेक हुए बिना जानता नहीं, एकमेक होकर जाने, वह निश्चय है।

रात्रि को प्रश्न हुआ था न! तुमने सवेरे नहीं कहा था? वे तीन बोल नहीं आये थे? तीन नय है। आत्मा अपना ज्ञानगुण जो त्रिकाल, उससे जानता है, यह शुद्धनिश्चय है। क्योंकि ज्ञान अपने को जाने पूरे को, वह तो निश्चय है। वह तो त्रिकाली ज्ञान त्रिकाली को जानता है, वह शुद्धनिश्चय है। वर्तमान ज्ञान त्रिकाली आदि को जानता है और स्वयं को जानता है, यह निश्चय है स्व-आत्मा। और वह ज्ञान पर को जानता है, यह व्यवहार है। पर में तन्मय होता नहीं। ज्ञान अपने को जाने गुण, हों! वह तो तन्मय है—उसमें एकाकार है। त्रिकाली ज्ञान, त्रिकाली दर्शन, वह त्रिकाली को जाने, वह तो तन्मय... तन्मय—एकरूप त्रिकाल है। और यह निश्चय अभेद है और यह भी निश्चय अभेद है, इसलिए इसे शुद्धनिश्चय कहा। पूरे आत्मा को पूर्ण जाने अकेला स्वाश्रय से, वह निश्चय कहा, पर्याय से जाने ऐसा। वह गुण से द्रव्य को जाने, वह पर्याय से जाने।

कार्यपरमात्मा होने पर भी... आया है न उसमें? कौन कार्यपरमात्मा? पर्याय में कार्यपरमात्मदशा है, तथापि त्रिकाली गुण, वह गुणी को जाने। तन्मय है न एकमेक। अन्दर में गुण जो त्रिकाली द्रव्य को जाने, उसका नाम शुद्धनिश्चय। और एक समय की वर्तमान पर्याय अपने द्रव्य-गुण-पर्याय—तीनों को जाने, वह स्व-आश्रित निश्चय। और वर्तमान पर्याय जिसमें तन्मय नहीं, ऐसी चीज़ को जाने, उसका नाम व्यवहार। ऐसा... ऐसी बातें कुछ चलती होंगी सब भाईयों के व्यापार में? वहाँ तो धन्धा ऐसा करना, घर का यह करना, फलाना यह करना, ढींकणा यह करना। आहाहा! घर की चीज़ को घर में रहकर जानना, वह निश्चय है। घर की चीज़ में—घर में चीज़ नहीं, उसे जानना, वह व्यवहार है। नहीं, उसे जानना, इसका (नाम) व्यवहार, परन्तु है उसमें उसे जानना, वह व्यवहार से जानता है? व्यवहार से जानता ही नहीं। समझ में आया?

कुन्दकुन्दाचार्य ने इस गाथा में लिया है... महामुनि प्रमत्त-अप्रमत्त में झूलते हुए,

अपनी भावना के लिये ग्रन्थ रचा है, ऐसा कहते हैं। अन्तिम गाथा है न! भावना के लिये रचा है। आहाहा! हम तो हमारे आत्मा को अभेद से—निश्चय से जानते हैं। भिन्न रखकर जानते हैं तन्मय हुए बिना, ऐसा नहीं है। इसलिए हम आत्मा को जानते हैं, वह निश्चय—यथार्थ है। वह आत्मा... यहाँ तो कहते हैं कि पर का ज्ञान, वह तो ठीक, अकेला अज्ञान है, परन्तु परवस्तु सिद्धभगवानादि हैं, ज्ञान की मूर्ति आनन्दकन्द प्रभु है—उसे जानता है कहना, वह व्यवहार है। आत्मा को जाने बिना अकेला पर का ज्ञान, वह तो अज्ञान है। परन्तु आत्मा को जाना हुआ ज्ञान, वह ज्ञान सिद्ध को जाने, वह व्यवहार है। आहाहा! वह ज्ञान व्यवहार से अपने को जानता नहीं, अर्थात् भिन्न रहकर जानता नहीं। व्यवहार से आत्मा आत्मा को जानता नहीं। आहाहा! समझ में आया?

अपना भगवान सच्चिदानन्द प्रभु, उसे जाने बिना अकेला यह लौकिकज्ञान, शास्त्रज्ञान, डॉक्टरज्ञान, वकालत का ज्ञान, वह अज्ञान है। वह तो अज्ञान है। एक बात। अपने को जानते हुए हुआ ज्ञान, वह ज्ञान पर को जाने, वह स्व सहित, हों! ऐसे सहित नहीं और अकेले पर को जाने, वह तो अकेला अज्ञान है। समझ में आया? अपने ज्ञान के भान बिना पर का अकेला जानपना, वह तो अज्ञान है। अब यहाँ तो भानवाला—ज्ञानवाला, अपना ज्ञान अपने को हुआ कि मैं तो चैतन्य आनन्द शुद्ध हूँ, ऐसा ज्ञानवाला पर को जाने, वह पराश्रित व्यवहार कहलाता है। समझ में आया? वह पराश्रित व्यवहार, इस प्रकार से आत्मा को व्यवहार से जाने, ऐसा नहीं है। समझ में आया? कहो, पण्डितजी! यह आत्मा के भान बिना की पण्डिताई अज्ञान है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : सोलह आना सही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सोलह आना सही है।

और आत्मा के भानवाला पर का, लोक का ज्ञान, वह व्यवहार और आत्मा का भान व्यवहार से हो सकता नहीं और व्यवहार से आत्मा (अपने को) जानता नहीं। वह तो निश्चय से भगवान अपने में राग से पृथक् पड़कर, शरीर, राग और विकार से भिन्न होकर, स्वयं अपने को अन्दर जाने, वह निश्चयज्ञान है, वह सच्चा ज्ञान है। ऐसे ज्ञानी को पर का ज्ञान व्यवहार से है, ऐसा कहा जाता है। आहाहा! कठिन बात, भाई! उसे क्या दोष है? यह २८५ (श्लोक) हुआ। वह तो सुख में लीन है। भगवान आत्मा पूर्ण

सर्वज्ञदशा... जहाँ पूर्ण ज्ञान वहाँ पूर्ण आनन्द। समझ में आया? उसे देव कहते हैं। आत्मा शक्ति से ऐसा देव है। वह सुख में ही लीन है भगवान आत्मा। उसका आश्रय लेकर जिसने पर्याय पूर्ण प्रगट की, वह सुख में लीन है। सुख में लीन है, उसे ऐसा कहना कि व्यवहार से आत्मा जानता है, सुख में लीन है उसे ऐसा कहना कि व्यवहार से आत्मा, आत्मा को जानता है—ऐसा हो नहीं सकता। आहाहा! अब १७०।

णाणं जीव-सरूवं तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पा।
अप्पाणं ण वि जाणदि अप्पादो होदि विदिरित्तं॥१७०॥

है ज्ञान जीव स्वरूप इससे जीव जाने जीव को।
निज को न जाने ज्ञान तो वह आतमा से भिन्न हो॥१७०॥

टीका : यहाँ (इस गाथा में) 'जीव ज्ञानस्वरूप है' ऐसा वितर्क से (दलील से) कहा है। प्रथम तो, ज्ञान वास्तव में जीव का स्वरूप है;... जैसे मिठास, वह शक्कर का ही स्वरूप है; उसी प्रकार यह भगवान आत्मा में ज्ञान ही स्वरूप है। जीव ज्ञानस्वरूप ही है। यह आत्मा शरीरस्वरूप नहीं, वाणीरूप नहीं, कर्मरूप नहीं, तथा पुण्य-पाप के भावरूप नहीं। वह तो ज्ञानस्वरूप है। चैतन्यसूर्य ज्ञानस्वरूप है। **उस हेतु से, जो अखण्ड अद्वैत स्वभाव में लीन है,...** अखण्ड अपनी दशा अद्वैत स्वभाव में अथवा वस्तुस्वभाव में लीन है। लीन, वह पर्याय। वह **निरतिशय परम भावनासहित है,...** जिससे कोई उत्कृष्ट नहीं। **अनुत्तम...** अर्थात् उत्तम नहीं। **अजोड़...** ऐसी परमभावनासहित, ज्ञान की परमभावनासहित है।

जो मुक्तिसुन्दरी का नाथ है... आहाहा! ज्ञानस्वरूप है, ऐसा भगवान, उसकी अकेली ज्ञान की पर्याय पूर्ण हो गयी, वह मुक्तिसुन्दरी का—पूर्ण मुक्तदशा का वह स्वामी है। **और बाह्य में जिसने कौतूहल व्यावृत्त किया है...** लो, बाहर का देखना जिसने उत्सुकता छोड़ दी है। **(अर्थात् बाह्य पदार्थों सम्बन्धी कुतूहल का जिसने अभाव किया है)...** आहाहा! **ऐसे निज परमात्मा को कोई आत्मा—भव्य जीव—जानता है।** ऐसे निज परमात्मा को—अपना त्रिकाली स्वरूप उसे—कोई आत्मा भव्य जीव जानता है।**—ऐसा यह वास्तव में स्वभाववाद है।** कहो, समझ में आया?

तर्क से कहते हैं कि आत्मा में ज्ञान है, परन्तु ज्ञान आत्मा को जानता नहीं। ऐसा शिष्य का तर्क है वह। स्थिर रहे, परन्तु आत्मा ज्ञानमूर्ति ज्ञान से आत्मा जाने, ज्ञान से आत्मा जाने—यह क्या? ऐसा भेद क्या? फिर आत्मा का... सामने शिष्य का तर्क है। ऐसा नहीं। ज्ञान आत्मा को जानता है—ऐसा वास्तव में स्वभाववाद है, लो। भव्यजीव जानता है, अपने को अपने ज्ञान द्वारा... ज्ञान द्वारा जानता है, इसलिए वह ज्ञान भिन्न और आत्मा भिन्न, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

ऐसा यह वास्तव में स्वभाववाद है। भाषा देखो! ज्ञान अपने को जानता है, यह उसका स्वरूप है। ज्ञान अपने को न जाने तो उसका स्वरूप क्या? समझ में आया? ऐसा कि ज्ञान तो आत्मा में स्थिर है, फिर ज्ञान इसे जाने, ऐसा क्या? ऐसा भेद करके स्वभाववाद सिद्ध किया। ज्ञान स्वरूप को जाने, अपना स्वरूप है, अपने स्वरूप को जानता है। **इससे विपरीत वितर्क (-विचार) वह वास्तव में विभाववाद है,...** इससे उल्टा वह सब विभाववाद है। **प्राथमिक शिष्य का अभिप्राय है।** यह तर्क हुआ।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण ३, रविवार, दिनांक-०५-१२-१९७१
गाथा-१७०-१७१, श्लोक-२८६-२८७, प्रवचन-१९४

यह नियमसार, शुद्धोपयोग अधिकार है। अभी अधिकार (इसका है कि) ज्ञान और आत्मा ऐसे ज्ञान से दो भेद पड़ने पर भी ज्ञान और आत्मा दोनों अभेद है, इसलिए ज्ञान की भावना करनेवाला, वह आत्मा की ही भावना करता है। समझ में आया? जैसे राग और द्वेष के भाव, वे आत्मा के साथ संयोगीभाव हैं, वे स्वभावभाव नहीं। उसी प्रकार ज्ञान और आत्मा नाम भिन्न पड़े, तथापि वे दोनों संयोगीभाव नहीं हैं, स्वभावभाव है। समझ में आया? यह बात, यहाँ स्व-परप्रकाशक की चर्चा में यह बात ली है। यह आ गया है १७०। **वह वास्तव में विभाववाद है, प्राथमिक शिष्य का अभिप्राय है।** यहाँ तक। है न? १७० का पहला पैराग्राफ। अब इसकी—शिष्य की दलील है।

वह (विपरीत वितर्क—प्राथमिक शिष्य का अभिप्राय) किस प्रकार है? (वह इस प्रकार है:—) शुरुआत में उसने सुना सही कि ज्ञान, वह आत्मा अथवा ज्ञान और आत्मा—(ऐसे) दो नाम सुने, इसलिए प्रथम, शिष्य को ऐसा लगा कि ज्ञान भी आत्मा के साथ संयोगसम्बन्ध से लगता है। समझ में आया? यह आत्मा और ज्ञान, ऐसा कहा न? यह पहले में आ गया है अपने कर्ता-कर्म में, नहीं? विकार के भाव और आत्मा का भावस्वभाव दोनों की भिन्नता—अन्तर न जाने, तब तक वह अज्ञानी मूढ़ है। पुण्य और पाप के भाव, वे विभावभाव हैं और स्वभाव भिन्न है। ऐसे दो के अन्तर को न जाने, तब तक वह अज्ञानभाव से—दो की भिन्नता के अभाव से विभावभाव में प्रवर्तता है, तब तक वह मिथ्यादृष्टि विकार में प्रवर्तता है। इसी प्रकार आत्मा और ज्ञानस्वभाव—दो में उनकी भाँति अन्तर नहीं। विकार के भाव और ज्ञान के अथवा आत्मा के भाव, वह ज्ञान और जैसे आत्मा नामभेद पड़ने पर भी स्वभावभेद से एक है, वैसे पुण्य-पाप के भाव नामभेद पड़े (और) भाव भी भेद है। समझ में आया?

यह आया है। 'अन्तर' है न शब्द वहाँ? 'विशेषान्तर' शब्द है वहाँ। यहाँ

'अन्तर' शब्द है। भाषा एक की एक है। समझ में आया? यह तो धीरे से समझने की बात है। भगवान आत्मा और उसका ज्ञानभाव—स्वभाव, वह एकरूप है, वह स्वभाववादी की मान्यता है। समझ में आया? भगवान आत्मा और ज्ञानभाव, स्वभाव (और) स्वभाववान अभेद है। ज्ञान की भावना भाने से धर्मी आत्मा की ही भावना भाता है। समझ में आया? परन्तु यह नामभेद से भेद होने से स्वभावभेद से एक है और पुण्य-पाप के भाव संयोगसम्बन्ध है। हाँ, वह संयोगसम्बन्ध है। 'तदात्म्यसम्बन्ध' ऐसा शब्द आया। ज्ञान और आत्मा (के बीच) तदात्म्यसम्बन्ध है। सम्बन्ध है, परन्तु तदात्म है। परन्तु सम्बन्ध कहने से दो हो जाते हैं, ऐसा इस शिष्य का प्रश्न है। समझ में आया?

सम्बन्ध कहा न? आत्मा और ज्ञान को सम्बन्ध है। परन्तु कैसा सम्बन्ध है, यह लक्ष्य में नहीं लिया। समझ में आया? इसलिए दो भिन्न है, ऐसा हो गया उसे। जानना—ज्ञान और आत्मा दोनों भिन्न हैं। सूक्ष्म है जरा, समझने को कठिन पड़ेगा। तुमको तो अभ्यास नहीं है न। हिन्दी करेंगे तो भी सूक्ष्म पड़ेगा। यह व्याख्या ही पूरी अलग प्रकार की है। सूक्ष्म विषय है। दोपहर में रहे तो यह हो सके। उसमें से मुश्किल-मुश्किल से इकट्ठा हो। समझ में आया? है न? विपरीत तर्क... प्राथमिक शिष्य का अभिप्राय। इस ओर, पहली लाईन। पृष्ठ ३४३ पहली लाईन। अर्थात् कि प्रथम सुननेवाले ने ऐसा सुना कि आत्मा और ज्ञान। ऐसा सुना इसलिए उसे ऐसा हो गया कि आत्मा और ज्ञान दोनों भिन्न हैं। समझ में आया? इसलिए ज्ञान आत्मा को जानता है, ऐसा नहीं। दोनों भिन्न हैं। ऐसी शिष्य को शंका हुई। शिष्य तो लिया है, परन्तु सुना हुआ ऐसा लिया है। समझा हुआ, ऐसा नहीं। समझ में आया?

कहते हैं कि **पूर्वोक्तस्वरूप (ज्ञानस्वरूप) आत्मा को आत्मा वास्तव में जानता नहीं है,...** शिष्य का प्रश्न है। पूर्वोक्तस्वरूप ज्ञानस्वरूप वह आत्मा भिन्न है, क्योंकि ज्ञान और आत्मा दो हो गये। समझ में आया? सूक्ष्म बहुत हो गया। आत्मा को—ज्ञानस्वरूप आत्मा को आत्मा वास्तव में जानता नहीं। ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसा उस आत्मा को आत्मा जानता नहीं। वह तो **स्वरूप में अवस्थित रहता है...** वह तो आत्मा आत्मा में हैं। आत्मा और दूसरी चीज़ है, इसलिए ज्ञान उसे जानता है, ऐसा है नहीं। सूक्ष्म लिया है। **(-आत्मा में मात्र स्थित रहता है)।**

जिस प्रकार उष्णतास्वरूप अग्नि के स्वरूप को (अर्थात् अग्नि को) क्या अग्नि जानती है ? जड़ का दृष्टान्त दिया स्वयं अपने पक्ष का। जिस प्रकार उष्णतास्वरूप अग्नि के स्वरूप को... उष्णतास्वरूप अग्नि के स्वरूप को (-अग्नि को) क्या अग्नि जाने ? अपना स्वरूप ऐसा उष्ण है, ऐसा अग्नि जाने ? **(नहीं ही जानती।) उसी प्रकार ज्ञानज्ञेय सम्बन्धी विकल्प के अभाव से...** और ज्ञान तथा आत्मा ज्ञेय, ऐसे भेद का उसमें अभाव है, इसलिए ज्ञान भिन्न है और आत्मा भिन्न है। ऐसे भेद के अभाव से **आत्मा में स्थित रहता है...** वह तो आत्मा आत्मा में ही है, आत्मा ज्ञान में है और ज्ञान उसका स्वभाव है (और) आत्मा स्वभाववान है, ऐसा है नहीं—ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आज सूक्ष्म आया है। ज्ञान-ज्ञेय ऐसे भेद क्या और ? कहते हैं। वह तो आत्मा आत्मा में है, बस। समझ में आया ? आत्मा ज्ञानस्वरूप द्वारा अपने को जाने ऐसा है—ऐसा है नहीं। **(आत्मा को जानता नहीं है)।**

उपरोक्त वितर्क का उत्तर:—अब, यह शिष्य की शंका। आत्मा और ज्ञान, ऐसा नाम पड़ने से ऐसी शंका पड़ी कि वह तो दो भिन्न चीज़ है। आत्मा आत्मा में है। आत्मा ज्ञानस्वभाववाला है, ऐसा है नहीं। जैसे आत्मा विभाववाला नहीं, पुण्य-पाप के संयोगीभाववाला नहीं, वैसे ज्ञान और आत्मा (एक) स्वभाववाला है, ऐसा नहीं। ज्ञान भी भिन्न और आत्मा भी भिन्न। अरे ! बात सूक्ष्म। पण्डितजी ! **हे प्राथमिक शिष्य! अग्नि की भाँति क्या आत्मा अचेतन है ?** अग्नि तो अचेतन है अर्थात् अग्नि के स्वरूप को अग्नि नहीं जानती, उसका स्वरूप उष्णता है। समझ में आया ? ऐसे अचेतन है। यह आत्मा अचेतन है उसकी (अग्नि की भाँति) ? **(कि जिससे वह अपने को न जाने) ?** आहाहा !

अधिक क्या कहा जाये ? (संक्षेप में,) यदि उस आत्मा को ज्ञान न जाने... आत्मा को ज्ञान न जाने, ज्ञान है वह आत्मा को न जाने, **तो वह ज्ञान, देवदत्त रहित कुल्हाड़ी की भाँति, अर्थक्रियाकारी सिद्ध नहीं होगा,...** जरा सूक्ष्म बात है। नीचे (फुटनोट में) इसका अर्थ है। **प्रयोजनभूत क्रिया करनेवाला।** 'अर्थक्रिया' है न ? **(जिस प्रकार देवदत्त के बिना अकेली कुल्हाड़ी...** देवदत्त रहित अकेली कुल्हाड़ी... कुल्हाड़ी **अर्थक्रिया—काटने की क्रिया—नहीं करती, उसी प्रकार यदि ज्ञान आत्मा**

को न जानता हो तो ज्ञान ने भी अर्थक्रिया—जानने की क्रिया—नहीं की;... ऐसे ज्ञान आत्मा को न जानता हो तो ज्ञान ने भी अर्थक्रिया—जानने की क्रिया नहीं की। **जिस प्रकार अर्थ क्रियाशून्य कुल्हाड़ी देवदत्त से भिन्न है... जिस प्रकार अर्थ क्रियाशून्य कुल्हाड़ी देवदत्त से भिन्न है। उसी प्रकार अर्थक्रियाशून्य ज्ञान आत्मा से भिन्न होना चाहिए! परन्तु वह तो स्पष्टरूप से विरुद्ध है। इसलिए ज्ञान आत्मा को जानता ही है।)** आहाहा!

यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि विकल्पादि आत्मा को नहीं जानते। वह तो राग और विभाव है। समझ में आया? परन्तु ज्ञान तो उसका स्वभाव है, इसलिए ज्ञान आत्मा को जानता है। आहाहा! कठिन बात! समझ में आया? और ज्ञान आत्मा को जानता है, ऐसी जो ज्ञान की क्रिया, वह धर्म है। क्योंकि वह दोनों स्वभाव उसका है। स्वाभाविक क्रिया हुई न वह? उसमें यह आया है न, भाई? स्वभावक्रिया होने से निषेध नहीं कीगयी है। उसमें ही डालना है यह। ... किस प्रकार करे? जैसे आत्मा में, पुण्य-पाप के भाव विभाव होने से निषेध हो सकते हैं, क्योंकि उसके स्वभाव में वह चीज़ है नहीं। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध के विकल्प जो राग, उसका अभाव हो सकता है और इसलिए उसका निषेध किया जा सकता है, परन्तु आत्मा और ज्ञान दोनों एक होने से—तदात्मसम्बन्ध से होने से, भले सम्बन्ध कहा, परन्तु तदात्मसम्बन्ध है—एकरूप सम्बन्ध है। गजब भाई!

ऐसा आत्मा और ज्ञान एकरूप होने से ज्ञान की भावना करनेवाला वह आत्मा की ही भावना करता है। अन्तर ज्ञान में एकाग्र होनेवाला वह आत्मा में ही एकाग्र होता है। क्योंकि ज्ञान और आत्मा एकरूप है। समझ में आया? भारी कठिन बातें, भाई! ऐसे सब पहलू जानना सूक्ष्म पड़े और धर्म कैसे करना? धर्म करना हो, उसे उसका स्वभाव है, उसे जानना चाहिए। धर्म, वह उसका वस्तु का स्वभाव ज्ञान है। ज्ञानस्वभाव की एकाग्रता, वही आत्मा की एकाग्रता और वह ही उसका धर्म। पुण्य-पाप के भाव की एकाग्रता, वह अधर्म। समझ में आया? और आत्मा तथा ज्ञान दोनों एकरूप होने से ज्ञान की भावना करनेवाला—ज्ञान की एकाग्रता करनेवाले को स्वाभाविक क्रिया होने से वह निषेध नहीं हो सकती (और) वह निषेध की भी नहीं गयी है। समझ में आया?

कहते हैं न कि यह दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का व्यवहार का तुम निषेध करते हो। वह निषेध किया जा सकता है, इसलिए निषेध करते हैं। उसमें नहीं है, इसलिए निषेध करते हैं। समझ में आया? वीतराग धर्म ऐसा सूक्ष्म है। लोगों को यह बात ही मिली नहीं और उन्होंने अजैन को जैनपना माना है। कहते हैं कि आत्मा में, जैसे वे पुण्य-पाप के भाव और स्वभाव में अन्तर है, समझ में आया? उसी प्रकार आत्मा और ज्ञानस्वभाव में अन्तर—भेद नहीं। अन्तर नहीं अर्थात् भेद नहीं। इसलिए पुण्य-पाप के भाव को और आत्मा को स्वभावभेद, भावभेद होने से निषेध किया जा सकता है, अर्थात् कि छोड़ा जा सकता है अर्थात् कि उनके बिना रहा जा सकता है। समझ में आया?

ऐसे सब साधारण लोगों को बेचारों को कुछ खबर नहीं। यह पूजा की, भक्ति की, व्रत पालना और अपवास करना। आहाहा! भाई! इन सब क्रियाओं में तो राग है। वह राग तो निषेध करनेयोग्य है। वे कहते हैं कि आदरणीय है, यह कहते हैं कि निषेध करनेयोग्य है। क्योंकि वह संयोगसम्बन्ध से भाव है, वह स्वभावसम्बन्ध से भाव नहीं। परन्तु जैसे उसका—विभाव का निषेध किया जा सकता है, वैसे स्वभाव का भी निषेध किया जा सके, ऐसा नहीं होता। स्वभाववान और स्वभाव दोनों अभिन्न हैं, इसलिए स्वभाव की एकाग्रता की क्रिया... आयेगा, इसमें ही आयेगा इसमें। **इच्छुक जीव को ज्ञान की भावना भाना।** कलश है न ८२। ८२वाँ कलश नहीं, परन्तु आधार है। है न उस ओर। **जीव को ज्ञान की भावना भाना चाहिए।** यह बात सिद्ध की है। जरा सूक्ष्म तो पड़े ऐसा है, परन्तु जिस प्रकार हो उस प्रकार से आवे न! समझ में आया?

संसार में भी यह देखो न! बनिया चक्रवृद्धि ब्याज निकालता है। बारीक में बारीक ब्याज निकाले। सब निकालता है या नहीं भटकने के भाव में? वहाँ भूलता नहीं। यहाँ इसे लगे सूक्ष्म, यह बहुत सूक्ष्म। बापू! तू कितना सूक्ष्म, भाई! यहाँ तो कहते हैं कि दया, दान, व्रत और पूजा के भाव से भी न ज्ञात हो, न पकड़ में आये, ऐसा सूक्ष्म है। समझ में आया? तो यह सब बाहर की क्रिया से पकड़ में आये और ज्ञात हो, ऐसा तू है नहीं। वह तो अन्दर में ज्ञान की क्रिया (से पकड़ में आये), क्योंकि ज्ञान और आत्मा दोनों एक है। इसलिए ज्ञान को पकड़कर एकाग्र हो, वह आत्मा की क्रिया धर्म की करता है। ऐ मनसुख! भारी सूक्ष्म यह! ऐसा धर्म जैन का होगा? ऐ चिमनलालभाई!

अपने तो यहाँ कन्दमूल नहीं खाना, रात्रि में चारों प्रकार का आहार छोड़ना, सामायिक करना—ऐसा आता था या नहीं? सुना था या नहीं? तुम वहाँ सब प्रमुख थे। बापू! यह सब बातें तो राग की मन्दता के भाव की बात है कि जो आत्मा में है नहीं। समझ में आया? आहाहा! कठिन मार्ग बापू!

कहते हैं कि आत्मा तो मात्र आत्मा में स्थिर रहता है। और जाने, ज्ञान द्वारा आत्मा ज्ञात हो, आत्मा ज्ञान से जाने, ऐसा ज्ञान भिन्न है, इसलिए आत्मा को जाने—ऐसा है नहीं। हे शिष्य! **अग्नि की भाँति क्या आत्मा अचेतन है? यदि उस आत्मा को ज्ञान न जाने तो वह ज्ञान, देवदत्त रहित कुल्हाड़ी की भाँति,...** ज्ञान की—जानने की क्रियारहित ज्ञान रहा—आत्मा रहा। **और इसलिए वह आत्मा से भिन्न सिद्ध होगा!** तब तो वह ज्ञान की क्रिया आत्मा से भिन्न हुई। **वह तो (अर्थात् ज्ञान और आत्मा की सर्वथा भिन्नता तो)...** आत्मा और ज्ञान की सर्वथा भिन्नता... समझ में आया? नामभेद से भेद है भले... समझ में आया? आत्मभाव और ज्ञानभाव ऐसे भले भेद हो, परन्तु सर्वथा भिन्नता है, ऐसा है नहीं। समझ में आया?

वास्तव में स्वभाववादियों को संमत नहीं है। (इसलिए निर्णय कर कि ज्ञान आत्मा को जानता है।) ज्ञान, वह आत्मा का स्वभाव है, वह भिन्न नहीं, अभिन्न है। ऐसे स्वभाववादियों को, ज्ञान आत्मा को नहीं जानता, यह बात मान्य नहीं है। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात करके क्या कहना है उन्हें? भाई! तू राग से भिन्न पड़ और ज्ञान और आत्मा तो अभिन्न—एक है, इसलिए ज्ञान की भावना कर। वह ज्ञान की भावना—स्वभाव की भावना, वही आत्मा की भावना और आत्मा का धर्म है। आहाहा! समझ में आया?

इसी प्रकार (आचार्यवर) श्री गुणभद्रस्वामी ने (आत्मानुशासन में १७४वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकाङ्क्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम्॥

श्लोकार्थः—आत्मा ज्ञानस्वभाव है;... वह तो ज्ञानस्वभाव ही है। पुण्य और पाप और शरीर, वह स्वभावभावरूप है नहीं। **स्वभाव की प्राप्ति**—स्वभाव का प्राप्तपना

वह अच्युति है... अपना अविनाशी स्वभाव प्रगट हुआ। वह **(अविनाशी दशा) है;...** स्वभाव की प्राप्ति, आत्मा ज्ञानस्वभाव से ज्ञानस्वभाव की प्राप्ति, ज्ञान की एकाग्रता से ज्ञानस्वभाव की प्राप्ति, वह तो जीव की अविनाशी दशा है। समझ में आया? क्या कहा यह? आत्मा ज्ञानस्वभाव है तो ज्ञान की एकाग्रता से जो दशा प्रगट होती है, वह अविनाशी दशा अपनी है। केवलज्ञानदशा प्राप्त हो... आत्मा वस्तु और उसका ज्ञानगुण अभेद है, तो उसकी एकाग्रता से वह ज्ञान की जो पूर्ण दशा होती है, वह अविनाशी दशा उसकी है। समझ में आया?

इसी प्रकार नीचे भी राग से भिन्न पड़कर ज्ञान की एकाग्रता की क्रिया, उसकी स्वभाव की क्रिया है, वह धर्म है और एकाग्रता होने से पूर्ण दशा हो, वह शाश्वत् अविनाशी केवलज्ञानदशा है। समझ में आया? **इसलिए अच्युति को (अविनाशीपने को, शाश्वत दशा को) चाहनेवाले जीव को...** उसका अर्थ कि केवलज्ञान और मोक्ष की भावनावाले को, जिसे मोक्ष चाहिए हो अर्थात् कि केवलज्ञान की प्राप्ति जिसे करनी हो, उसे क्या करना? ऐसे इच्छुक **जीव को ज्ञान की भावना भाना चाहिए।** पुण्य-पाप और राग की भावना नहीं भाना। कहो, समझ में आया? क्योंकि अपना ज्ञान स्वभाव है, इसलिए स्वभाव की क्रिया पूर्ण होने से अविनाशीपने रहेगी। उसकी—स्वभाव की परिणति होगी वह तो। समझ में आया?

ऐसी स्वभाव की पूर्णता के इच्छुक जीव को... शर्त इतनी कि मुक्ति का इच्छुक जीव हो तो। समझ में आया? उसे ज्ञान की भावना भाना, ज्ञानस्वरूप आत्मा की अन्दर एकाग्रता की भावना भाना। क्योंकि ज्ञान, वह आत्मा और ज्ञान, वह आत्मा को जाननेवाला है। ऐसी दशा—ज्ञान की एकाग्रता करने से ज्ञान की पूर्ण दशा प्रगट होती है। लो, मार्ग भी कहा और मार्ग का पूर्ण स्वरूप (कहा)। परन्तु ज्ञान की पूर्ण दशा, वह मार्ग का स्वरूप है। ज्ञान की पूर्ण दशा, वह मार्ग का फल है। है न! मार्ग और मार्ग का फल। यह मार्ग वहाँ से शुरु होता है न? समझ में आया? आत्मा अर्थात् ज्ञानस्वरूपी। यह है न शब्द, देखो न! यह शब्द है। '**णाणं जीवस्वरूपं**' १७० का पहला शब्द है। '**णाणं जीवस्वरूपं तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पा।**' इसकी बात चलती है यह। '**णाणं जीवस्वरूपं**' जानना—ज्ञान, वह जीव का स्व-रूप है... स्व-रूप है। '**तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पा।**' ज्ञान उसका स्वरूप है, इसलिए ज्ञान उसे जानता है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो ज्ञान को स्व-परप्रकाशकपना सिद्ध करते हुए, ज्ञान उसका स्वभाव है तो ज्ञान आत्मा को जानता है, ज्ञान पर को जानता है। अन्त में योगफल लेंगे १७१ में। और आत्मा भी स्व-परप्रकाशक है। ज्ञान जैसे आत्मा को जानता है, ज्ञान पर को भी जानता है, वैसे आत्मा भी स्व को जानता है और पर को भी जानता है। क्योंकि ज्ञान और आत्मा अभेद और एक होने से... अरे भाई! कितना इसमें? पण्डितजी! ऐसा धर्म समझने के लिये... ...भाई! यह दुनिया बाहर में सब चतुराई करे, इससे दूसरा अलग प्रकार का चतुरपना है, कहते हैं। यह कभी किया नहीं। इसने लक्ष्य में लिया ही नहीं कि क्या चीज़ है। ऐसे की ऐसी क्रिया करने लगा। भक्ति करो और पूजा करो, व्रत पालन करो और अपवास करो। इन सब क्रियाओं में राग की मन्दता हो तो पुण्य होता है। यह क्रिया तो जड़ की—बाहर की होती हो ऐसे, ऐसे और ऐसे हिलना-चलना। (साथ में कदाचित्) राग की मन्दता (हो), परन्तु राग उसका स्वभाव नहीं, इसलिए धर्म है नहीं। कठिन बात, भाई! समझ में आया?

इसलिए धर्मी जीव को... भगवान आत्मा और ज्ञान, जैसे शक्कर और मीठापन दोनों एक है; उसी प्रकार आत्मा और ज्ञान दोनों एक है। शक्कर के ऊपर का मैल, वह मिठास से भिन्न है। समझ में आया? इसी प्रकार पुण्य और पाप के विकल्प और रागभाव, वह स्वभाव की पर्याय और स्वभाव—गुण और द्रव्य से भिन्न है। कहो, समझ में आया इसमें? इसलिए धर्मी जीव को—ज्ञान की पूर्णता की प्राप्ति (की) कांक्षावाले जीव को—आत्मा का ज्ञानस्वभाव पूर्ण हो, वह मुक्ति ऐसी आकांक्षावाले जीव को—भगवान आत्मा ज्ञानस्वभाव है, उसमें एकाग्र होना—उसकी भावना भाना। भावना भाना शब्द से (आशय) विकल्प, ऐसा नहीं। उस ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होना, उससे पूर्ण प्राप्ति होती है। उस ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता, वह मुक्ति का मार्ग और उसके फलरूप से ज्ञान पूर्ण होना, वह मुक्ति। कहो, समझ में आया? कठिन बातें, भाई!

और (इस १७०वीं गाथा की टीका के कलशरूप से टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):—

ज्ञानं तावद्भवति सुतरां शुद्ध-जीव-स्वरूपं,
स्वात्मात्मानं नियतमधुना तेन जानाति चैकम्।

तच्च ज्ञानं स्फुटित-सहजावस्थयात्मानमारात्,
नो जानाति स्फुटमविचलाद्भिन्नमात्मस्वरूपात् ॥२८६॥

यह तो सीधा। सीधा है न '**सुतरां**'?....

श्लोकार्थः—ज्ञान तो बराबर शुद्धजीव का स्वरूप है;... ओहोहो! ज्ञान ऐसा स्वभाव, वह तो जीव का स्वरूप है, वह जीव का भाव है। **इसलिए (हमारा) निज आत्मा अभी...** हमारा आत्मा अभी **(साधकदशा में)...** अभी, ऐसा कहते हैं। देखो! यह धर्मी का स्वरूप। धर्मी कहता है कि अभी हमारा आत्मा **एक (अपने) आत्मा को नियम से (निश्चय से) जानता है।** आहाहा! और ज्ञान द्वारा आत्मा को अभी नियम से—निश्चित जानते हैं। समझ में आया? देखो! यह धर्मी की दशा। यह सब रागक्रिया करते हैं, व्यवहार करते हैं—ऐसा नहीं। समझ में आया? अभी साधकदशा में हमारा आत्मा—निज आत्मा, आत्मा को... निजात्मा एक आत्मा को निश्चय से जानता है। यहाँ शब्द यह लिया, **आत्मा अभी एक आत्मा को नियम से जानता है।** कहो, समझ में आया?

आत्मा को ज्ञान, ज्ञान से जानता है, कहो तो ज्ञान और आत्मा दोनों एक है, ऐसा। अभी आत्मा आत्मा को जानता है। धर्मी का जीव—सम्यग्दृष्टि का जीव—धर्म की शुरुआत हुआ जीव, वह ऐसा जानता है कि अभी हम आत्मा को आत्मा से जानते हैं। क्योंकि आत्मा, वह ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान, वह आत्मा है। है न? अभी आत्मा (एक) आत्मा को नियम से जानता है। एक आत्मा को नियम से जानता है। आत्मा ज्ञानस्वभाव ऐसा जो आत्मा, उसे अभी जानता है। लो, इसका नाम सम्यग्दर्शन और इसका नाम धर्म। समझ में आया?

आत्मा आत्मा को जानता है अर्थात् आत्मा को ज्ञान जानता है, ऐसा हुआ न? ज्ञान, वह स्वयं आत्मा है। ज्ञान आत्मा को जानता है, आत्मा आत्मा को जानता है, आत्मा आत्मा को जानता है। यह ज्ञान, वह आत्मा है; ज्ञान, वह आत्मस्वरूप है। वह स्वरूप उस आत्मा को जानता है। समझ में आया? **नियम से जानता है,** ऐसा वापस। (इसलिए) निश्चय से जानता है। स्व को जानना है न इसलिए। लाख बात की बात सब छोड़कर यह इसे करना है। यह ज्ञानभाव, इससे आत्मा जाने, बस, यह उसकी क्रिया। ज्ञान से

आत्मा जाने, ऐसी ही क्रिया हुई, उसका नाम सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र कहा जाता है। कहो, समझ में आया?

और, यदि वह ज्ञान प्रगट हुई सहज दशा द्वारा सीधा (प्रत्यक्षरूप से) आत्मा को न जाने तो वह ज्ञान अविचल आत्मस्वरूप से अवश्य भिन्न सिद्ध होगा! यदि उस प्रगट हुई ज्ञान अवस्था द्वारा सीधे आत्मा को ऐसे न जाने... वर्तमान और पूर्ण... ज्ञान की वर्तमान प्रगट हुई दशा—सहज अवस्था द्वारा, अपनी ज्ञान की अवस्था—पर्याय द्वारा प्रत्यक्षरूप से आत्मा को न जाने... कहो, समझ में आया? प्रगट ज्ञानस्वरूप तो त्रिकाल है, ऐसा कहा। परन्तु अब उस ज्ञान की प्रगट हुई दशा, ज्ञान में एकाग्र होकर प्रगट हुई दशा, उस दशा द्वारा सीधे आत्मा को न जाने, बीच में कोई आड़ बिना, मन के अवलम्बन बिना, वह सीधा प्रगट हुआ ज्ञान आत्मा को न जाने, तो आत्मा और ज्ञान भिन्न सिद्ध हो। (परन्तु) ऐसा है नहीं। सीधा ज्ञान प्रगट हुआ, (वह) आत्मा को जानता है।

क्या कहा यह? आत्मा और ज्ञान दो स्वभाव अभिन्न हैं और उस ज्ञान की भावना से जो एकाग्रता हुई, वह प्रगट हुई दशा। वह प्रगट हुई दशा सीधे आत्मा को, पर की—मन की और राग की अपेक्षा रखे बिना वह ज्ञान की दशा सीधे आत्मा को न जाने, तब तो ज्ञान और आत्मा दोनों भिन्न सिद्ध हों। (परन्तु) ऐसा है नहीं। समझ में आया? सब विषय अकेला ज्ञायक भाया पूरा। क्या पालना, क्या करना? वह यह करना और पालना। ज्ञान को पालना और ज्ञान को रखना। जीव की दया पालना, जीव को रखना—यह आत्मा में है नहीं। पर को कौन पाले? ऐ चेतनजी! गजब बातें भाई ऐसी! इसमें समाज को तो भारी बोझा पड़े। यह समझना ही अभी कठिन पड़े कि क्या कहते हैं यह?

कहते हैं कि आत्मा को न जाने तो वह ज्ञान, अविचल ऐसा जो आत्मा—चलित नहीं ऐसा जो आत्मा, उससे वह ज्ञान अवश्य (भिन्न) अर्थात् भिन्न सिद्ध हों। परन्तु ऐसा है नहीं। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि आत्मा और ज्ञान एक है, इसलिए स्वभाव उसे जाने, स्वभाव उसे जाने। यदि न जाने तो ज्ञान उससे भिन्न हो, (परन्तु) ऐसा नहीं हो सकता। गजब बात, भाई! राग और पुण्य-पाप के भाव, वे भिन्न हैं, तो भिन्न उसे जाने नहीं। समझ में आया? इसी प्रकार आत्मा और ज्ञान भिन्न सिद्ध हो तो ज्ञान उसे जाने, परन्तु ऐसा है नहीं। आहाहा! पण्डितजी! आहाहा!

आचार्यों की कथनी, कुन्दकुन्दाचार्य की पद्धति दूसरों से पूरी अलग प्रकार की है। भगवान आत्मा और उसका ज्ञानभाव—स्वभाव वह आत्मा को जाने, ऐसा स्वभाववादियों का मत है। विभाववादी ऐसा कहते हैं कि ज्ञान आत्मा को नहीं जानता। इस प्रकार ज्ञान और आत्मा दोनों भिन्न पड़ते हैं। भिन्न नाम पड़े, इसलिए भाव भिन्न है, ऐसा विभाववादी माननेवाले ज्ञान आत्मा को नहीं जानता, ऐसा मानते हैं, वह मिथ्यात्व है। समझ में आया? आज का विषय जरा एकदम द्रव्य-गुण-पर्याय तीन की बात प्रसिद्धि करता है। आहाहा! यह तो बहुत परिचय हो तो समझ में आये, ऐसा है। चिमनलालभाई! यह ऐसा का ऐसा ऊपर-ऊपर से एकाध दिन आ जाये, उसमें समझ में आये, ऐसा नहीं है। आहाहा!

और इसी प्रकार (अन्यत्र गाथा द्वारा) कहा है कि:—है न!

णाणं अव्विदिरित्तं जीवादो तेण अप्पगं मुणइ।
जदि अप्पगं ण जाणइ भिण्णं तं होदि जीवादो॥

गाथार्थः—ज्ञान जीव से अभिन्न है,... अभिन्न होने से ज्ञान जीव को जाने, वह आत्मा को जानता है। यहाँ तो जाननेवाले जगे हुए की बात है न! यह ज्ञान और आत्मा ऐसा जहाँ भान हुआ, तब वह ज्ञान आत्मा को जानता है, कहते हैं। समझ में आया? यह ज्ञान जानना और आत्मा, ऐसा जहाँ भान हुआ अभेद, तो ज्ञान आत्मा को जानता है। **यदि ज्ञान आत्मा को न जाने...** ज्ञान और आत्मा भिन्न है, इसलिए ज्ञान आत्मा को जानता है। ज्ञान का जानना होते ही आत्मा ज्ञात होता है। न ज्ञात हो **तो वह जीव से भिन्न सिद्ध होगा!** ज्ञानभाव—ज्ञानस्वभाव स्वभाववान से भिन्न रहे, भिन्न सिद्ध हो, परन्तु ऐसा नहीं हो सकता। १७० (गाथा) हुई। अब मूल तो स्व-परप्रकाशक समेटना है। ....

अप्पाणं विणु णाणं णाणं विणु अप्पगो ण संदेहो।
तम्ह स-पर-पयासं णाणं तह दंसणं होदि॥१७१॥

संदेह नहिं, है ज्ञान आत्मा, आत्मा है ज्ञान रे।
अतएव निज पर के प्रकाशक ज्ञान-दर्शन मान रे॥१७१॥

क्योंकि ज्ञान, दर्शन और आत्मा अभेद है। ज्ञान स्व को जाने और पर को भी

जाने, इसी प्रकार दर्शन भी स्व को देखे और पर को भी देखे, तो आत्मा भी स्व-परप्रकाशक हुआ। समझ में आया? यहाँ तो उसका स्वभाव और स्वभाववान को अभिन्न सिद्ध करके उसकी स्वभाव की क्रिया से धर्म और उसका फल, यह मुक्ति। पर की, राग की क्रिया से धर्म होता है और उससे मुक्ति होती है, (ऐसा नहीं होता)। परन्तु उसका स्वभाव ही नहीं तो उससे मुक्ति कैसे होगी? वह तो स्व-पर प्रकाशित करनेवाला आत्मा तथा ज्ञान और दर्शन भी स्व-परप्रकाशकवाला स्वरूप है। पर को करनेवाला स्वरूप नहीं वह कहीं। व्यवहार का रागादि आवे, उसका प्रकाशक है। ज्ञान प्रकाशक है, दर्शन प्रकाशक है और आत्मा भी प्रकाशक है और ज्ञान-दर्शन और आत्मा स्व का भी प्रकाशक है। स्व-पर का प्रकाशक आत्मा, स्व-पर का प्रकाशक ज्ञान, स्व-पर का प्रकाशक दर्शन। परन्तु पर का करनेवाला और पर को लानेवाला और पर को उपजानेवाला—ऐसा आत्मा भी नहीं, ज्ञान भी नहीं, दर्शन भी नहीं। यह व्यवहार को उपजावे विकल्प। वह तो प्रकाशक है, कहते हैं। आहाहा!

ज्ञान अपने को जाने, ज्ञान आत्मा को जाने, ज्ञान राग को जाने। पर का प्रकाशक सही, परन्तु पर से स्वयं प्रकाशता है, ऐसा नहीं। स्वयं से स्व और पर को प्रकाशित करता है। समझ में आया? आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें। यह राग आवे व्यवहार, वह व्यवहार ज्ञान को प्रकाशित करने में कारण होगा या नहीं? आहाहा! विभाववादियों का कथन है, कहते हैं। ज्ञान ज्ञान को सीधे जाने, वह आत्मा का स्वभाव है। आहाहा! समझ में आया? विषय सूक्ष्म है। बहुत जरा मंथन अपेक्षित है। अनादिकाल का अभ्यास (नहीं)। यह आत्मा वस्तु और उसका स्वभाव ज्ञान और दर्शन तथा वह ज्ञान आत्मा को भी जानता है और ज्ञान पर को भी जानता है। पर के फिर दो प्रकार लिये। यह ज्ञान, ज्ञान को जाने और ज्ञान के अतिरिक्त अपने अनन्त गुणों को भी जाने।

अब ज्ञान का दूसरा प्रकार। ज्ञान, ज्ञान को जाने और ज्ञान से पर—राग और शरीर को भी जाने और वह ज्ञान अपने को भी जाने—आत्मा और ज्ञान को। इस प्रकार ज्ञान में स्व-परप्रकाशकपने का स्वत:सिद्ध स्वभाव है। किसी की सहायता से हो, ऐसा वह है नहीं। समझ में आया? ज्ञान में स्व-परप्रकाशकपना उसका स्वत:—स्वयं से स्वभाव है। इसलिए उसे राग और व्यवहार से यह प्रकाशपना प्रगट होता है, इस बात में कुछ

अंश भी सत्यता नहीं है। विभाववाद कहा है... परन्तु दो नाम पड़े न इसलिए... अज्ञानवाद है। आहाहा! ऐसा धर्म का स्वरूप कठिन पड़ता है।

श्रीमद् में एक आता है २९ वें (वर्ष में उपदेश)छाया में। छह काय की दया पालन की यह बात तो तुम बहुत वर्षों से करते हो, परन्तु अब यह समकित की व्यवस्था करना। छह काय की दया पालना, प्रौषध करना, यह करना—वह तो बहुत वर्ष से सुनते हैं। ऐ जयन्तीभाई! परन्तु अब समकित कैसे हो, समकित किसे कहना और समकित का क्या स्वरूप है—इसकी व्यवस्था करना। अर्थात् कि तुमने यह सब लगायी है, उसमें समकित नहीं, ऐसा। बराबर है? ऐसा आता है श्रीमद् में। यह पालना, यह करना, उसमें कुछ समकित है नहीं। राग का कर्ता हो, पर की क्रिया का कर्ता हो, वह तो मिथ्यात्व है। यह समकित की व्याख्या तो करो, समकित की व्यवस्था करो। वह कहनेवाले को भान न हो, क्या करे वह? आहाहा! पण्डितजी! आहाहा! टीका उसकी है न! १७१ (गाथा)।

टीका : यह, गुण-गुणी में भेद का अभाव होनेरूप स्वरूप का कथन है। हे शिष्य! सर्व परद्रव्य से पराङ्मुख आत्मा को तू निज स्वरूप को जानने में समर्थ सहजज्ञानस्वरूप जान,... देखा! सर्व परद्रव्य से विमुख... आत्मा को तू निजस्वरूप को जानने में—अपने स्वरूप को जानने में समर्थ ऐसे सहजज्ञानस्वरूप जान... वह सहजज्ञानस्वरूप जान। जो ज्ञान अपने को जान सके—आत्मा को, ऐसे सहजज्ञानस्वरूप को तू जान। कहो, समझ में आया? **तथा ज्ञान आत्मा है, ऐसा जान।** देखा! निजस्वरूप को जानने में समर्थ सहजज्ञानस्वरूप जान और ज्ञान, वह आत्मा है, ऐसा जान। ज्ञान, वही आत्मा है, दूसरी कोई भिन्न चीज़ नहीं है।

इसलिए तत्त्व (-स्वरूप) ऐसा है कि... है न? **ज्ञान तथा दर्शन दोनों स्व-परप्रकाशक हैं। इसमें सन्देह नहीं है।** योगफल यहाँ लाये। व्यवहार से ज्ञान पर को जानता है और दर्शन स्व को देखता है, ऐसा धवल में आता है। वह भेद की दृष्टि से कथन है। अभेद का स्वरूप निश्चय हो तो भेद से जानने का यह कथन है। कहो, समझ में आया? क्योंकि वहाँ तो ऐसा ही कहा है, वही बराबर है, ऐसा कहते हैं। ज्ञान पर को जानता है, दर्शन अपने को देखता है। यहाँ कहते हैं कि ज्ञान आत्मा से भिन्न सिद्ध हो

गया। आत्मा स्व-परप्रकाशक, ज्ञान पर को प्रकाशे, तो आत्मा से ज्ञान भिन्न हुआ। दर्शन स्व को देखे, पर को न देखे (और) आत्मा स्व-परप्रकाशक तो आत्मा से दर्शन भिन्न सिद्ध हुआ। ज्ञान पर को जाने और दर्शन स्व को देखे तो ज्ञान और दर्शन गुण दोनों भिन्न पड़ गये। ऐसा है नहीं।

आचार्यों के बीच में अभिप्राय भेद होगा? वह तो अपेक्षा का कथन है। व्यवहार से भेद—गुण के भेद से, ज्ञान में बहुत—पर को जानने का बहुत है, इस अपेक्षा से उसे परप्रकाशक कहा। परन्तु अपने में रहकर जानते हुए पर को प्रकाशित करता है न! ज्ञान यहाँ नहीं जानता, उसे जाने? जाने किस प्रकार? समझ में आया? ऐसा सन्देह नहीं। इसमें सन्देह नहीं। है न, पाठ में ऐसा है न! '**तम्हा सपरपयासं णाणं तह दंसणं होदि**' आहाहा! ऐसा बड़ा विवाद निकालते हैं।

[अब, इस १७१वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

आत्मानं ज्ञानदृग्रूपं विद्धि दृग्ज्ञानमात्मकं।
स्वं परं चेति यत्तत्त्वमात्मा द्योतयति स्फुटम्॥२८७॥

श्लोकार्थः—आत्मा को ज्ञानदर्शनरूप जान... उसमें 'शुद्धज्ञानस्वरूप जान' ऐसा था। समझ में आया? यहाँ आत्मा और (ज्ञान-दर्शन) इकट्ठे दोनों लिये। आत्मा को जाननेवाला-देखनेवालारूप से जान। वह रागरूप, पुण्यरूप, शरीररूप नहीं है। आत्मा की अस्ति में ज्ञान और दर्शनरूप उसका है, ऐसा जान। तू कौन है? कि ज्ञान-दर्शनरूप है, ऐसा जान, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यहाँ तो हम स्त्री-पुत्रवाले हैं, दुकानदार हैं, यह नौकरी करते हैं, व्यापार करते हैं। ऐसा न जान। समझ में आया? तू तो ज्ञान और दर्शनस्वरूप है, ऐसा जान। वह हो, उसका जाननेवाला ऐसा है, ऐसा तू जान। ऐ जेठाभाई! बहियों में नामा लिखनेवाला, ऑडिटर हूँ, ऐसा न जान। मैं यह धन्धा करनेवाला हूँ... ऐ गुलाबचन्दभाई! तुम सब धन्धा करते हो न वहाँ कलकत्ता। ऐसा न जान। वह आत्मा नहीं। आहाहा!

तू तो ज्ञान और दर्शनस्वरूप तुझे जान। उस चीज़ को जानना और अपने को

जानना—ऐसे ज्ञान-दर्शनरूप तू है। राग को भी जाननेवाला है; रागवाला भी नहीं—ऐसा तू जान। तो फिर यह हमारी स्त्री-पुत्र, धन्धा, और बड़ा परिवार... ओहोहो! यह क्या सट्टे के धन्धे में थे न तुम्हारे? ऐ रजनीभाई! यह कहते हैं कि वह धन्धा-बन्धा, वाणी-बाणी, वह सब पर जान। उसे जाननेवाला-देखनेवाला तेरा स्वरूप है, ऐसा जान। उसे करनेवाला—रचनेवाला तू है नहीं। आहाहा! कहो, समझ में आया? लो, तुम्हारे झबेरी का धन्धा था। झबेरी का धन्धा करनेवाला न जान, ऐसा कहते हैं। आहाहा! तू तो उसका जाननेवाला कहना, वह परप्रकाशक व्यवहार से है। समझ में आया? उसका करनेवाला नहीं, रचनेवाला नहीं, बननेवाला उसरूप तू नहीं, तू बनानेवाला नहीं, परन्तु उसका जाननेवाला कहना, उसे व्यवहार कहा जाता है। आहाहा!

आत्मा को ज्ञानदर्शनरूप जान... आत्मा को व्यवहार पुण्यवाला जान, ऐसा है इसमें? वह व्यवहार आता है न! अथवा तो ज्ञान और दर्शन उसे जाने और आत्मा को न जाने, वह विभाववाद है। समझ में आया? ऐसा कहते हैं। रागादि होते हैं, उसे जाने और अपने को न जाने, तो अभिन्न नहीं सिद्ध हुआ। आत्मा और ज्ञान को भिन्न सिद्ध किया। यह विभाववाद है, वह स्वभाववाद नहीं। आहाहा! भारी सूक्ष्म, भाई! **और ज्ञानदर्शन को आत्मा जान;...** आत्मा को ज्ञान-दर्शनरूप जान और ज्ञान-दर्शन को आत्मा जान, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? पारस्परिक लिया है। राग को आत्मा जान और आत्मा को राग जान—ऐसा यहाँ नहीं कहना। वह वस्तु है ही नहीं। आहाहा!

स्व और पर ऐसे तत्त्वों को (समस्त पदार्थों को) आत्मा स्पष्टरूप से प्रकाशित करता है। लो। '**स्फुटम्**' है यह। भगवान आत्मा तो अपने को स्पष्ट प्रकाशित करे और पर को भी स्पष्ट प्रकाशित करे—यह उसकी जाति और यह उसका स्वरूप है। आहाहा! रागादिभाव हों, उसे प्रकाशित करे, समझ में आया? और वह प्रकाश, वह दर्शन-ज्ञान, वह आत्मा और आत्मा, वह दर्शन-ज्ञान। राग, वह आत्मा अथवा राग, वह ज्ञान-दर्शन और ज्ञान-दर्शन वह राग; राग, वह आत्मा और आत्मा, वह राग—ऐसा है नहीं। आहाहा! आत्मा स्पष्टरूप से अपने को प्रकाशित करता है। १७१ गाथा तक स्व-परप्रकाशकपने की सिद्धि की। अब दूसरा विषय लेंगे १७२ में। यह किस प्रकार से बोलते हैं और क्या है, वह दूसरी बात। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण ४, सोमवार, दिनांक-०६-१२-१९७१
गाथा-१७२-१७४, श्लोक-२८८-२८९, प्रवचन-१९५

यह नियमसार, १७२ गाथा है।

जाणंतो पस्संतो ईहा-पुव्वं ण होइ केवलिणो।
केवलणाणी तम्हा तेण दु सोऽबंधगो भणिदो॥१७२॥

जानें तथा देखें तदपि इच्छा विना भगवान है।
अतएव केवलज्ञानी वे अतएव ही निर्बन्ध है॥१७२॥

यह अधिकार सब शुद्धोपयोग का—केवलज्ञान, केवलदर्शन का है। पहले गाथा में आया कि व्यवहारनय से दूसरे पदार्थों को जानता—देखता है, निश्चय से अपने को जानता है। ऐसे पहली गाथा आ गयी १५९। दूसरी गाथा से यह लिया कि केवलज्ञान और केवलदर्शन एक समय में होते हैं। दो गाथा के पश्चात् तीसरी गाथा से यह शुरु किया स्व-परप्रकाशक। ज्ञान भी स्व-परप्रकाशक है, दर्शन भी स्व-परप्रकाशक है और आत्मा भी स्व-परप्रकाशक है। ज्ञान भी व्यवहार से पर को जानता है, दर्शन भी व्यवहार से पर को जानता है, आत्मा भी व्यवहार से पर को जानता है। आत्मा निश्चय से अपने को जानता है, ज्ञान भी निश्चय से अपने को जानता है, दर्शन भी निश्चय से अपने को देखता है। यह ग्यारह गाथा हुई। १६० और १ ग्यारह। ग्यारह गाथाओं में वर्णन किया पूरा स्व-परप्रकाशक। अब दूसरा अधिकार (विषय) चलता है।

टीका : यहाँ, सर्वज्ञ वीतराग को वांछा का अभाव होता है, ऐसा कहा है। इच्छा नहीं होती। **भगवान अरहन्त परमेष्ठी सादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाववाले शुद्धसद्भूत -व्यवहार से केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों के आधारभूत होने के कारण विश्व को निरन्तर जानते हुए भी और देखते हुए भी,...** बड़ी लम्बी व्याख्या की है। **उन परम भट्टारक केवली को मनप्रवृत्ति का (मन की प्रवृत्ति का, भावमनपरिणति का) अभाव होने से इच्छापूर्वक वर्तन नहीं होता; इसलिए वे भगवान 'केवलज्ञानी' रूप से प्रसिद्ध हैं; और उस कारण से वे भगवान अबन्धक हैं।**

अब इसकी व्याख्या। भगवान अरिहन्त परमेष्ठी उनके जो केवलज्ञानादि गुण हैं या पर्यायें... शब्द 'गुण' है, परन्तु वह पर्याय है। केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्दादि पर्यायें (अर्थात्) उसके गुण, ऐसा। वे सादि-अनन्त हैं। त्रिकाली गुण हो तो अनादि-अनन्त (हो)। यह तो केवलज्ञानादि पर्याय है, वह प्रगट हुई, तब से सादि, पश्चात् अनन्त रहती है। वह सादि-अनन्त है। समझ में आया? **अमूर्त अतीन्द्रिय-स्वभाववाले शुद्धसद्भूतव्यवहार...** अमूर्त है, अतीन्द्रिय स्वभाववाली पर्याय है और ऐसा शुद्धसद्भूतव्यवहार है। क्योंकि केवलज्ञान वह व्यवहार है, सदभूतव्यवहार है, निश्चय नहीं। वस्तु तो त्रिकाल होती है। समझ में आया?

केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द, वह सब अमूर्तस्वभाव... स्वभाववाले शुद्धसद्भूतव्यवहार... शुद्ध, पवित्र, वर्तमान अस्तिवाला परन्तु भेदरूप। त्रिकाल नहीं (क्योंकि) सादि-अनन्त हुआ न। वह वर्तमान की अपेक्षा से त्रिकाल में का एक अंश है, इसलिए व्यवहार हो गया। समझ में आया? आहाहा! केवलज्ञान, वह व्यवहार। वीरजीभाई कहते थे एक बार कि केवलज्ञान को व्यवहार कहा? झटका लगा। यह क्या है? केवलज्ञान को भी व्यवहार? फिर कहे, केवलज्ञान एक समय की पर्याय है, वह कहीं त्रिकाली गुण नहीं। समझ में आया?

यह प्रश्न हुआ था न अभी? क्या? गुण कहा, यह केवली का न? नागपुर। यह प्रश्न हुआ था मक्खनलालजी के साथ। केवलज्ञान गुण है या पर्याय? मक्खनलालजी कहे, गुण है। गुण की क्या व्याख्या? सादि-अनन्त हो, उसकी व्याख्या क्या? गुण हो तो अनादि-अनन्त हो। चर्चा हुई थी अभी नागपुर में। कोई सागरवाले कपूरचन्दजी हैं। वह सिवनी के उत्तमचन्द के साथ। यह तो उसके साथ—सिवनी के उत्तमचन्द के साथ। उत्तमचन्द है लड़के जैसा। अब... पके हैं... पण्डितों को पूछा पण्डित ने कि यह केवलज्ञान क्या है? गुण। वह कहे, नहीं, पर्याय है। देखो! क्या है यह। भाषा (गुण) है, परन्तु उसे सादि-अनन्त कहा, इसका अर्थ क्या हुआ? सादि-अनन्त गुण होगा? गुण तो अनादि-अनन्त होता है। वस्तु अनादि-अनन्त, वैसे उसका गुण अनादि-अनन्त है।

सादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाववाले शुद्धसद्भूतव्यवहार... वापस ऐसा। वह **अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाववाले शुद्धसद्भूतव्यवहार से केवलज्ञानादि शुद्ध गुण...**

अर्थात् पर्यायों का **आधारभूत होने के कारण विश्व को निरन्तर जानते हुए भी...** समझ में आया? **और देखते हुए भी, उन परम भट्टारक केवली को मनप्रवृत्ति का**—भावमन का **अभाव** है। भावमन का अभाव है। द्रव्यमन तो जड़ है, उसके साथ भावमन का उन्हें अभाव है। **इच्छापूर्वक वर्तन नहीं होता;...** भगवान को जानने में इच्छापूर्वक वर्तन (नहीं)। पाठ में है न '**ईहापूर्व।**' वह तो भेदवाली बात हुई। वह ईहा (आदि) तो छद्मस्थ को होती है, केवली को होती नहीं।

इसलिए वे भगवान 'केवलज्ञानी' रूप से प्रसिद्ध हैं;... इच्छापूर्वक वर्तन नहीं होता, इसलिए वे केवलज्ञानीरूप से प्रसिद्ध हैं। उन्हें विचारकर जानना, विचारकर बोलना, यह है नहीं। उन भगवान को इच्छापूर्वक वर्तन नहीं और केवलज्ञानीरूप से प्रसिद्ध है, इसलिए उन्हें अबन्ध है—बन्ध है नहीं। केवली **भगवान अबन्धक है।** समझ में आया? बोलना, चलना, वह सब उदय की क्रिया है। उन्हें बन्ध है नहीं।

इसी प्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसार में (५२वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:—आधार देते हैं इसके साथ सम्बन्धवाला।

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो॥

गाथार्थः—(केवलज्ञानी) आत्मा... है न? '**जाणण्णवि ते आदा**' **पदार्थों को जानता हुआ भी...** पदार्थ शब्द से अपने अतिरिक्त। समझ में आया? **आत्मा पदार्थों को जानता हुआ भी उन-रूप परिणमित नहीं होता,...** परपदार्थ को जानता होने पर भी पररूप होता नहीं। समझ में आया? केवलज्ञानी भगवान—आत्मा पदार्थों को जानता होने पर भी... वह 'पदार्थ' शब्द से पर। उस पदार्थ में आत्मा स्वयं नहीं। उनरूप परिणमिता नहीं। वरना तो आत्मा आत्मारूप से परिणमता है, उसे जानने-देखनेरूप से। पररूप से परिणमता नहीं। ५२वीं गाथा है। यह प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्य डाला है न अपने। तुमने डाला है? यह रहा। पण्डित जयचन्दजी ने भावार्थ में डाला है। यह है न शब्द? '**ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि**' प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्य। परपदार्थ को जानते होने पर भी परपदार्थ का प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्य आत्मा में नहीं। समझ में आया?

उन-रूप परिणमित नहीं होता,... लोकालोक को जानने पर भी लोकालोकरूप परिणमता नहीं। समझ में आया? **उन्हें ग्रहण नहीं करता...** लोकालोक को जानने पर भी उसे ग्रहण नहीं करता। उसे क्या ग्रहण करे? यह तो (उस रूप) अपना ज्ञान परिणमता है। उस जाति का प्रकार है, वैसा ज्ञान परिणमता है स्वयं से। जानने पर भी उसे ग्रहण करता है, ऐसा नहीं है। **और उन पदार्थोंरूप में उत्पन्न नहीं होता...** लोकालोकरूप से उत्पन्न नहीं होता। परपदार्थ को जानने पर भी परपदार्थरूप उत्पन्न नहीं होता। ५२वीं गाथा प्रवचनसार की है न! **इसलिए उसे अबन्धक कहा है।** 'केवलज्ञानी आत्मा' शब्द है न! इसलिए आत्मा को अबन्धक कहा है। केवलज्ञानी अर्थात् आत्मा को अबन्धक कहा है, ऐसा। नहीं तो कहे, केवली को अबन्धक कहा है। यह तो... उत्पन्न हो गया। यहाँ तो आत्मा अबन्धक कहा है, ऐसा हुआ न? आत्मा... इसीलिए वह आत्मा... इसलिए वह आत्मा परपदार्थ को जानने पर भी, उस रूप होता नहीं, ग्रहण करता नहीं, परिणमता नहीं अर्थात् उत्पन्न होता नहीं। इसलिए उस आत्मा को अबन्धक कहा है।

मुमुक्षु : आत्मा तो अनादि से अबन्धक ही है?

पूज्य गुरुदेवश्री : अबन्धक कहाँ है? पर्याय में अबन्धक है? पर्याय में अबन्धक नहीं, वह तो द्रव्य अबन्धक है। पर्याय, यहाँ तो पर्याय की बात है। इच्छापूर्वक भाव नहीं है, तो बन्धन नहीं, ऐसा सिद्ध करना है न? वस्तु की कहाँ बात है? यहाँ तो पर्याय की बात है न। पर्याय में इच्छा हो तो बन्धन हो। इच्छा नहीं तो बन्धन है नहीं। कर्म का उदय आवे, तत्प्रमाण वाणी निकले, चलना—गुति हो, (तथापि) उन्हें बन्ध नहीं। यहाँ तो क्षायिकभाव लिया है। उदय आवे, वह खिर जाता है। बन्ध नहीं, संयोग में बन्ध नहीं, ऐसा कहना है यहाँ तो। ... इच्छापूर्वक नहीं अर्थात् बन्ध नहीं। इच्छापूर्वक हो तो बन्ध हो। ऐसी पर्याय की बात चलती है न यहाँ। बन्ध नहीं, केवलज्ञानी को बन्ध है ही नहीं। योग का (बन्ध) एक समय के लिये आवे, वह अलग बात है। यहाँ तो, इच्छापूर्वक का जो कार्य है, इसका उन्हें बन्धपना नहीं है, ऐसा सिद्ध करना है न!

और (इस १७२वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):—

जानन् सर्वं भुवनभवनाभ्यन्तरस्थं पदार्थं,
पश्यन् तद्वत् सहजमहिमा देवदेवो जिनेशः।
मोहाभावादपरमखिलं नैव गृह्णाति नित्यं,
ज्ञानज्योतिर्हतमलकलिः सर्वलोकैकसाक्षी॥२८८॥

श्लोकार्थः—सहजमहिमावन्त देवाधिदेव... स्वाभाविक जिसकी महिमा है, ऐसे तीर्थंकरदेव या केवली **जिनेश लोकरूपी भवन के भीतर...** लोकरूपी भवन इस जगत के अन्दर **स्थित सर्व पदार्थों को जानते हुए भी,...** तीन काल, तीन लोक को जानते होने पर भी, **तथा देखते हुए भी, मोह के अभाव के कारण समस्त पर को...** ऐसा है न यहाँ? **समस्त पर को (-किसी भी परपदार्थ को) नित्य (-कदापि) ग्रहण नहीं ही...** अपने अतिरिक्त पर को पूर्ण जानते होने पर भी समस्त को वे ग्रहण नहीं करते। समझ में आया? (प्रवचनसार गाथा) ५२ में तो आता है न कि ज्ञान को ग्रहते हैं। ऐसा आता है। ज्ञान को ग्रहते हैं, ऐसा आता है। उसमें आता है। उसमें आ गया, नहीं? ग्रहता नहीं। (गाथा) १५९ में आ गया। १५९ में आया है। **परद्रव्य के ग्राहकत्व, दर्शकत्व, ज्ञायकत्व इत्यादि नहीं।** १५९ में है। है न?

उसमें सवेरे नहीं चला? ग्रहते नहीं परन्तु ग्रहते हैं ऐसा... वह ५२ में, हों! ग्रहते नहीं। (प्रवचनसार, गाथा) ५२। यह तो बताया पहले। यह तो ५२ में.... वह ... ज्ञानपरिणमन क्रिया नहीं। **आत्मा क्रियाफलभूत बन्ध को अनुभव करता है, परन्तु ज्ञान से नहीं। ... अर्थपरिणमनक्रिया के फलरूप से बन्ध का समर्थन किया गया है। ... पदार्थोंरूप परिणमनेरूप क्रिया का फल ऐसा निश्चित किया गया है। अर्थपरिणमने की क्रिया का अभाव निरूपित किया गया है, इसलिए जो (आत्मा) पदार्थोंरूप परिणमता नहीं... उस आत्मा को ज्ञप्तिक्रिया का सद्भाव होने पर भी वास्तव में...** यह नहीं आया। भावार्थ में आया। क्या कुछ समझ में आया? पर को जब ग्रहता नहीं, **परन्तु अपने ज्ञान को ही ग्रहता है, ज्ञानरूप ही परिणमता है...**

भावार्थ में डाला है। आहाहा! **कर्म के तीन भेद किये गये हैं। प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य। केवली भगवान का प्राप्य कर्म, विकार्य कर्म और निर्वर्त्य कर्म ज्ञान ही है, क्योंकि वे ज्ञान को ही ग्रहण करते हैं।** उसे (-परपदार्थ को) ग्रहण नहीं करते। ज्ञान

को ही ग्रहण करते हैं, ज्ञानरूप ही परिणमते हैं और ज्ञानरूप ही उपजते हैं। ऐसा आना चाहिए न वस्तु में से। 'नहीं ग्रहण करते' इसका अर्थ किया कि पर को ग्रहण नहीं करते। अपने को ग्रहण करते हैं। यह शैली है न पूरी। ... शास्त्र में टीका में डाला है। भावार्थ में... परन्तु यह तो बराबर है।

आत्मा का वास्तव में तो कर्म अर्थात् कार्य तो ज्ञान ही है। आत्मा का प्राप्य, वह ज्ञान; विकार्य—पलटना, वह ज्ञान और निवर्तना—उपजना, वह भी (ज्ञान)। अपने को—अपनी ज्ञानपर्याय को ग्रहे, पकड़े और उपजे, परन्तु पर को जानने पर भी पर को ग्रहे, पकड़े और उपजे नहीं। समझ में आया? यह तो केवलज्ञान, केवलदर्शन का स्पष्टीकरण किया है। व्यवहार... लेकर, पहली गाथा से ग्यारह गाथा तक। दूसरी गाथा में अलग रखा श्वेताम्बर आम्नाय का। डालकर फिर तुरन्त अकेले व्यवहार को माननेवालों के सामने स्व-परप्रकाशक की ग्यारह गाथायें लीं। फिर (कहा कि) ऐसे पर को जानने पर भी ईहापूर्वक नहीं, इसलिए बन्ध नहीं है, ऐसा। जरा यह विषय सूक्ष्म तो है न! शुद्धोपयोग को... उसका अधिकार। उसकी दशा का ऐसा स्वरूप है, ऐसा इसे बराबर जानना चाहिए। पूर्ण लोकालोक जाने, इसलिए वह लोकालोक को ग्रहण करता है, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : धर्म की पर्याय नहीं ग्रहण करता....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहाँ प्रश्न है? यह प्रश्न यहाँ कहाँ है? यहाँ तो, वह ग्रहण नहीं करता, परन्तु रागसहित क्रिया करता है न? उसकी बात है यहाँ तो। इच्छापूर्वक क्रिया है न? भले ज्ञानी हो, उसे भी ईहापूर्वक क्रिया है, तब तक बन्ध है—ऐसा कहना है। अज्ञानी की बात तो एक ओर रखो। यहाँ तो पूर्ण ज्ञान में विचारणापूर्वक—इच्छापूर्वक उसके परिणाम होते नहीं, ऐसा सिद्ध करना है न? पाठ ऐसा है न? समझ में आया? '**जानन् पश्यन्नीहापूर्वं न भवति**' सिद्धान्त यह सिद्ध करना है। वह तो अज्ञानी को इच्छापूर्वक परिणाम है। ज्ञानी को इच्छापूर्वक परिणाम नहीं, सहज परिणाम वर्तते हैं। अज्ञानी को रागसहित की बात है, मिथ्यात्वसहित। उन्हें अकेला अस्थिरता का भाव है, वह भी है न। ईहापूर्वक विकल्प उठे, तब तक उन्हें बन्ध है।

यहाँ तो ईहापूर्वक विचारणा ही नहीं। पूर्णानन्द ज्ञान सहजपने पूर्ण रीति से

सबको जाननेरूप परिणम गया, तथापि उसे ग्रहण नहीं किया, पकड़ा नहीं, उसरूप उपजा नहीं, इसलिए उसे बन्धन है नहीं। ज्ञेयार्थ आत्मा परिणमता है, ऐसा आता है। प्रवचनसार में आता है। (गाथा ४३)। ज्ञेयार्थ अर्थात् उसके लक्ष्य से परिणमता है। भले वह ज्ञेयरूप परिणमता नहीं, परन्तु ज्ञेयाकार में परिणमन है उसका, यह कहते हैं। वह तो राग है और बन्धन है। आता है कहीं प्रवचनसार में। आहाहा! आता है। गाथा का ख्याल नहीं। आता है। ज्ञेयार्थ परिणमन है, वह बन्ध का कारण है। यह ज्ञेयार्थ परिणमन नहीं। ज्ञानार्थ है, ऐसा लिया यहाँ। समझ में आया? बहुत बातें ली हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने तो पूरा समुद्र भर दिया है।

'**ज्ञाता यदि ज्ञेयपदार्थरूप से परिणमता हो तो...**' देखो! 'ज्ञेयपदार्थरूप परिणमता' अर्थात्? पाठ तो ऐसा है। **तो उसे...** भाषा ली न! ज्ञेयपदार्थरूप से परिणमता (अर्थात्) ज्ञेय पदार्थ के लक्ष्य से ऐसे रागरूप परिणमता है न, भेद पाड़कर। **उसे सकल कर्मवन के क्षय से प्रवर्तता स्वाभाविक जानपने का कारण क्षायिक ज्ञान नहीं है।** अरे! **उसे ज्ञान ही नहीं है क्योंकि प्रत्येक पदार्थरूप परिणति द्वारा मृगतृष्णा में जलसमूह की कल्पना करने के मानसवाला वह (आत्मा) दुःसह कर्मभार को ही भोगता है, ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है।** आहाहा! सब राग भी दूसरे... **ज्ञेयपदार्थरूप परिणमन जिसका लक्षण है...** देखो, आया! इसके पश्चात् ४३ (गाथा) में आया। ज्ञेयपदार्थ में परिणमन जिसका लक्षण है, उसका अर्थ कि **(ज्ञेयार्थपरिणमनस्वरूप) क्रिया।** देखो! कोष्ठक में डाला। यह ४३ गाथा। बराबर है? समझ में आया? ज्ञेयपदार्थ में परिणमन जिसका लक्षण है, अर्थात् कि ज्ञेयरूप परिणमता नहीं, परन्तु ज्ञेयार्थ के परिणमनस्वरूप क्रिया— राग के साथ जुड़ता है। केवली को यह होता नहीं। बहुत सूक्ष्म। यह क्रियाफल....

इसके भावार्थ में स्पष्टीकरण किया है। **ज्ञेयपदार्थरूप से परिणमना...** (गाथा) ४२ का भावार्थ। **यह भरा है, पीला है, इत्यादि विकल्परूप से ज्ञेयपदार्थों में परिणमना...** ऐसा। पररूप तो कहाँ परिणमता है?

मुमुक्षु : यह जयसेन आचार्य में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है न। विकल्परूप परिणमना, वह बन्ध का कारण है। समझ में आया? '**ज्ञानं बन्धकारणं न भवति कर्मोदयोऽपि, किंतु रागादयो बंधकारणमिति**'

जयसेन आचार्य का है। '**ज्ञानं बन्धकारणं न भवति, कर्मोदयोऽपि बंधकारण न भवति**' उदय आवे, वह कहीं बन्ध का कारण है? वह तो रागादि बन्धकारण है। राग जो वृत्ति खड़ी होती है, वह बन्ध का कारण है। समझ में आया? है न यह बात अपने बहुत दिन से है। उन्होंने डाला था.... कर्म का उदय बन्ध का कारण हो तो उदय तो सदा ही है। बड़ी चर्चा चली थी न। उदय बन्ध का कारण नहीं, ज्ञान बन्ध का कारण नहीं, मात्र रागार्थ से ज्ञेयार्थ करके जाने राग से, वह बन्ध का कारण है। आहाहा! गणधर को भी ... है न!

यहाँ कहते हैं, **सहजमहिमावन्त देवाधिदेव जिनेश लोकरूपी भवन के भीतर स्थित सर्व पदार्थों को जानते हुए भी, तथा देखते हुए भी,...** सर्व, ऐसा लिया। **मोह के अभाव के कारण समस्त पर को...** ऐसा, **(-किसी भी परपदार्थ को) नित्य (-कदापि) ग्रहण नहीं ही करते;** समझ में आया? ... कथन है कि भाई! यह तो पर को जाने, वह पर में प्रवेश किये बिना कैसे जाने? ऐसा प्रश्न हुआ था (संवत्) १९८४ में राणपुर। खत्री था खत्री। वेदान्ती। नारणभाई, नहीं? उसकी दुकान के सामने रहता था। यह ८४ की बात है। बृजनाथ की ओर मकान है न... उस ओर घर है। वे आये थे। व्याख्या में तो आवे न! वृद्ध थे। महाराज! आप कहते हो कि परमाणु को जानता है तो परमाणु में प्रवेश किये बिना जानता है? कहा, हाँ, प्रवेश किये बिना जानता है। आहाहा! मिर्ची चरपरी है, ऐसा ज्ञात होता है या नहीं? वह ज्ञान चरपरे में घुसकर जानता है? समझ में आया? (घुसे तो) ज्ञान चरपरा हो जाये। ज्ञान तो अरूपी है। चरपरा हो ज्ञान?

पर को जानते हुए पर में प्रवेश करे तो जाने, ऐसा वेदान्त में ऐसा है न? सर्वव्यापक कहना है न उसे। आहाहा! पर—सबको जाने, इसलिए सब एक हो गया ज्ञान।—ऐसा नहीं है। पर में प्रवेश हुए बिना, पर को स्पर्श किये बिना, पर को ग्रहण किये बिना, पररूप परिणमे बिना, पररूप से उत्पन्न हुए बिना जानता है। समझ में आया? आहाहा! उसका स्वभाव, ज्ञान का (स्वभाव) ऐसा स्वरूप ही उसका स्वभाव है, ऐसा निर्णय कर, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? निमित्त खड़ा है। निमित्त खड़ा हो तो क्या है? उसे जानते हुए कहीं उसे ग्रहण करता है? उसे जानते हुए उसरूप उपजता है? उसे जानते हुए उसमें आता है वह? आता है अर्थात् परिणमता है उसरूप? अपने

ज्ञान में स्वयं आप परिणमता है, उपजता है और ग्रहण करता है। आहाहा! भेदज्ञान... भेदज्ञान।

(परन्तु) जिन्होंने ज्ञानज्योति द्वारा मलरूप क्लेश का नाश किया है,... ऐसे जो परमात्मा... अरिहन्त का केवलज्ञान का स्वरूप क्या है, उसे वर्णन करते हैं। ऐसा समुच्चय अरिहन्त... अरिहन्त कहना, ऐसा नहीं। केवलज्ञान और केवलदर्शन दो होने पर भी एक समय में वर्तते हैं और केवलज्ञान और केवलदर्शन स्व को प्रकाशित करते हैं और पर को भी प्रकाशित करते हैं। अब कहते हैं कि पर को प्रकाशने पर भी... ऐसा आया। १५९... १५९। व्यवहार से केवली जानते हैं, परन्तु निश्चय से अपने को जानते हैं—ऐसा कहकर दो भाग किये। १६० में अलग डाला श्वेताम्बर के सामने। केवलज्ञान, केवलदर्शन एक समय में ही है। पहले केवल... फिर यह डाला। स्व-परप्रकाशक, गुण और द्रव्य दोनों स्व-परप्रकाशक है। अब कहते हैं कि पर को प्रकाशित करने पर भी... यह बात आयी। समझ में आया? आहाहा! इतना सब लोकालोक को जानना, इतना प्रकाशित करे तो भी कहीं पर और उसे सम्बन्ध नहीं? कुछ सम्बन्ध नहीं। आहाहा!

जिन्होंने ज्ञानज्योति द्वारा मलरूप क्लेश का नाश किया है,... और क्या सिद्धान्त डाला? केवलज्ञान प्रगट हुआ है, वह किस प्रकार प्रगट हुआ है? कि ज्ञानज्योति द्वारा मल का नाश किया है। कोई व्यवहार की क्रिया द्वारा राग का नाश किया है, संसार का नाश किया है—ऐसा नहीं है। चैतन्यज्योति भगवान आत्मा ने ज्ञान की अन्तर की एकाग्रता की क्रिया ऐसी ज्योति द्वारा संसाररूपी उदयभाव का नाश किया है।

ऐसे वे जिनेश सर्व लोक के एक साक्षी (-केवल ज्ञातादृष्टा) हैं। आत्मा के अतिरिक्त सबके साक्षी हैं। अपने (साक्षी) हैं, वह अलग बात है। सर्व लोकालोक के, ऐसे वे जिनेश्वर सर्व लोक के वे केवल ज्ञाता-दृष्टा हैं। उसे ग्रहते, पकड़ते और उपजते नहीं। आचार्य को—कुन्दकुन्दाचार्य को यह बात रखनी पड़ी है। पर से बहुत उदास। स्वयं ज्ञाता-दृष्टा... तो भी रखनी पड़ी है, इसमें जरा सा फेरफार माननेवाला हो, उसके सामने यह बात रखी है। बापू! मार्ग ऐसा है। मैंने स्वयं मेरी भावना के लिये ग्रन्थ रचा है, ऐसा कहा है न? समझ में आया? वास्तविक तत्त्व की स्थिति ऐसी मेरी भावना में है, वह तुमको वर्णन करता हूँ। १७३-१७४ (गाथा)।

परिणामपुव्ववयणं जीवस्स य बंधकारणं होइ।
परिणामरहियवयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो॥१७३॥

ईहा-पुव्वं वयणं जीवस्स य बंधकारणं होइ।
ईहारहियं वयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो॥१७४॥

रे बन्ध कारण जीव को परिणामपूर्वक वचन हैं।
है बन्ध ज्ञानी को नहीं परिणाम विरहित वचन है॥१७३॥

है बन्ध कारण जीव को इच्छा सहित वाणी अरे।
इच्छा रहित वाणी अतः ही बन्ध नहिं ज्ञानी करे॥१७४॥

यहाँ ज्ञानी शब्द से 'केवली' लेना है। समझ में आया? नहीं तो दूसरी जगह ऐसा आवे कि ज्ञानी को बन्ध नहीं। ईहापूर्वक विकल्प हो तो भी ज्ञानी को बन्ध नहीं। वह दूसरी बात। आता है या नहीं? यह यहाँ नहीं। यहाँ तो केवलज्ञानी को बन्ध नहीं, ऐसा सिद्ध करना है। बन्ध का अभाव है, ऐसा आत्मा अबन्धस्वरूप का जहाँ भान हुआ, तो ज्ञानी को अबन्धस्वभाव के परिणाम हैं, इसलिए उसे बन्ध के परिणाम हैं ही नहीं, ऐसा गिनकर उसे बन्ध है नहीं, ऐसा कहा है। यहाँ तो सूक्ष्मरूप से जो विकल्प उठा और पर्याय में सर्वथा अबन्धपना नहीं, उसे भी ऐसी इच्छापूर्वक बात होती है.... आदि में (तो) बन्ध है।

एक ओर कहना कि ज्ञानी को बन्ध ही नहीं। चाहे तो भोग भोगे तो भी निर्जरा होती है छद्मस्थ को। भोग भोगनेवाला तो चौथे-पाँचवेंवाला होता है। समझ में आया? वह तो दृष्टि में अबन्धस्वभाव का भान वर्तता है, अबन्धपरिणाम उसके वर्तते हैं, उसे यह जरा रागादि आया, उसे गौण गिनकर, अबन्धदृष्टि के विषय की ओर का जोर है, इसलिए उसे बन्ध नहीं और निर्जरा है, ऐसा अधिकपने राग से भिन्न वर्तते भाव के कारण कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? कठिन भाई वीतराग का मार्ग!

मुमुक्षु : चरणानुयोग में ऐसा कहा कि बहुत बन्ध है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ...बहुत बन्ध है। ऐसा ही आवे न! ...पाँचवें में थोड़ा, छठवें में उससे थोड़ा, चौथे में तो बहुत बन्ध है, तीन कषाय (चौकड़ी) है न? जब उसकी

पर्याय की अपूर्णता का वर्णन करके भावविकार वर्ते, उसे बतलाना हो तो बन्ध है, ऐसा कहना। जब उस बन्ध के विकार का भी जाननेवाला है, उसके भाव में वह आता नहीं, सम्यग्दृष्टि व्यवहार से मुक्त है। दृष्टि में तो व्यवहार से मुक्त ज्ञानी है। यदि राग से मुक्त न हो तो स्वभाव की दृष्टि ही न हो। समझ में आया? राग-द्वेष के परिणाम, वे विभाव हैं, उपाधि हैं। वस्तु तो निरुपाधि है और दृष्टि हो गयी, वह दृष्टिवान भी निरुपाधि है। समझ में आया? दृष्टिपूर्वक उसरूप परिणमता नहीं। परन्तु अब परिणमता है, उसकी यहाँ बात लेनी है वापस। निचलीदशा में इच्छापूर्वक जो वचन निकलते हैं, वह बन्ध का कारण है, परन्तु इच्छा (होवे तो) हों! समझ में आया?

निचलेवाले को ऐसा कहना कि वह तो वाणी का उदय है, वह खिर जाता है और इच्छा जरा हुई, वह भी खिर जाती है—वह तो दृष्टि और ज्ञान के जोर की अधिकता की बात का वर्णन है। परन्तु पर्याय में जितनी कमजोरी है, वह उसमें—उसके अस्तित्व में है, इसलिए उसे विकल्प और राग उठता है। इसलिए वह विकल्प और राग बन्ध का कारण है। आहाहा!

मुमुक्षु : दोधारी तलवार है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोधारी.... दोनों का ज्ञान होना चाहिए या नहीं? बिल्कुल अबन्ध हो तो मुक्ति हो जाये चौथे में। भोग निर्जरा का कारण हो तो छोड़ना (किसलिए)? फिर भोग का राग छोड़ना ही नहीं। इसका अर्थ क्या? समझ में आया?

भोग निर्जरा का कारण है। भोग निर्जरा का कारण है तो फिर संयम लेना नहीं? छोड़ना नहीं न, (क्योंकि) उससे निर्जरा हो जायेगी। ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा! कठिन मार्ग, भाई! चाहे जिस पहलू से बातें इनकी अलौकिक है। हे नाथ! तेरा नय तो इन्द्रजाल जैसा है, कहते हैं। कहा है न उसमें? ऐई! दो जगह कहा है। समयसार में है। इन्द्रजाल है, प्रभु! इस इन्द्रजाल को... अलौकिक बात है। जैसा है, वैसा नय का ज्ञान बराबर होना चाहिए। सम्यक्त्व हुआ, इसलिए हमारे अब बन्ध नहीं, इसलिए चाहे जिस प्रकार से वर्तेंगे—ऐसा उसे नहीं होता। समझ में आया? मुनि को, क्या गणधर जैसे को भी यहाँ रखा है। ईहा विचारना... पूर्वक वचन है, तो बन्ध है उन्हें।

ले! (एक ओर कहना कि) चौथे में बन्ध नहीं है, (दूसरी ओर कहना कि) छठवें में बन्ध है गणधर जैसे को। शुभभाव है न। जो अपेक्षा हो, वह समझनी चाहिए या नहीं? वह दृष्टि और ज्ञान के जोर की अपेक्षा से बात की है। अस्थिरता आती है, उसमें है, इसलिए उसे बन्ध का कारण है। समझ में आया?

ऐसे वे जिनेश सर्व लोक के एक साक्षी... ऐसे दृष्टा हैं। यह आ गया न! १७३-१७४ गाथा। गाथा हो गयी। नीचे (हरिगीत) हो गया। यह हो गया। नीचे (हरिगीत) हो गया। बोला गया, दोनों बोले गये। अब तो इसकी टीका ही लेनी है। यहाँ तो वह 'ज्ञानी' शब्द आया था न, उसके ऊपर से 'बन्ध होय न ज्ञानी को' उसमें जरा वर्णन आया। बन्ध होय न ज्ञानी को अर्थात् वह केवली... ज्ञानी की बात नहीं यहाँ। इसके ऊपर से यह चर्चा चली। आहाहा! इसकी टीका। '**ईहारहियं**'—(इच्छारहित)। इसका अर्थ ही ऐसा किया। '**ईहापुव्वं**'—इच्छापूर्वक... ईहा का अर्थ ही अच्छा किया है। '**ईहापुव्वं**'—इच्छापूर्वक, ऐसा अर्थ किया। ईहा अर्थात् विचारना, ऐसा अर्थ है। परन्तु यहाँ ईहा का अर्थ ही इच्छा। '**ईहापुव्वं**'—इच्छापूर्वक।

टीका : यहाँ वास्तव में ज्ञानी को (केवलज्ञानी को)... स्पष्टीकरण करना पड़ा। दूसरी जगह (कहा है कि) ज्ञानी को बन्ध नहीं, और वह नहीं यहाँ। केवलज्ञानी को **बन्ध के अभाव का स्वरूप कहा है।** सम्यग्ज्ञानी अर्थात् केवलज्ञानी, ऐसा। वहाँ भी स्पष्टीकरण करना पड़ा वापस। **सम्यग्ज्ञानी (केवलज्ञानी) जीव कहीं भी...** कभी भी और कहीं (अर्थात्) किसी जगह और किसी काल में। **स्वबुद्धिपूर्वक...** यह ईहा का अर्थ किया 'स्वबुद्धिपूर्वक'। **अर्थात् स्वमनपरिणाम-पूर्वक वचन नहीं बोलता।** केवलज्ञानी बोलता नहीं, इसका अर्थ कि केवलज्ञानी जीव, ऐसा। जीव बोलता नहीं। कहो, समझ में आया?

सम्यग्ज्ञानी (अर्थात्) केवलज्ञानी जीव, ऐसा। वरना केवलज्ञानी बोलता नहीं, ऐसा... यहाँ तो स्वबुद्धिपूर्वक अर्थात् स्वमन-परिणामपूर्वक, ऐसा। स्वमन के राग परिणामपूर्वक, ऐसा। वचन बोलता नहीं केवलज्ञानी का जीव। **क्यों? 'अमनस्काः केवलिनः (केवली मनरहित हैं)'** केवली को मन होता नहीं। भावमन, हों! द्रव्यमन तो है, वह तो जड़ है। **(केवली मनरहित हैं)'' ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से।**

उमास्वामी (रचित) तत्त्वार्थसूत्र का यह वाक्य है। **इस कारण से (ऐसा समझना कि) —जीव को मन-परिणतिपूर्वक वचन बन्ध का कारण है,...** मन की परिणतिपूर्वक—भावमनपूर्वक अर्थात् इच्छामनपूर्वक, ऐसा। **वचन बन्ध का कारण है, ऐसा अर्थ है और मनपरिणतिपूर्वक वचन तो केवली को होता नहीं है;...** वाणी तो, सहज इच्छा बिना ध्वनि—दिव्यध्वनि उठती (खिरती) है। पूर्व के कारण .... बन्धन है तीर्थंकरगोत्र आदि का, (इसलिए) ध्वनि उठती है, वह भगवान को मनपरिणतिपूर्वक वचन तो केवली को होता नहीं।

इच्छापूर्वक वचन ही... इसका विशेष स्पष्टीकरण लिया। तीन बोल प्रयोग किये। स्वबुद्धिपूर्वक—स्वमनपरिणामपूर्वक, दूसरा मनपरिणतिपूर्वक, तीसरा इच्छापूर्वक। आया न तीसरा। **(तथा) इच्छापूर्वक वचन ही साभिलाषस्वरूप जीव को बन्ध का कारण है... साभिलाषस्वरूप=जिसका स्वरूप साभिलाष (इच्छायुक्त) हो ऐसे।** ऐसे जीव को बन्ध का कारण है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि को अबन्ध परिणाम... लो, ऐसा लिया है न! बन्ध अधिकार में ही लिया है। समकिती भी निश्चय से तो अबन्ध ही है, परन्तु समिति आदि नहीं, इसलिए उसे जरा मुख्य दृष्टान्त में नहीं डाला और मुनि को दृष्टान्त में डाला। वह अबन्ध है। यहाँ कहते हैं कि गणधर जैसे और तीर्थंकर जैसे भी जब तक छद्मस्थ को इच्छापूर्वक वचन है, वह बन्ध का कारण है।

मुमुक्षु : सच्चा क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों सत्य है। कहो, समझ में आया?

वह दृष्टि और ज्ञान की अपेक्षा से कहा, यह स्वयं अस्थिरता की अपेक्षा से कहा। ऐसा जानना चाहिए या नहीं? जानना, स्वयं ज्ञानस्वरूप ही है, ज्ञानस्वरूप है ऐसा जाने। उसका स्वभाव ही जानना है। आहाहा! राग का करना—फरना, वह कहीं उसका स्वभाव ही कहाँ है? जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... स्व-पर का एक.... उसके ऊपर तो पूरा अध्ययन डाला, देखो न! जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला...

और केवली के मुखारविन्द से निकली हुई,... भाषा देखो! भगवान सर्वज्ञ

परमात्मा के मुखारविन्द—मुखरूपी कमल में से निकलता... कौन? दिव्यध्वनि। लो, एक ओर कहते हैं कि भगवान को होंठ हिलते नहीं, मुख में से वाणी निकलती नहीं, लो। पंचास्तिकाय। मुखारविन्द अर्थात् ऐसे लोग कहते हैं कि इस प्रकार से निकलती है, इतनी अपेक्षा से भाषा (ली है), बाकी पूरे आत्मा में (से निकलती है), ओम ध्वनि पूरे आत्मा में से निकलती है। उसे ऐसे लौकिक की भाषा से समझाया है। मुखारविन्द—मुखरूपी कमल में से निकलता... लो! वहाँ है न पंचास्तिकाय में पहली गाथाओं में? मुखरूपी अरविन्द में से निकलती है। पंचास्तिकाय की पहली गाथायें हैं। पहली (-शुरुआत की) गाथा है, हों! पहली (१ गाथा) ऐसा नहीं। कहो, समझ में आया? पूरे प्रदेशों से ओम की ध्वनि निकलती है। कण्ठ हिलता नहीं, होंठ हिलता नहीं, होंठ उघड़ता नहीं। कहो, समझ में आया? होंठ हिले नहीं, कण्ठ हिले नहीं—इस अपेक्षा से मौन है। वाणी निकलती हे पूरे प्रदेशों से। अघातिकर्म का बन्धन है न, इसलिए ध्वनि उठती है... ध्वनि उठती है।

समस्त जनों के हृदय को आह्लाद के कारणभूत... और यह शब्द आया वापस। भगवान की दिव्यध्वनि कैसी? समस्त जनों के हृदय को आह्लाद का कारण है। आहाहा! वापस आह्लाद का कारण परपदार्थ और आह्लाद का कारण उनकी वाणी। यहाँ कहना कि भगवान की वाणी सुननेवाले को बन्ध का कारण। ऐई! क्योंकि दिव्यध्वनि पर है और पर को सुनने में तो विकल्प का भाग है। समझ में आया? आवे सही, परन्तु है वह बन्ध का कारण। ज्ञान और दर्शन का कारण तो आत्मा है। ऐसी बात है। यहाँ कहते हैं कि **समस्त जनों के...** ऐसा वापस। भव्यजनों के, ऐसा निकालना था। वह वाणी तो **समस्त जनों के हृदय को आह्लाद के कारणभूत...** दिव्यध्वनि.... वह तो सबको सुखरूप ध्वनि है। आनन्द का ही, सहजानन्द की बात की। समझ में आया?

समस्त जनों के,... आहाहा! हृदय को आह्लाद—सुख के कारणभूत है, सुख के कारणभूत है उनकी वाणी। भीखाभाई! एक ओर (कहते हैं कि) भगवान की वाणी सुनते हुए बन्ध का कारण है। सोगानी कहते हैं, बन्ध है, नुकसान है। लो! बात सच्ची, परन्तु इस अपेक्षा से—व्यवहार से आह्लाद है (क्योंकि) वास्तविक तत्त्व को समझने में निमित्त है न वाणी का—ध्वनि (का)। आहाहा! भगवान की दिव्यध्वनि, उनके समवसरण

में, कहते हैं, सब जनों के हृदय को आह्लाद के कारणभूत **दिव्यध्वनि तो अनिच्छात्मक (इच्छारहित) होती है;...** उन्हें—भगवान को इच्छा नहीं होती। **इसलिए सम्यग्ज्ञानी को (केवलज्ञानी को) बन्ध का अभाव है।** लो, सम्यग्ज्ञानी का अबन्धभाव... टीका ऐसी है न, इसलिए फिर स्पष्टीकरण करना पड़ा वहाँ। पहले से लिया न कि '**इह हि ज्ञानिनो बंधाभावस्वरूपमुक्तम। सम्यग्ज्ञानी जीवः**' टीका में इसलिए 'केवलज्ञानी' (शब्द) लेना पड़ा। केवलज्ञानी की बात है यहाँ। सम्यग्ज्ञानी तो चौथे से ही है। यहाँ सम्यग्ज्ञानी (अर्थात्) केवलज्ञानी को लेना है। अनिच्छात्मक—इच्छारहित होते हैं, इसलिए सम्यग्ज्ञानी को बन्ध का अभाव है। लो,

[अब इन १७३-१७४ वीं गाथाओं की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज तीन श्लोक कहते हैं:—]

ईहा-पूर्वं वचन-रचना-रूप-मत्रास्ति नैव,
तस्मादेषः प्रकटमहिमा विश्वलोकैकभर्ता।
अस्मिन् बन्धःकथमिव भवेद्द्रव्यभावात्मकोऽयं,
मोहाभावान्न खलु निखिलं रागरोषादिजालम्॥२८९॥

श्लोकार्थः—इनमें... अर्थात् **(केवली भगवान में) इच्छापूर्वक वचनरचना का स्वरूप नहीं ही है;...** यह वचनरचना इच्छापूर्वक भगवान को होती नहीं, अपने आप उठते हैं। **इसलिए वे प्रगट-महिमावन्त हैं...** इच्छापूर्वक वचनरचना का स्वरूप नहीं, इससे वह भगवान प्रगट महिमावन्त है। पूर्ण ज्ञान, आनन्दादि महामहिमावन्त परमात्मा हैं। **और समस्त लोक में एक (अनन्य) नाथ हैं।** लो, समस्त लोक के एक अनन्य नाथ हैं। जाननेवाले रूप से सबके जाननेवाले है न! **एक (अनन्य) नाथ हैं।** जानने की अपेक्षा से नाथ कहे हैं। जगत के स्वामी नहीं, लोकालोक के कहीं स्वामी नहीं, परन्तु उन्हें जो माने, पहिचाने, उसे धर्म की दशा प्रगट होती है और आगे बढ़कर नहीं प्राप्त को पाते हैं, इस अपेक्षा से भगवान को एक नाथ कहा है। नाथ की व्याख्या यह है कि प्राप्त को रखे और अप्राप्त को दे। समझ में आया?

लो, भगवान दे, ऐसा कहते हैं। 'ददाति इति देव' आता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों ही भगवान देते हैं। इसलिए उन्हें देव कहा जाता है। आहाहा! यह तो

निमित्त के वाक्य हैं। जो प्राप्त करे, उसे वे निमित्त होते हैं, इसलिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के 'ददाति इति देव' ऐसा कहा। वे दे (सकें) तो सबको दे देवे। कोई किसी के आत्मा को देता नहीं। कहते हैं कि किसी की पर्याय कोई ले नहीं सकता, दे नहीं सकता। ऐसे भगवान सर्वज्ञ को जिसने अपने ज्ञान में स्वीकार किया, उसकी मान्यता हुई, उसकी स्थिरता हुई, उसमें कुछ इच्छा रहीं, उसमें से अर्थ और काम भी आवे, निर्मलता में मोक्ष आवे और इच्छा है सुनने (आदि की) वह पुण्य है। समझ में आया? आहाहा!

उन्हें द्रव्यभावस्वरूप ऐसा यह बन्ध किस प्रकार होगा? द्रव्यबन्ध भी नहीं और भावबन्ध भी नहीं। लो, एक समय का है न! यहाँ वह बन्ध नहीं। वह तो आवे और जाये, आवे और जाये। एक समय आकर चला जाये। वह बन्धन है नहीं। वह आस्रव अर्थात् व्यवहार... कम्पन है, इसलिए गिनने में आया है। द्रव्यभावस्वरूप ऐसा बन्ध किस प्रकार हो भगवान को? **(क्योंकि) मोह के अभाव के कारण...** भगवान को तो मोह है नहीं। उन्हें तो उदय है, वह समस्त क्षायिक का काम करता है, ऐसा कहते हैं। ऐसा कहा है न! क्योंकि उदय आवे, वह क्षायिक का काम (करे अर्थात् कि) खिर जाता है, खिर जाता है।

'(पुण्यफला) अरिहंता।' यह क्या कहा? पुण्यफला अरिहंता। पुण्यफल से अरिहन्तपद मिले, ऐसा अर्थ (अज्ञानी) करते हैं। (परन्तु) ऐसा नहीं है। केवलज्ञानी की बात कहाँ है? वह तो और उन्हें समवसरण और वाणी और उदयभाव आवे, वह पुण्य का फल है, ऐसा कहना है। इसका अर्थ ऐसे उल्टा करते हैं। तुम पुण्य को विष्टा कहते हो, निषेध करते हो, परन्तु पुण्य के फल में तो तीर्थंकर केवलज्ञान पाते हैं। अरेरे! भगवान! क्या करता है? यह तो बात कह गये थे पहले। ज्ञानी को ज्ञान से होता है, यहाँ कहा पहला। **ज्ञानज्योति द्वारा मल का नाश होता है।** क्योंकि **उन्हें वास्तव में समस्त राग-द्वेषादि समूह तो है नहीं।** विकल्प भी नहीं और बाहर में बन्ध भी नहीं। अत्यन्त मोहरहित भगवान पूर्णानन्द ऐसा ज्ञान और दर्शन का पूर्णस्वरूप प्राप्त, उसे परमात्मा कहा जाता है, उसे बन्ध होता नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण ५, मंगलवार, दिनांक-०७-१२-१९७१
श्लोक-२९०-२९२, गाथा-१७५-१७६, प्रवचन-१९६

२९० कलश है।

'**एको देवस्त्रिभुवन-गुरुर्नष्ट-कर्माष्टकार्धः**' अष्टक अर्घः —ऐसा लिया, चार नहीं लिया।

एको देवस्त्रिभुवन-गुरुर्नष्ट-कर्माष्टकार्धः,
सद्बोधस्थं भुवनमखिलं तद्गतं वस्तुजालम्।
आरातीये भगवति जिने नैव बन्धो न मोक्षः,
तस्मिन् काचिन्न भवति पुनर्मूर्च्छना चेतना च॥२९०॥

अरिहन्त भगवान को इच्छा होती नहीं, यह सिद्ध करने के लिये अधिक स्पष्ट करते हैं। भगवान बोले सही, ऐसा कहा जाता है, परन्तु वास्तव में उन्हें इच्छा होती नहीं। इच्छा बिना परमात्मा अरिहन्त को वाणी निकलती है, इसलिए उन्हें बन्ध का कारण नहीं।

श्लोकार्थः —तीन लोक के जो गुरु हैं,... सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव केवलज्ञानी परमात्मा तीन लोक के गुरु हैं। तीन लोक को जानते हैं, इसलिए उनके गुरुरूप से कहे जाते हैं। अथवा उत्तम में उत्तम पुरुष जो इन्द्र, गणधरादि के गुरु हैं, इसलिए उन्हें तीन लोक के गुरु कहे जाते हैं। **चार कर्मों का जिन्होंने नाश किया है...** आठ कर्म... यहाँ तो वाणीवाले लेना है न। सिद्ध नहीं लेना अकेले। जिन्होंने चार कर्मों को नाश किया है (और) चार कर्म जिन्हें बाकी हैं। आठ कर्म...

और समस्त लोक तथा उसमें स्थित पदार्थसमूह जिनके सद्ज्ञान में स्थित हैं,... लो। तीन काल और तीन लोक जिनके सद्ज्ञान में स्थित हैं, लो। अर्थात् कि उनका ज्ञान पूर्ण वर्तता है। पाठ तो ऐसा है कि पदार्थसमूह और लोक सद्ज्ञान में स्थित हैं। उनके ज्ञान में रहे हुए हैं। इसका अर्थ कि जितने तीन काल, तीन लोक हैं, वह सब

मानो भगवान के ज्ञान में वर्तता है। एक समय में केवलज्ञान में (जाने), ऐसा वह अरिहन्तपद है।

वे (जिन भगवान) एक ही देव हैं। ऐसे हों, उन्हें देव कहा जाता है, ऐसा कहते हैं। इसके अतिरिक्त अज्ञानियों ने कल्पित देव, वे देव नहीं हो सकते। जिन्हें एक समय के अन्दर तीन काल, तीन लोक ज्ञान में जानते हुए वर्ते और इच्छा बिना जिन्हें वाणी हो, वे एक ही देव होते हैं। इसके अतिरिक्त कोई जगत में सच्चे देव हैं नहीं। **उन निकट (साक्षात्) जिन भगवान में...** साक्षात् जिन भगवान में, ऐसा। **न तो बन्ध है, न मोक्ष,...** बन्ध भी नहीं, मोक्ष भी नहीं। मोक्ष हो गया है भावमोक्ष तो। बाह्य मोक्ष अभी चार कर्म का बाकी है, इसलिए मोक्षपना अभी नहीं और बन्ध भी नहीं। भगवान को बन्ध भी नहीं और अभी पूर्ण मोक्ष भी नहीं। चार (अघाति) कर्म का जो अभाव होकर द्रव्यमोक्ष होना चाहिए, वह नहीं, भावमोक्ष है।

तथा उनमें न तो कोई मूर्छा है,... (अर्थात्) अज्ञानदशा। जानने का कुछ बाकी हो, ऐसा उनमें है नहीं। **न कोई चेतना...** अर्थात् जानना कुछ बाकी है, ऐसा है नहीं। पूर्ण आश्रय द्रव्य का प्रगट हो गया है। ऐसे वे भगवान एक ही देव हैं। उन्हें वाणी इच्छा बिना निकलती है। उन्हें अभिलाषापूर्वक वाणी होती नहीं। उन्हें बन्ध होता नहीं। ...वाणी तो वाणी के कारण से निकलती है, परन्तु उसे—नीचे (के गुणस्थानवाले को) इच्छापूर्वक होती है, इसलिए वह बन्ध का कारण है। नीचे बन्ध का कारण है, उन्हें (-अरिहन्त को) बन्ध का कारण नहीं। पूर्ण दशा हो गयी। २९० कहा। 'चेतना' कहा न? जानने का बाकी नहीं अथवा आश्रय करना बाकी नहीं, पूर्ण आश्रय हो गया। चेतना अर्थात् अन्दर एकाग्र होना अब बाकी नहीं। प्रश्न तो करते हैं। कहो, समझ में आया?

नीचे स्पष्टीकरण किया है। **(द्रव्यसामान्य का पूर्ण आश्रय है)।** है न? अब आश्रय करना बाकी नहीं, ऐसा। यहाँ तो 'नहीं चेतना' ऐसा कहना है। 'नहीं चेतना' में पूर्ण चेतना है, ऐसा कैसे (आवे)? 'नहीं चेतना' अर्थात् अब कुछ चेतना और आश्रय करना बाकी नहीं, ऐसा। जैसे हो वैसे हो न, इसका (अर्थ)। २९० हुआ। देखो! ऐसे अरिहन्त भगवान को ऐसी दशा होती है। उन्हें वाणी निकलती है पूर्व के कर्म के कारण से, परन्तु उन्हें इच्छा और राग और अभिलाषापूर्वक वाणी होती नहीं। दिव्यध्वनि

निकलती है। चार (बार—सवेरे), दोपहर, शाम, रात्रि (में) इच्छा बिना वाणी निकलती है। इच्छा नहीं, वे तो पूर्ण वीतराग हैं।

२९१ (कलश)।

न ह्येतस्मिन् भगवति जिने धर्म-कर्म-प्रपञ्चो,
रागाभावा-दतुल-महिमा राजते वीतरागः।
एषः श्रीमान् स्वसुखनिरतः सिद्धिसीमन्तिनीशो,
ज्ञानज्योतिश्छुरितभुवनाभोगभागः समन्तात्॥२९१॥

श्लोकार्थः—इन जिन भगवान में... जहाँ परमेश्वर वीतरागदशा पूर्ण हो गयी। जिन्हें कुछ राग का अंश और इच्छा है नहीं। उन भगवान को **वास्तव में धर्म और कर्म का प्रपंच नहीं है...** अब धर्म करना अर्थात् शुद्धि और अशुद्धि का भाग नहीं। **(अर्थात् साधकदशा में जो शुद्धि और अशुद्धि के भेद-प्रभेद वर्तते हैं, वे जिन भगवान में नहीं हैं);...** पूर्ण वीतरागदशा हो गयी, फिर उसके शुद्धि और अशुद्धि दो भेद है ही नहीं। शरीर एक बाकी है, चार कर्म बाकी है। समझ में आया? परन्तु राग कुछ है नहीं तथा शुद्धि और अशुद्धि के प्रकार भी, पूर्ण शुद्धि हो गयी तो उसमें दो भेद नहीं।

राग के अभाव के कारण अतुल-महिमावन्त... आहाहा! अकेली आनन्ददशा और केवलज्ञानदशा, वह तो अतुल महिमावाली है। ऐसी ही आत्मा की शक्ति है कि उसरूप से परिणमे और हो सकता है। प्रत्येक आत्मा ऐसी शक्तिवाला है। समझ में आया? कहते हैं कि **राग के अभाव के कारण अतुल-महिमावन्त...** जिसकी महिमा की कोई उपमा नहीं। किसी के साथ उपमा—तुलना नहीं की जा सकती। **ऐसे वे (भगवान) वीतरागरूप से विराजते हैं। वे श्रीमान् (शोभावन्त भगवान)...** देखो! वे श्रीमान् हैं। **(शोभावन्त भगवान)...** श्री अर्थात् शोभा। **निजसुख में लीन हैं,...** परमात्मा तो अपने अतीन्द्रिय आनन्द में लीन है। यही आत्मा परमात्मा होता है अर्थात् आत्मा आनन्द में ही लीन रहता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

अपना आनन्दस्वभाव, अभी भी अनन्त आनन्द से विराजमान आत्मा है। उसमें एकाग्र होने से व्यक्तरूप से—प्रगट अनन्त आनन्द प्रगट हुआ, ऐसे परमात्मा अरिहन्त, उस

आनन्द में लीन है। किसी का भला करना, बुरा करना, ऐसा उसे है नहीं—ऐसा कहते हैं। समझ में आया? कहते हैं न, भगवान अवतरित होते हैं, राक्षसों को मारते हैं और भक्तों के कष्ट मिटाते हैं। ऐसे भगवान हो नहीं सकते। वह भगवान ही नहीं। समझ में आया? अपने अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, वीतरागता प्रगट हुई है, उसमें वे लीन हैं। **मुक्तिरूपी रमणी के नाथ हैं...** मोक्ष हुआ है न केवलज्ञानी को। अपनी मुक्तदशा के वे नाथ—स्वामी हैं। पूर्ण पवित्रता प्रगट हुई है, उसके वे धनी—स्वामी हैं। वह कोई जगत के स्वामी नहीं। अपने को पूर्ण आनन्ददशा, पूर्ण ज्ञान, शान्तिदशा प्रगट हुई, उसके वे नाथ हैं।

और ज्ञानज्योति द्वारा उन्होंने लोक के विस्तार को सर्वतः छा दिया है। ज्ञानज्योति द्वारा लोकालोक के विस्तार को जिन्होंने जान लिया है। पूरी दुनिया छा गयी है मानो ज्ञान में अर्थात् कि पूरी दुनिया—लोकालोक जिनके ज्ञान में वर्तता है। आहाहा! ऐसा अरिहन्त परमात्मा का परिणामपूर्वक बोलने बिना का स्वरूप है। समझ में आया? १७५ गाथा।

ठाणणिसेज्जविहारा ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो।
तम्हा ण होइ बंधो साक्खट्ठं मोहणीयस्स॥१७५॥

अभिलाषपूर्वक विहार... अर्थ किया है। 'विहार' शब्द पड़ा है। टीका में भी 'विहार' है।

अभिलाषयुक्त विहार, आसन, स्थान जिनवर को नहीं।
निर्बन्ध इससे, बन्ध करता मोह-वश साक्षार्थ ही॥१७५॥

टीका : यह, केवली भट्टारक को... सर्वज्ञ परमेश्वर अरिहन्तदेव जिन्हें पूर्ण ज्ञान और आनन्द प्रगट हो गये, ऐसे तीर्थंकर अथवा केवली, उन्हें **मनरहितपने का प्रकाशन है...** लो, उन्हें मन होता नहीं। भावमन है नहीं, द्रव्यमन तो जड़ है। **(अर्थात् यहाँ केवली भगवान का मनरहितपना दर्शाया है)। अरहन्तयोग्य परम लक्ष्मी से विराजमान,...** अर्हंतयोग्य—उनके योग्य परमलक्ष्मी—अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द, स्वच्छता, प्रभुता, वीतरागता आदि लक्ष्मी उनके पास है। यह धूल की लक्ष्मी नहीं। समझ में आया? यह

धूल की लक्ष्मी आत्मा के पास कहाँ है ? वह तो भिन्न है। उसे मूढ़ मानता है कि मैं लक्ष्मीवाला हूँ। यह पैसा धूल तो बाह्य है। उसके पास कहाँ आये ? घुस गये हैं उसमें ? पैसा मेरा, लक्ष्मी मेरी, वह जड़ का स्वामी मूढ़ होता है। आहाहा ! इस लक्ष्मी का स्वामी वे भगवान हैं। समझ में आया ? अर्हंत के योग्य परमलक्ष्मी... ऐसा कहा है न ?

परमवीतराग सर्वज्ञ केवली भगवान को... परम वीतराग सर्वज्ञ, ऐसा। इच्छा रहित हो गये और वीतराग, सर्वज्ञ है, ऐसे केवली भगवान को **इच्छापूर्वक कोई भी वर्तन नहीं होता;...** इच्छापूर्वक उन्हें कुछ भी वर्तन नहीं होता। आहाहा ! **इसलिए वे भगवान (कुछ) चाहते नहीं हैं,...** उन्हें कोई इच्छा नहीं होती। हिलना-चलना, बोलना, विहार करना, ऐसी कोई इच्छा नहीं होती, ऐसा कहते हैं। वह वचन का डाला था, अब सब डाला। **क्योंकि मनप्रवृत्ति का अभाव है;...** भगवान को मन की प्रवृत्ति ही नहीं। भगवान तो अकेले केवलज्ञानमय—स्वरूप है। आहाहा ! देव का स्वरूप इसने बराबर जाना नहीं। देव का वास्तविक स्वरूप जाने, तो उसे आत्मा के साथ मिलान करे। ऐसा और उस जाति का ही मैं हूँ (ऐसा माने) तो उसे सम्यग्दर्शन हुए बिना नहीं रहता। परन्तु देव की व्याख्या की खबर नहीं होती। समझ में आया ?

सभी देव समान, सर्वत्र चावल रखना (चढ़ना), सबको मानना। मिथ्याभ्रम है, अज्ञान है, कहते हैं। समझ में आया ? जय नारायण करना सबको—हनुमान को, शिकोतेर को, अम्बाजी को। मूढ है, कहते हैं। उसे भान नहीं कि आत्मा क्या है, उसकी कीमत कितनी है। करते हैं न देव के नाम से कितने ही ! कितने ही देव के नाम का शनिवार करे, कोई सोमवार करे, कोई रविवार करे। जैन में जन्मे परन्तु मूढ़ के बड़े बैल जैसे हैं। समझ में आया ? भान नहीं होता कुछ भान। अक्कल विसार गये। ऐसे (वीतरागी) देव को छोड़कर ऐसे (रागी) देव को मानना, मूढ़ है, कहते हैं।

अथवा, वे इच्छापूर्वक खड़े नहीं रहते,... ऐसा खड़ा रहे भगवान का शरीर। इच्छापूर्वक खड़े नहीं रहते। वह तो देह की क्रिया की उदय की ऐसी स्थिति है कि खड़े हो जायें। भगवान को इच्छा नहीं, इच्छापूर्वक खड़े नहीं रहते। **बैठते नहीं...** इच्छापूर्वक। आसन हो जाये ऐसे इच्छापूर्वक नहीं होता। सभा में—समवसरण में भगवान विराजते हैं, विहार करके ऐसे-ऐसे... बैठना—पालथी लगाकर बैठना, वह

इच्छापूर्वक नहीं है। जड़ के उदय का काल है, तत्प्रमाण क्रिया हो जाती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : तो आहार की क्रिया ऐसे हो जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहार की क्रिया ऐसे नहीं होती। ये ठीक कहते हैं। आहार की क्रिया भी ऐसे हो जाये भगवान को, ऐसा कहे। प्रश्न तो हो न! आहारमात्र... इच्छा के बिना आहार लेने की वृत्ति होती ही नहीं और वह आहार लेना, उसमें पवन की प्रेरणा बिना आहार अन्दर आता ही नहीं। कहो, समझ में आया? भगवान को पवन... है नहीं। यहाँ अभी देखो न यह पानी और आहार ले न। ऐसे पवन खींचे, तब पानी और आहार अन्दर आवे। ऐसा का आहार ग्रास नहीं आ जाता। ऐसी पवन की प्रवृत्ति भगवान को होती नहीं, इसलिए भगवान को आहार और पानी होते नहीं। उसके भाई का है न। वे थे न उसमें पहले। कहो, समझ में आया?

भगवान अरिहन्त परमेश्वर को शरीर में रोग नहीं होता, उन्हें आहार-पानी नहीं होता, उन्हें निद्रा नहीं होती। उन्हें इच्छापूर्वक वाणी नहीं होती, फिर प्रश्न कहाँ रहा? आहा! वाणी है तो भी इच्छा नहीं, ऐसे आहार हो और इच्छा न हो, ऐसा नहीं होता। इच्छा बिना आहार लेने की वृत्ति नहीं होती। आहार लेने जाना, आहार खाना, और आहार पेट में डालना, ऐसा...

मुमुक्षु : ग्यारह परीषह....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो उदय की दशा है इसलिए। उदय की जरा अवस्था है इतनी... परन्तु उन्हें है नहीं आहार-बाहार। प्रश्न ठीक है इनका। ग्यारह परीषह कहे हैं न? असाता के उदय का भाग है न, परन्तु इससे ऐसी क्षुधा नहीं आती कि आहार लेने की वृत्ति हो या आहार आवे। यह सब देव के स्वरूप को जानते नहीं। कहो, समझ में आया? भगवान को आहार ठहराया, भगवान के शरीर को रोग ठहराया—वे भगवान को जानते नहीं। वह उल्टे स्वरूप में चढ़ा दिया जीवों को।

मुमुक्षु : भगवान को औषधि होती है या नहीं?....

पूज्य गुरुदेवश्री : औषधि-फौषधि कैसी? रोग होवे तो औषधि होवे न? आहाहा!

समझ में आया? गौशाळा ने लेश्या मारी... आता है न? छह महीने तक खूनी दस्त रहा। बिल्कुल झूठी बात है। सब कल्पित, सब कल्पित बातें हैं। वह शास्त्र की, भगवान की वाणी नहीं। आहाहा! भारी कठिन काम, भाई! समझ में आया? ... लोगों को अपना वाड़ा बाँधना था कल्पित करके। कल्पित शास्त्र बनाये। समझ में आया? स्त्री को मुक्ति ठहरायी, सबको मुक्ति ठहरायी। सब हों वाड़ावाले, इकट्ठे हों, अपने चलो। भगवान स्त्री थे तो अपने भी स्त्री भगवान हो सकते हैं, ऐसा करके सबको अच्छा लगाया।

एक थे, नाम भूल गये। अहमदाबाद के दलाल, नहीं? हरिभाई मन्दिरमार्गी। हरिभाई दलाल था बहुत जोरदार। अहमदाबाद का था मन्दिरमार्गी। यह सब नहीं वह पैसेवाले भगुभाई? वह सबको लडावे ऐसा बुद्धिवाला। फिर एक थे न कैसे? भोगीभाई। भगुभाई के छोटे भाई। भोगीभाई अहमदाबाद के बड़े गृहस्थ थे। पचास लाख... वे यहाँ गये थे। प्रतिदिन सुनने आवे। नजदीक थे न। यहाँ गाँव में कहाँ जाना? फिर हरिभाई जैसे आवे न! पन्द्रह-बीस दिन सुना। कहे, बात अलग कहते हैं। बात ऐसी... कहा, स्त्री का मोक्ष ठहराया, इसका अर्थ कि सबको इकट्ठे करना। बात सच्ची लगती है। सबमें होशियार व्यक्ति था। गुजर गया। (संवत्) १९९२ में आया था। हरिभाई अहमदाबाद मन्दिरमार्गी। मार्ग दूसरा है, बापू! समझ में आया?

उन्हें इच्छा बिना... ...अनन्त आनन्द प्रगट हुआ, उन्हें इच्छापूर्वक वाणी कैसी और उन्हें आहार कैसा और पानी कैसा और रोग कैसा और औषधि कैसी? वे देव के स्वरूप को जानते नहीं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब वार्ता। यह तो हो गयी। इसका कुछ नहीं। अपने ... होता नहीं। परन्तु यह बात लो न अभी चलती है वह। समझ में आया? भगवान को आहार नहीं, पानी नहीं, रोग नहीं। अनन्त आनन्द का जहाँ अनुभव है, वहाँ उन्हें फिर आहार कैसा? आहाहा! उन्हें पानी कैसा? सब वस्तु का स्वरूप तत्त्व से विरुद्ध कर डाला है। समझ में आया? जादवजीभाई! तेरा दादा उसमें था। इसे क्या खबर हो? ऐसा था उस समय। बात ही नहीं थी, वह धर्म की नहीं थी। दया, दान, व्रत पाले, उसे धर्म हो—यह बात ही झूठी, यह बात ही झूठी। सब झूठी बात है। धर्म क्या है, उसकी इसे

खबर नहीं; देव किसे कहा जाता है, उसकी खबर नहीं; गुरु किसे कहा जाता है, यह खबर नहीं और शास्त्र किसे कहा जाता है, इसकी भी खबर नहीं। ऐसा है। भारी कठिन काम। भगवान के नाम से चढ़ा दी न पुस्तकें। बेचारे लोग ठगा गये। उल्टा सिर ऊँचा कर सके नहीं। ऐसे के ऐसे मर गये उसमें।

कहते हैं कि भगवान इच्छापूर्वक बैठते नहीं। बैठते नहीं, इच्छापूर्वक बैठते नहीं। वह तो शरीर बैठ जाये। आहाहा! श्रीमद् में आता है न, 'विचरे उदय प्रयोग...' आता है न?

मुमुक्षु : आत्मज्ञान समदर्शिता....

पूज्य गुरुदेवश्री : ....वह तो छद्मस्थ को भी नहीं होता। समझ में आया? समकिती-ज्ञानी, मुनि धर्मात्मा वे भी जैसा उदय हो, तत्प्रमाण हुआ करे, उसे जाननेवाले—देखनेवाले हैं; करनेवाले नहीं। आहाहा! सम्यग्दृष्टि भी विहार की क्रिया, खाने की क्रिया के कर्ता हैं ही नहीं। (अज्ञानी) मानता है। खाता कहाँ है? झूठ मानता है। परन्तु मानता है कि मैं खाता हूँ, वह जड़ की क्रिया है। ग्रास आना-जाना, वह जड़ की, मिट्टी की, पुद्गल की क्रिया है। मूढ़ होकर मानता है कि मैं खाता हूँ, पीता हूँ, लड्डू खाता हूँ, मौसम्बी पीता हूँ। धूल में भी नहीं, मुफ्त का। आनन्द का नाथ प्रभु, उसे यह पर का खाने-पीने की क्रिया का कर्ता कहना, वह तो महामिथ्यात्वभाव है। समझ में आया? मार्ग ऐसा है, भाई! यह कहीं पक्ष की बात नहीं। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

मुमुक्षु : यह सब वायुकाय....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ वायुकाय और कौन यतना (रक्षा) कर सकता था? वायुकाय की यतना कौन करे? मुनि तो नग्न होते हैं। वस्त्र का टुकड़ा भी होता नहीं। जंगल में मुनि बसते हैं। समझ में आया? कठिन मार्ग है, बापू! जैनदर्शन का। वाडा बाँधकर बैठे, वह कहीं जैनदर्शन नहीं। समझ में आया?

इच्छापूर्वक **श्री विहारादिक नहीं करते,...** देखो! भाषा कैसी प्रयोग की है। श्रीविहारादि—भगवान का श्रीविहार। आहाहा! ऐसा विहार आदि... कदम भरना या पैर ऐसे रखना, फलाना—यह करते नहीं। आहाहा! ऐसा अरिहन्त का स्वरूप, ऐसा ही

आत्मा का स्वरूप है। मात्र पर्याय में हीनता है, परन्तु (द्रव्य की) दृष्टि करने से द्रव्य में वह अरिहन्त जैसा ही आत्मा है। कहो, समझ में आया?

भगवान इच्छापूर्वक श्रीविहारादि करते नहीं। **क्योंकि 'अमनस्काः केवलिनः (केवली मनरहित हैं)' ऐसा शास्त्र का वचन है।** तत्त्वार्थसूत्र का यह वचन है। **इसलिए उन तीर्थंकर-परमदेव को द्रव्यभावस्वरूप चतुर्विध बन्ध...** नहीं। भगवान को बन्ध नहीं, ऐसा कहना है न। तीर्थंकर परमदेव को द्रव्य अर्थात् कर्मप्रकृति का बन्ध नहीं और भावबन्ध भी नहीं, राग का भी बन्ध नहीं और पर का भी बन्ध नहीं। आहाहा! **प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध,...** परमाणु में उसका स्वभाव पड़े, उसकी संख्या हो, उसकी स्थिति हो और उसमें रस हो—ऐसा बन्ध भगवान को होता नहीं।

और, वह बन्ध (१) किस कारण से होता है तथा (२) किसे होता है? यह दो प्रश्न। बन्ध भगवान को होता नहीं तो फिर वह बन्ध किस कारण से होता है? और किसे होता है? यह दो प्रश्न हैं। **(१) बन्ध मोहनीयकर्म के विलास से उत्पन्न होता है।** राग से उत्पन्न होता है, ऐसा। समझ में आया? **(२) 'अक्षार्थ' अर्थात् इन्द्रियार्थ...** पाँच **(-इन्द्रिय-विषय); अक्षार्थसहित हो, वह...** (अर्थात्) इन्द्रिय के विषयसहित हो उसे। भगवान तो अणीन्द्रिय है। **'साक्षार्थ;' मोहनीय के वश हुए,...** इन्द्रियसहित हो, वह मोहनीय के वश हुए **साक्षार्थप्रयोजन...** स-अक्ष अर्थात् **(इन्द्रियविषयरूप प्रयोजनवाले)...** ऐसे **संसारियों को ही बन्ध होता है।** समझ में आया? भगवान को बन्ध नहीं होता।

इसी प्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसार में (४४वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:— लो, आधार देते हैं प्रवचनसार का।

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं।
अरहंताणं काले मायाचारोव्व इत्थीणं॥

गाथार्थः—उन अरहन्तभगवन्तों को उस काल खड़े रहना,... भाषा देखो! उस समय खड़े रहना, वही उनकी पर्याय की क्रिया है। **बैठना,...** आहाहा! **विहार और धर्मोपदेश...** चलना और धर्म का उपदेश। **स्त्रियों के मायाचार की भाँति,...** स्त्री को

सहज माया वर्तती है, वैसे **स्वाभाविक ही-प्रयत्न बिना ही-होता है।** भगवान को (नोकर्म) आहार, बैठना, खड़े रहना, विहार, धर्मोपदेश सहज है। कहो, समझ में आया? स्त्री को माया-कपट तो सहज हो जाती है, उसे ख्याल भी नहीं होता, इस प्रकार से। उसका स्वभाव ही ऐसा है। माया-कपट से स्त्री होकर आयी है। पूर्व में माया-कपट हो तो वह स्त्री होता है। सब स्त्रियों की बात नहीं, सामान्य की बात है। भगवान की माता (आदि) सब ऐसी नहीं होती। यह तो सामान्य बात है। **स्त्रियों के मायाचार की भाँति,...** उसे माया-कपट सहज साधारण हो जाती है।

इसी प्रकार भगवान को इच्छा बिना (नोकर्म) आहार, विहार, हिलना-चलना, आहार में जो कर्म के रजकण आवें, वे भी इच्छा बिना आते हैं। आहारक गिने हैं न? वह यह। भगवान खड़े रहें, बैठें, विहार—यह स्वाभाविक ही है, प्रयत्न बिना ही होता है। आहाहा! भगवान को प्रयत्न होता नहीं कि मैं खड़ा रहूँ, प्रयत्न नहीं कि मैं चलूँ, प्रयत्न नहीं कि मैं बोलूँ, खड़ा रहूँ। प्रयत्न बिना होता है। यह सब उदयभाव है। क्षायिकभाव है, खिर जाता है। प्रवचनसार में कहा है न, वह सब उदयभाव है। 'पुण्यफला अरिहंता' की व्याख्या यह है। पुण्य के फलरूप से केवली होते हैं, यह व्याख्या नहीं। परन्तु पूर्व में जो पुण्य बाँधा, उसके कारण से हलन-चलन, वाणी, विहार, बैठना, उठना होता है—वह सब पुण्य की क्रिया है। वह खिर जाती है। भगवान को खिर जाती है।... उन्हें तो ज्ञान में वर्तता है कि इस समय देह चलेगी, इस समय भाषा निकलेगी, इस समय देह खड़ी रहेगी, इस समय चलेगी। यह सब ज्ञान में है पहले से। समझ में आया? केवलज्ञानी का स्वरूप जानना कठिन बात है। इससे यहाँ केवलज्ञान, केवलदर्शन को कितनी... देखो न! आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उस समय वहाँ आया, खिर गया, दूसरा समय आया, खिर गया। ऐसा क्षायिक है। वह आकर खिर जाता है। वह क्षायिक का काम करता है, ऐसा। पण्डितजी! आहाहा! अरे! आत्मा की ऋद्धि... अन्तर आनन्द और ज्ञान स्वभाववान प्रभु, वह अन्तर के ज्ञान द्वारा जो चीज़ अन्दर में—आत्मा में है, उसकी एकाग्रता द्वारा बाहर परिणतिरूप से पूर्ण दशा हो गयी, ऐसे अनन्त ज्ञानादि ऋद्धि के धारी परमात्मा को

किसी प्रकार की इच्छा नहीं होती। उन्हें प्रयत्न बिना ही ये सब काम चलते हैं, ऐसा कहते हैं। उनका प्रयत्न हो तो यह खड़े रहना, बैठना, चलना होता है—ऐसा नहीं है। आहाहा! यह वह कहीं बात! साधारण प्राणी को तो बैठती नहीं। समझ में आया?

चार कर्म बाकी रहे, वे भी जली हुई डोरी जैसे हैं। आता है, खामणा में आता है, परन्तु इसका अर्थ नहीं समझते। चार कर्म नाश किये, चार कर्म जली डोरीवत्—समान पड़े हैं। जली हुई डोरी बाँधने में काम नहीं आती। अरे! ऐसे आत्मा की जाति ही जहाँ पूर्ण प्रगट हुई, वहाँ यह जाति होती है, ऐसा ही यह भगवान आत्मा (और) अनन्त आत्मायें ऐसे ही हैं। समझ में आया? वह अन्तर में है, उसे बाहर निकाले परिणति, तब साक्षात् परमात्मा होते हैं। वह वस्तु स्वयं आत्मा, वह परमात्मा ही है। परमात्मा न हो तो पर्याय में परमात्मपना कहाँ से आयेगा? बाहर से आये, ऐसा है? आहाहा! समझ में आया?

[अब, इस १७५वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

देवेन्द्रासन-कम्पकारण-महत्कैवल्यबोधोदये,
मुक्तिश्रीललनामुखाम्बुजरवेः सद्धर्मरक्षामणेः।
सर्वं वर्तनमस्ति चेन्न च मनः सर्वं पुराणस्य तत्,
सोऽयं नन्वपरिप्रमेयमहिमा पापाटवीपावकः॥२९२॥

श्लोकार्थः—देवेन्द्रों के आसन कम्पायमान होने के कारणभूत महा केवलज्ञान का उदय होने पर,... आहाहा! आत्मा में तो अन्तर के आनन्द में लीनता होने पर केवलज्ञान होता है। भगवान आत्मा अपना जो अनन्त ज्ञान, आनन्दादि स्वभाव अन्तर परिपूर्ण पड़ा है अभी। उसमें लीनता करने से—उसकी एकाग्रता साधने से केवलज्ञान होता है। वह केवलज्ञान देवेन्द्रों के आसन का कम्पायमान का निमित्त है, कारण है। कहो, समझ में आया? लो, यहाँ केवलज्ञान हो (वहाँ) देवों के आसन कम्पित होते हैं। देवेन्द्रों—जो इन्द्र आदि हैं, उनके **आसन कम्पायमान होने के कारणभूत महा केवलज्ञान का उदय होने पर,...** लो, केवलज्ञान प्रगट होने पर कम्पायमान होते हैं। निमित्त से हो उसमें। ऐ दिलीप! केवलज्ञान हो तब कम्पायमान होते हैं या नहीं वहाँ? क्या होगा? निमित्त है न! हुआ न उससे? नहीं होता? चिमनभाई! कहो, समझ में आया? उससे

नहीं होता, परन्तु उस काल में वहाँ होने की पर्याय थी, उसमें वह निमित्त कहने में आता है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। आहाहा!

मुमुक्षु : वास्तविक निमित्त तो उसका द्रव्य हुआ?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसका? उसकी यहाँ बात नहीं। यहाँ तो केवलज्ञान हुआ तो वहाँ कम्पन होता है, वह उसके कारण से होता है, इतनी अपने बात है। इतना निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। केवलज्ञान... यहाँ तो कहा, जन्में वहाँ कम्पायमान हो। तीर्थंकर का जीव जहाँ जन्मता है, वहाँ देव के आसन कम्पित होते हैं। वह भी उस समय में कम्पित होने की योग्यता में निमित्त कहलाता है। निमित्त की सामग्री पूरी मिलती है, जिसे चाहिए हो उसे।

देवेन्द्रों के आसन कम्पायमान होने के कारणभूत महा केवलज्ञान का उदय... केवलज्ञान का उदय है, तब कम्पन हुआ। पहले क्यों नहीं हुआ? यह तो उस समय उसकी होने की क्रिया थी, उसमें केवलज्ञान को निमित्त कहा जाता है। ऐसी बात है। वीतरागमार्ग की स्वतन्त्रता प्रत्येक द्रव्य की—गुण की पर्याय स्वतन्त्र है। कोई किसी के कारण से किसी की पर्याय होती नहीं, ऐसा वस्तु का स्वरूप है। क्या हो? लोगों को बाहर सुनने मिलता नहीं, वह फिर उसमें मानकर पड़ा, जिन्दगी पूरी करे। भव का अभाव करने का भव, उसमें भव बढ़ाकर जाये। आहाहा!

जो मुक्तिलक्ष्मीरूपी स्त्री के मुखकमल के सूर्य हैं... मुक्तिरूपी लक्ष्मी, उसकी परिणति के मुखकमल अर्थात् खिलने का सूर्य है। शुद्ध परिणति को खिलने का कारण है वह तो। समझ में आया? **और सद्धर्म के रक्षामणि हैं,...** लो, पहले भी आ गया है एक बार। २८२ पृष्ठ पर आ गया है (श्लोक २४१)। **आपत्तियों से, पिशाच इत्यादि से अपनी जाति को बचाने के लिये पहना जानेवाला मणि।** ठीक। **केवली भगवान सद्धर्म के रक्षण के लिये—असद्धर्म से बचने के लिये—रक्षामणि है।** आहाहा! समझ में आया? २८२ पृष्ठ पर आ गया है। रक्षामणि। **सद्धर्म की रक्षा करनेवाला मणि। रक्षामणि—आपत्तियों से और पिशाच इत्यादि से अपनी जाति को बचाने के लिये पहना जानेवाला मणि।** उपमा दी है, लो। यहाँ भी भगवान सद्धर्म के रक्षक हैं। आहाहा! अधर्म से—असत्धर्म से बचने के लिये भगवान को रक्षामणि कहा जाता है।

जो उसे समझे और आश्रय ले, उसे भी सद्धर्म के रक्षण में भगवान मणि—रक्षामणि है। आहाहा!

स्तवन में आता है न अमुक जगह। 'मेरे सिर पर सीमन्धरस्वामी अखण्ड मेरी रक्षा करे।' आता है? रक्षा करने आते होंगे भगवान? भगवान अरिहन्त का जो स्वरूप है, ऐसा इसके ज्ञान में बराबर बैठे, उसे अन्तर का लाभ होता है, उसमें भगवान निमित्त कहे जाते हैं, ऐसा कहते हैं। अपना सद्धर्म का रक्षक है और असत्धर्म से बचने के लिये रक्षामणि। ऐसा स्वयं भी है और दूसरे के लिये भी वह ऐसा है। जिसने अरिहन्त परमात्मा का वास्तविक ऐसा स्वरूप होता है, ऐसा जाना है, वह फिर अपने आत्मा को उनके साथ मिलान करे तो उसे सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान होता है, तो उसके आत्मा के भी वे रक्षामणि कहे जाते हैं व्यवहार से। निश्चय से तो अपने रक्षामणि हैं। कहो, समझ में आया? आहाहा!

ऐसे पुराण पुरुष को... ऐसे भगवान अरिहन्त परमेश्वर पुराणपुरुष—पुराने आत्मा। जैसा है, वैसा प्रगट हुआ, ऐसा। ऐसे पुराण पुरुष को **सर्व वर्तन भले हो,...** हिलना-चलना, बोलना, खड़े रहना, उपदेश हो, **तथापि मन सर्वथा नहीं होता;...** उसमें मन सर्वथा होता नहीं। आहाहा! गजब बात भाई! कहो, इच्छा नहीं, मन नहीं और चले। अपने आप चलें? अपने आप हिले जड़? हाँ, क्रियावतीशक्ति है वह। समझ में आया? चलने की क्रिया, जो यह चलते हैं, वह क्रियावतीशक्ति है, उससे चलते हैं, आत्मा की इच्छा से नहीं। आत्मा की प्रेरणा होती है, प्रयत्न होता है, इसलिए ऐसे चलते हैं—ऐसा भी नहीं। आहाहा! वह तो जड़तत्त्व है, अजीवतत्त्व है। अजीवतत्त्व की क्रिया अजीव में अजीव के कारण से स्वतन्त्र होती है, आत्मा से होती नहीं। यहाँ नीचे (छद्मस्थ को) होती नहीं तो भगवान को और क्या कहना? कहते हैं। आहाहा!

मन सर्वथा नहीं होता; इसलिए वे (केवलज्ञानी पुराण पुरुष)... है ठीक! **वास्तव में अगम्य महिमावन्त हैं...** उनकी महिमा अगम्य है (अर्थात्) मन से या विकल्प से नहीं कही जा सकती। वह ध्यान से जानी जा सकती है। आहाहा! ऐसे तो सब 'णमो अरिहंताणं... णमो अरिहंताणं' करे सवेरे से उठकर, परन्तु अरिहन्त कैसे होते हैं, उनकी पर्याय कैसी होती है, उन्हें इच्छापूर्वक हिलना-चलना नहीं होता, वह उनका वास्तविक स्वरूप है, उसे जानते नहीं तो उनका 'णमो अरिहंताणं' सच्चा नहीं है।

वह तो राग को नमस्कार करते हैं। समझ में आया? **और पापरूपी वन को जलानेवाली अग्नि समान हैं।** केवलज्ञानी परमात्मा को पापादि तो है नहीं, परन्तु दूसरे जीवों को पाप होता है, वह केवलज्ञानी परमात्मा का ज्ञान यथार्थ करे (तो) उसे पापरूपी वन... पापरूपी वन को जलाने में भगवान अग्नि समान हैं। समझ में आया? पाप शब्द से पुण्य और पाप—दोनों। पुण्य और पाप दोनों लकड़े वन के... भगवान अरिहन्त का वास्तविक स्वरूप अन्तर जाने, वे आत्मा को जानते हैं और आत्मा को जाने, इससे उसके पुण्य और पाप नाश हो जाते हैं। समझ में आया? २९२ हुआ। गाथा १७६।

आउस्स खयेण पुणो णिण्णासो होइ सेसपयडीणं।
पच्छा पावइ सिग्घं लोयग्गं समय-मेत्तेण॥१७६॥

सिद्ध लिये। अरिहन्त का स्वरूप स्थापित किया, अब सिद्ध लिये सिद्ध।

हो आयु क्षय से शेष सब ही कर्म-प्रकृति विनाश रे।
सत्वर समय में पहुँचते अर्हन्त-प्रभु लोकाग्र रे॥१७६॥

टीका : यह, शुद्ध जीव को स्वभावगति की प्राप्ति होने के उपाय का कथन है। आत्मा को यहाँ मोक्ष—शुद्धता हुई, वे चार कर्म गये, जो पहले बाकी थे अरिहन्त तक, वे चार (अघाति) कर्म गये। यहाँ शुद्धदशा प्रगट हुई। सिद्धदशा भी यहाँ ही प्रगट हुई और यहाँ से ऊपर जायें, वह उनका अग्रस्थान, वह स्वाभाविक गति है। उनकी स्वाभाविक गति से जाते हैं। ६३ पृष्ठ पर है, यह गति का। अक्रम है न। ६३ पृष्ठ पर है। **जो छह अपक्रम से विमुक्त है।** ३०वीं गाथा में है, ३०वीं गाथा। भगवान परमात्मा अरिहन्त होने के पश्चात्... यह अरिहन्त की व्याख्या तो की है कि ऐसे होते हैं। अब उन्हें चार कर्म बाकी थे, वे गये। समझ में आया?

भगवान महावीर आदि यहाँ विराजते थे, तब तक अरिहन्त थे। उन्हें जब चार कर्म का जिस समय नाश हुआ, तब सिद्ध हुए, तब ऊर्ध्वगति हुई। स्वाभाविक गति है। उसका स्वभाव ऊर्ध्व जाकर लोकाग्र में स्वयं के कारण से रहने का स्वभाव है। समझ में आया? **स्वभावगतिक्रियारूप से परिणत, छह अपक्रम से रहित...** ऐसा लेना। 'छह काय के क्रम से' यह निकाल डालना। यह सुधारा है पीछे, नहीं? छह अपक्रम से रहित अर्थात् आड़ी-टेढ़ी गति से रहित, ऐसा। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और नीचे।

ऊर्ध्व, नीचे और चार यह—छह दिशा है न छह। ऊर्ध्व, नीचे और चार ऐसे पूर्व, पश्चिम आदि, उनसे रहित **सिद्धक्षेत्रसन्मुख भगवान को परम शुक्लध्यान द्वारा...** आहाहा! **सिद्धक्षेत्रसन्मुख...** लोकाग्र में—लोक के अग्र में सिद्ध विराजमान हैं। अनन्त सिद्ध, अनादि से अनन्त... अनन्त... अनन्त सिद्ध परमात्मा विराजते हैं। वे शुक्लध्यान द्वारा...

सिद्धक्षेत्रसन्मुख भगवान को परम शुक्लध्यान द्वारा... परम शुक्लध्यान... देखो! **कि जो (शुक्लध्यान) ध्यान-ध्येय-ध्याता सम्बन्धी, उसकी फलप्राप्ति सम्बन्धी तथा उसके प्रयोजन सम्बन्धी विकल्पों से रहित है...** ऐसा परमशुक्लध्यान अन्त में... **और निज स्वरूप में अविचल स्थितिरूप है...** चार कर्म गये, शुक्लध्यान से स्थिर हो गये सीधे। **उसके द्वारा—आयुकर्म का क्षय होने पर,...** लो, ठीक! अन्दर का ध्यान, केवली को भी चौदहवें गुणस्थान में स्थिरता का ध्यान हुआ, उससे आयुष्यकर्म बाकी था न भगवान को, उसका क्षय हुआ। अभी महाविदेह में भगवान सीमन्धर परमात्मा विराजते हैं। चार कर्म का नाश हुआ और चार कर्म अभी भगवान को बाकी हैं। जब मोक्ष होगा आगामी चौबीसी के जब यहाँ १३वें तीर्थंकर होंगे, तब मोक्ष होगा। तब सिद्धगति में... निजस्वरूप में स्थितिरूप, उसके द्वारा आयुकर्म का क्षय होने पर **वेदनीय, नाम और गोत्र नाम की शेष प्रकृतियों का सम्पूर्ण नाश होता है...** लो। भगवान को फिर चारों ही कर्म का नाश होता है। आहाहा!

(अर्थात् भगवान को शुक्लध्यान द्वारा आयुकर्म का क्षय होने पर शेष तीन कर्मों का नाश भी क्षय होता है और सिद्धक्षेत्र की ओर स्वभावगतिक्रिया होती है)। शुद्धनिश्चयनय से—**शुद्धनिश्चयनय से सहजमहिमावाले निज स्वरूप में लीन होने पर भी...** आत्मा की पूर्ण दशा में तो वे भगवान लीन हैं। सिद्ध हो गये, उन्हें कुछ बाकी है नहीं। यहाँ शरीर में रहे सिद्ध हुए, हों। छूट गया वह सब। **शुद्धनिश्चयनय से सहजमहिमावाले निज स्वरूप में लीन होने पर भी व्यवहार से वे भगवान...** एक समय में, '**अर्ध क्षण**' शब्द प्रयोग किया है, **(समयमात्र में) लोकाग्र में पहुँचते हैं।** एक आँख मींचकर उघाड़े, उसमें असंख्य समय (जाते हैं)। एक समय में लोकाग्र में पहुँचते हैं। साक्षात् एक समय में अपनी स्वाभाविक गति से जाते हैं। कोई उसमें कर्म का कारण या फलाना कारण है नहीं। वर्तमान अपना स्वभाव ही ऐसा है। समझ में आया?

व्यवहार से वे भगवान अर्ध क्षण में... लोकाग्र में... व्यवहार का अर्थ क्या? कि लोकाग्र में पहुँचे वह व्यवहार है और बाकी अपने में है, वह निश्चय है, ऐसा। लोकाग्र में अर्थात् यह बाहर से हुआ न, वह व्यवहार कहलाता है। बाकी अन्दर में लीन है, वह निश्चय है। वह भगवान की गति स्वाभाविक है, ऐसा कहते हैं। जहाँ से गति हुई— स्वाभाविक गति हुई है उन्हें। समझ में आया? ऐसा कि यहाँ गति करे, तब तक उन्हें विभाव है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? क्योंकि गति तो करते हैं न ऐसी। गति करे तब तक विभाव है और स्थिर हो, तब स्वभाव है। समय तो एक ही है। सूक्ष्म बात है। यहाँ चार कर्म का नाश होकर शुक्लध्यान द्वारा सिद्ध हुए, यहाँ सिद्ध की पर्याय प्रगटी, उसी समय में ही रास्ता और उसी समय में वहाँ (पहुँचते) हैं। समयभेद कहाँ है? आहाहा!

मुमुक्षु : एक समय में इतने सब काम होते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : इतने सब कहाँ थे? ऐसे जहाँ छूटा, पूर्ण दशा हुई, बस उस समय यह हुई और उसी समय रास्ते में है, उसी समय में वहाँ है। समय (भेद कहाँ है?) इसलिए वह एक समय में ऐसा होता है, गति करे, तब तक विभाविक कहलाती है—ऐसा नहीं। इसलिए ऊपर पहले लिया था 'स्वभावगति'। स्वभावगति क्रियारूप से परिणमी है, ऐसा कहा है न! वह स्वाभाविकगति, अपना स्वभाव है। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : ....वह तो विभाव कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसने कहा? .... वह अपनी पर्याय वहाँ, वह तो उदय का विभाव है। अपने को कहाँ लिया? .... वह तो जड़ की क्रिया है। ... अनुसार हो, वह तो अपना स्वभाव है। वह तो अपने स्वभाव के कारण से है, कहीं पर के कारण से नहीं।

यहाँ आत्मा सिद्ध हुआ और ऐसे क्षेत्रान्तर हो यहाँ से, लो न क्षेत्रान्तर हो, वह तो स्वभाव है। क्षेत्रान्तर होना तो एक समय ही है, विभाव नहीं। इसमें भी गड़बड़ है अभी बहुत।

मुमुक्षु : सिद्ध हो और विभाव खड़े रहे?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्योंकि यहाँ उसकी गति करे तब तक विभाव, फिर वहाँ स्वभाव, ऐसा। पहले—बाद में है ही कहाँ? पूर्णानन्द प्रभु जहाँ दशा प्राप्त हुई, वही समय है। यहाँ, बीच का और वहाँ—सब एक ही समय है। ऐसे भगवान लोकाग्र में पहुँचते हैं, वह व्यवहार हुआ। लोक का अग्र है न! वहाँ क्षेत्र कहलाये न क्षेत्र, बाकी है तो स्वयं को स्वयं में। वहाँ भी अपने में है, कहीं बाहर में नहीं। लोकाग्र में है, वह व्यवहार से कहा जाता है। अपने स्वरूप में आनन्द में लीन है, वह निश्चय है। ऐसा सिद्ध का स्वरूप भी अरिहन्त होने के बाद का ऐसा होता है, ऐसा भी यहाँ वर्णन साथ में हो जाता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण ६, बुधवार, दिनांक-०८-१२-१९७१
श्लोक-२९३-२९६, गाथा-१७७, प्रवचन-१९७

१७६ गाथा का कलश २९३।

[अब इस १७६वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज तीन श्लोक कहते हैं:—]

षट्कापक्रमयुक्तानां भविनां लक्षणात् पृथक्।
सिद्धानां लक्षणं यस्मादूर्ध्वगास्ते सदा शिवाः॥२९३॥

संसारी जीव कैसे हैं? कि **श्लोकार्थः—जो छह अपक्रम सहित हैं,...** मरकर छह दिशाओं में गमन करनेवाले हैं। समझ में आया? संसारी जीव का देह छूटे तो वे छह दिशा—ऊर्ध्व, अधो, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—छह दिशाओं में उनका गमन होता है। **ऐसे भववाले जीवों के... 'भविनां'** 'भवि' शब्द है न अन्दर? भवि का अर्थ भव। आता है न, पहले आ गया है। ऐसे भववाले जीवों के—**(-संसारियों के) लक्षण से सिद्धों का लक्षण भिन्न है,...** संसारी जीव देह छूटे, तब छह दिशाओं में जाते हैं, छह में से किसी एक में। उनसे सिद्ध का लक्षण अलग है। **इसलिए वे सिद्ध ऊर्ध्वगामी हैं...** वे तो ऊर्ध्वगामी हैं। देह छूटे तो सिद्ध भगवान ऊर्ध्वगामी होते हैं एक समय में। **और सदा शिव (निरन्तर सुखी) हैं।** निरन्तर आनन्द के—सुख के अनुभव में स्थित हैं। **सदा शिव..** है न? **सदा शिव (निरन्तर सुखी) हैं।** शिव अर्थात् कल्याणस्वरूप। आनन्द का अनुभव निरन्तर (हो), उसे सिद्ध कहा जाता है, ऐसा। २९४ (कलश)।

बन्धच्छेदा-दतुल-महिमा देव-विद्याधराणां,
प्रत्यक्षोऽद्य स्तवनविषयो नैव सिद्धः प्रसिद्धः।
लोकस्याग्रे व्यवहरणतः सन्स्थितो देव-देवः,
स्वात्मन्युच्चै-रविचलतया निश्चयेनैव-मास्ते॥२९४॥

सिद्ध भगवान लोकाग्र में रहे हैं। **श्लोकार्थः—बन्ध का छेदन होने से जिनकी**

अतुल महिमा है,... अशरीरी परमात्मा सिद्ध हुए, उन्हें बन्ध का छेद है (अर्थात्) आठों कर्म का अभाव है, इसलिए जिनकी अतुल महिमा है। उनकी क्या महिमा कहना! अतुल (अर्थात् कि) उनकी किसी के साथ तुलना नहीं हो सकती। अकेला चैतन्यरस और आनन्दस्वभाव था, वह पर्याय में प्रगट हुआ। पूर्ण... पूर्ण आनन्द, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण दर्शन, पूर्ण वीर्य, पूर्ण स्वरूप सब (ऐसी) अतुल महिमा है। जो संसारी को साध्यरूप से सिद्ध है, वे ऐसे हैं, ऐसा कहते हैं। अपने को भी सिद्ध साध्य है न? **जिनकी अतुल महिमा है,...** उनकी तुलना नहीं। ऐसा तो जिन्हें ज्ञान, दर्शन, आनन्दादि अनन्त शक्ति की व्यक्तता अनन्त महिमा सहित प्रगट हुई है।

ऐसे (अशरीरी और लोकाग्रस्थित)... हैं, वे **सिद्धभगवान अब...** (जो) ऊपर है वह सिद्धभगवान अब... अरिहन्त थे तब तक प्रत्यक्ष वन्दन के योग्य थे। अब प्रत्यक्ष स्तवन के योग्य नहीं रहे। समवसरण में थे, तब तक तो ऐसे भगवान विराजते थे, इसलिए प्रत्यक्ष स्तवन आदि था। **सिद्ध भगवान अब देवों और विद्याधरों के प्रत्यक्ष स्तवन का विषय नहीं ही हैं, ऐसा प्रसिद्ध है।** वे तो ऊपर—लोकाग्र में गये। यहाँ कहते हैं, देवों और विद्याधरों को प्रत्यक्ष वन्दन के योग्य रहे नहीं। परोक्ष हैं। **वे देवाधिदेव...** लो, उन सिद्ध को देवाधिदेव कहा। **व्यवहार से लोक के अग्र में सुस्थित हैं...** लोक के अग्र में हैं, वह परक्षेत्र है, इसलिए उन्हें व्यवहार से 'वहाँ हैं' ऐसा कहा जाता है।

और निश्चय से निज आत्मा में... अपना आनन्द और ज्ञानादि स्वभाव में स्थित हैं। स्वयं अपने क्षेत्र में, अपने भाव में स्थित हैं। परक्षेत्र में है, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। आहाहा! **निश्चय से...** तो वे सिद्ध भगवान **निज आत्मा में**—अपने आत्मा में **ज्यों के त्यों अत्यन्त अविचलरूप से रहते हैं।** चलित बिना—अस्थिर हुए बिना, ऐसा स्वरूप है उनका, उस प्रमाण रहते हैं। अपने स्वरूप में अविचलरूप से रहते हैं, उन्हें सिद्ध भगवान कहते हैं। कहो, समझ में आया? ऐसे सिद्ध होते हैं। २९५ (कलश)।

पंच-संसार-निर्मुक्तान् पंच-संसार-मुक्तये।
पंचसिद्धानहं वन्दे पंचमोक्षफलप्रदान्॥२९५॥

श्लोकार्थः—(द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव—ऐसे पाँच परावर्तनरूप)...

जगत के पदार्थों में एक परमाणु से लेकर अनन्त (परमाणु) उनके सम्बन्ध में अनन्त बार आना, ऐसा (द्रव्य) परावर्तन। ऐसे क्षेत्र में, काल में, भव और भाव—ऐसे पाँच परावर्तनरूप **पाँच प्रकार के संसार से मुक्त,...** है। भगवान सिद्ध तो ऐसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव, ऐसे पाँच परावर्तनरूप संसार से मुक्त हैं। **पाँच प्रकार के मोक्षरूपी फल को देनेवाले...** है। पाँच प्रकार के मोक्षरूपी फल को **(अर्थात् द्रव्यपरावर्तन, क्षेत्रपरावर्तन, कालपरावर्तन, भवपरावर्तन और भावपरावर्तन से मुक्त करनेवाले),...** मुक्त करनेवाले हैं। मुक्त करनेवाले। मुक्त हैं या मुक्त करनेवाले हैं पर को? '**पंचसंसारमुक्तये**' ऐसा है। '**पंचमोक्षफलप्रदान्**' है। '**पंचमोक्षफलप्रदान्**' स्वयं प्राप्त है और निमित्तरूप से पाँच प्रकार के संसार से रहित होने में मुक्त करनेवाले हैं। लो, सिद्ध भगवान मुक्त करनेवाले हैं।

वह तो निमित्त से वाणी है। जो कोई सिद्धस्वरूप को अपने समान जाने, उनके समान अपने को जाने, उसे पाँच परावर्तन का नाश होकर मुक्ति होती है, इसलिए सिद्ध देनेवाले, ऐसा कहा जाता है। व्यवहार की कथनी ऐसी होती है न, दूसरी क्या हो? **पाँच प्रकार सिद्धों को...** लो, यह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रहित हुए, ऐसे पाँच प्रकार के सिद्ध। **(अर्थात् पाँच प्रकार की मुक्ति को—सिद्धि को—प्राप्त सिद्धभगवन्तों को) मैं...** मुनि कहते हैं कि सभी पाँच प्रकार के संसार से मुक्त होने के लिये मैं वन्दन करता हूँ। **पाँच प्रकार के संसार से मुक्त होने के लिए वन्दन करता हूँ।** सिद्ध को वन्दन करता हूँ, यह विकल्प है, परन्तु मेरा आशय अन्दर दूसरा है। मुक्त होने के लिये मुझे विकल्प रहा, परन्तु वन्दन का आदर तो मेरे स्वभाव की ओर का है। समझ में आया? ऐसी पाँच प्रकार—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव से मुक्ति होने के लिये वन्दन करता हूँ। उसमें तो कोई स्वर्ग चाहिए है, ऐसा नहीं। व्यवहार के कथन तो ऐसे ही होते हैं।

लो, भगवान को वन्दन करता हूँ, वह भगवान के होने के लिये वन्दन करता हूँ, ऐसा कहते हैं। उसमें फिर पुण्य होगा, स्वर्ग मिलेगा—इसके लिये नहीं। कहो, समझ में आया? 'तद्गुणलब्धये' आता है न? तद्गुणलब्धये...

मुमुक्षु : वंदे तद्गुणलब्धये।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह । इसमें से निकालते हैं वे लोग। यह ... आया है वहाँ

से। दलील यह रही। यह पाठ में रही। 'तद्गुणलब्धये' हे प्रभु! परमात्मा! आपके गुण की प्राप्ति के लिये आपको वन्दन करता हूँ। विकल्प, परद्रव्य को वन्दन करने का विकल्प हो, उससे गुण की प्राप्ति कैसे हो? 'तद्गुणलब्धये...' तुम्हारे गुणलब्धि के लिये चरणवन्दन करता हूँ। हाँ, प्राप्ति के लिये। विकल्प ऐसा भगवान को वन्दन करूँ उसमें से।

एक प्रश्न आया था एक पण्डित का। उस ओर से प्रश्न आया था। देखो! उसमें ऐसा है। दलील करे, क्या काम आवे? वह तो व्यवहार की बात है। आगे तो ऐसा ही कहे न कि प्रभु! आपसे मुझे प्राप्त हुआ। ऐसा ही कहे। तब ऐसा कहे कि मुझे मुझसे हुआ? विनय की भाषा कैसी होती है? समझ में आया? आप न होते तो मैं भटक मरता। आपके कारण तो हमारा संसार (मिटा) ऐसी ही भाषा बोली जाती है न! विनय की शैली... उसके कारण से है या आत्मा के कारण से है? समझ में आया? **पाँच प्रकार के संसार से मुक्त होने के लिए वन्दन करता हूँ।** मेरा आदर गुण का है। उस गुण के आदर में मुझे गुण की पूर्ण प्राप्ति हो (और) पाँच प्रकार के संसार से मुक्त होऊँ। भाषा तो ऐसी ही होगी न! गाथा १७७।

जाइजरमरणरहियं परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं।
णाणाइचउसहावं अक्खयमविणासमच्छेयं॥१७७॥

विन कर्म, परम, विशुद्ध जन्म, जरा, मरण से हीन है।
ज्ञानादि चार स्वभावमय अक्षय अछेद, अछीन है॥१७७॥

यह कारणपरमात्मा की व्याख्या है। पहली गयी, वह सिद्ध की—कार्यपरमात्मा की व्याख्या थी। समझ में आया? **टीका : (जिसका सम्पूर्ण आश्रय करने से सिद्ध हुआ जाता है, ऐसे) कारणपरमतत्त्व...** कारणपरमतत्त्व—त्रिकाली ज्ञायकभाव—द्रव्यस्वभाव कारणपरमात्मा—ध्रुव कारणजीव के **स्वरूप का यह कथन है। सम्पूर्ण आश्रय करने से...** अपना भगवान, उसका सम्पूर्ण आश्रय करने से... अल्प आश्रय करने से सम्यक्त्व होता है, विशेष आश्रय करने से चारित्र होता है, सम्पूर्ण आश्रय करने से सिद्ध होता है। समझ में आया? लो, इसमें तो कुछ नहीं आया वापस। बदल डाला। पर का आश्रय करने से होता है, ऐसा नहीं आया। ...

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : किस प्रकार से ? इससे विरुद्ध आया ? निमित्त के कथन हों तो ऐसा ही बोला जाता है न कि निमित्त से हुआ।

वह कहता था नेमीचन्दभाई, नहीं ? जूनागढ़। हम तो यह भगवान की भक्ति वीतरागता के लिये करते हैं, हमें कहीं राग-बाग चाहिए नहीं। परन्तु भगवान की भक्ति स्वयं ही राग है। परमात्मा त्रिलोकनाथ की भक्ति करना, वह तो शुभराग, पुण्य है, वह कहीं धर्म नहीं। स्वभाव का निश्चय भान और अनुभव हो तो उस पुण्य को व्यवहारधर्म कहा जाता है। धर्म का वह स्वरूप नहीं। वे कहते थे। बहुत चर्चा चली थी (संवत्) १९९५ में। ९५। श्वेताम्बर के प्रमुख हैं। गिरनार, जूनागढ़। नेमिचन्दभाई, दीपचन्दभाई के भाई। बहुत चर्चा (हुई)। हमारे तो भगवान की भक्ति में से मुक्ति चाहिए है, हमारे कहीं राग-बाग चाहिए नहीं। परन्तु भगवान की भक्ति स्वयं ही राग है। राग में से मुक्ति कहाँ से मिलती थी ? कठिन काम है। समझ में आया ?

परद्रव्य की भक्ति में वीतरागता हो सकती ही नहीं। स्वद्रव्य के आश्रय से भक्ति करे तो वीतरागता होती है। लोगों को तत्त्व की खबर नहीं होती, इसलिए बेचारे... भगवान की भक्ति, उसमें भगवान हो जायेंगे। भगवान हमको मुक्ति देंगे, हम तो उनके दर्शन करते हैं। अत्यन्त मिथ्याश्रद्धा है। समझ में आया ? यहाँ आत्मा जो है अन्दर अखण्डानन्द प्रभु पूर्ण ज्ञायकभाव कारणतत्त्व, उसका आश्रय करने से मुक्ति होती है। उसका आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है, सम्पूर्ण आश्रय करने से मुक्ति होती है। कहो, समझ में आया ? **जिसका सम्पूर्ण आश्रय करने से...** स्पष्ट टीका है न इसमें। ... टीका है। **सिद्ध हुआ जाता है,...** टीका में स्पष्ट बात की है। कारणप्रभु की ही बात है। **कारणपरमतत्त्व के स्वरूप का यह कथन है।**

(कारणपरमतत्त्व ऐसा है: —) कारणपरमात्मतत्त्व यह आत्मा कारणरूप वह मोक्ष के कार्य का कारण है। सम्यग्दर्शन-चारित्ररूपी कार्य का कारण है, ऐसा जो त्रिकाली ज्ञायकभाव, उसे यहाँ कारणपरमात्मा कहा जाता है। आहाहा! जिसमें ज्ञान और आनन्द परिपूर्ण भरे हैं, ऐसा जो भगवान कारणपरमात्मा अपना स्वरूप, उसका आश्रय करने से जघन्यदशा से लेकर सिद्धदशा उत्पन्न होती है। तीन लोक के नाथ

तीर्थंकर का आश्रय करने से भी सम्यग्दर्शन होता नहीं। क्योंकि वे तो परद्रव्य हैं। परद्रव्य का आश्रय करने जाये तो राग होता है। समझ में आया? होवे सही व्यवहार, परन्तु वह निश्चय का कारण है, ऐसा नहीं। गजब बात यह!

कारणपरमात्मा आनन्द से भरपूर, स्वभाव से भरपूर पदार्थ अपना निज आत्मा **निसर्ग से (स्वभाव से) संसार का अभाव होने के कारण...** यह कारणपरमात्मा में स्वभाव से संसार का अभाव है, उसमें संसार है नहीं। कारणपरमात्मा अपना द्रव्यस्वभाव अनादि-अनन्त अविनाशी कारणतत्त्व आत्मा, उसमें निसर्ग से—स्वभाव से संसार का अभाव है। सहजस्वभाव ही उसका है कि उसमें संसार नहीं। **जन्म-जरा-मरण रहित है;...** भगवान आत्मा कारणप्रभु, अविनाशी कारण-आत्मा, वह जन्म-जरा-मरणरहित है। उसे जन्मना नहीं, मरना नहीं और जरा भी नहीं।

परम-पारिणामिकभाव द्वारा... लो! यह तो परमपारिणामिकभाववाला भगवान यह कारणपरमात्मा है। इसमें तो उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभाव भी नहीं। आहाहा! गजब सूक्ष्म। समझ में आया? **परम-पारिणामिकभाव द्वारा...** अन्तर के सहज अविनाशी स्वभाव के भाव द्वारा **परमस्वभाववाला होने के कारण परम है;...** ऐसे स्वभाव द्वारा परमस्वभाव... वह तो परमस्वभाव है। केवलज्ञान और केवलदर्शन की पर्याय से भी यह परमस्वभाव तो भिन्न है। समझ में आया? **परमस्वभाववाला होने के कारण...** क्या कहा? **परम-पारिणामिकभाव द्वारा परमस्वभाववाला होने के कारण...** ऐसा। परमपारिणामिक सहजस्वभावभाव अविनाशी ऐसे भाव द्वारा परमस्वभाववाला वह कारणपरमात्मा होने से वह परम है। आहाहा! कहो, समझ में आया?

यह सिद्ध की दशा से भी वह परम (भाव) भिन्न है। सिद्ध की दशा तो एक समय का अंश है, वह तो क्षायिकभाव है। यह तो परमस्वभाववाला परमतत्त्व है। जिसमें ऐसे अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त सिद्ध की पर्याय का समूहरूप त्रिकाल गुण भरा है। सहजपारिणामिकस्वभाव... कहो, समझ में आया? ऐसा परमतत्त्व है, उसका आश्रय करे तो धर्म हो। बाकी तीन काल में भी दूसरे प्रकार से धर्म होता नहीं। भारी (कठिन) जगत को। अपने परमात्मा का स्वभाव परिपूर्ण है, वही परमतत्त्व है, परमपारिणामिक-स्वभावभाव के कारण परमस्वभाववाला होने से परम है... परमस्वभाववाला होने से

परम है। सिद्ध की पर्याय भी परमस्वभाववाली नहीं। आहाहा! ऐसा अन्दर कारणपरमात्मा परमपारिणामिकस्वभाववाला होने से परम है, उसे अन्तर दृष्टि में लेने से सम्यग्दर्शन होता है, उसका पूर्ण आश्रय करने से सिद्ध होता है। कहो, समझ में आया?

स्वयं महान है, उसके बदले वह कहाँ है और कैसे है—उसकी इसे खबर नहीं। कहो! समझ में आया? स्वयं महान परमस्वभाव सहजभाव... सहजस्वभाव, वस्तु का सहज स्वभाव परमभाव, वह स्वभाव से परमतत्त्व है, उसकी महिमा की तो इसे खबर नहीं और यह सब बाहर की सब बातें—दया, दान, व्रत, भक्ति और पूजा, ये सब विकल्प कि जो उसमें नहीं। और उसके आश्रय बिना ये टलते नहीं। टालने के लिये भी उसका आश्रय हो तो टलते हैं। समझ में आया? ऐसा परमतत्त्व—परम सत् का सत्त्व परमपारिणामिकभाव जिसे यहाँ दूसरे तत्त्व से परम कहा गया है। आहाहा!

तीनों काल निरुपाधि-स्वरूपवाला होने के कारण आठ कर्म रहित है;... भगवान आत्मा कारणवस्तु ध्रुव नित्यानन्दप्रभु तीनों काल कर्मरहित है वह तो। पर्याय में कर्म के निमित्त का सम्बन्ध है। वस्तु में तो है नहीं। आहाहा! **तीनों काल निरुपाधि-स्वरूपवाला...** उपाधि बिना का वह तो स्वरूप है। भगवान सत्त्व अकेला ज्ञान का भाव, आनन्द का भाव, शान्ति-वीतरागतावाला भाव, ऐसा त्रिकाली परमस्वभाव निरुपाधि है। इस कारण आठ कर्मरहित है। वह कारणपरमात्मा आठ कर्मरहित है। लो, यह कारणपरमात्मा की व्याख्या चलती है। क्या प्रश्न आया था न रात्रि में? कारणपरमात्मा, कारणपर्याय और कार्यपरमात्मा। कहा न, यह कहा न! यह कारणपर्याय कही न! यह न समझे। यही कहा। यही शब्द है। कारणपरमात्मा, कारणपर्याय और कार्यपरमात्मा—ऐसे तीन बोल इसमें आये... यह कारणपरमात्मा की व्याख्या चलती है। जिसकी पर्याय में उत्पाद-व्यय बिना की जो शुद्ध कारणपर्याय है, वह तो ध्रुव है। समझ में आया?

कारणप्रभु त्रिकाल निरुपाधि—उपाधिरहित और उसकी कारणपर्याय भी त्रिकाल उपाधिरहित। समझ में आया? और स्वयं कारण द्रव्यस्वभाव और कारणपर्याय—दोनों उत्पाद-व्ययरहित। ऐसा यह आत्मा सुना नहीं। यह तो आत्मा एकेन्द्रिया, दोइन्द्रिया, तीन्द्रिया, चौइन्द्रिया, पंचेन्द्रिया। ऐ शिवलालभाई! अभिहया, वत्तिया, लेसिया... मिच्छामि दुक्कडम्, जाओ। जीवियाओ, ववरोविया... आहाहा! परन्तु यह जीवियाओ, ववरोविया...

ऐसा आत्मा त्रिकाल है, उसे तो तू मानता नहीं और जीवियाओ, ववरोविया तूने कर डाला है तेरा। ऐ भीमजीभाई!

ऐसा कारणप्रभु त्रिकाल आनन्दकन्द प्रभु, मुक्तस्वरूप, ध्रुवतत्त्व आत्मा का तो स्वीकार नहीं और ऐसे एक पर्याय का और राग का स्वीकार है। उसका नकार किया। तू ऐसा है? कि नहीं। मैं तो ऐसा हूँ—रागवाला हूँ, पुण्यवाला हूँ, एक समय की पर्यायवाला हूँ। ऐसा जो जीवत्व उसका जीवन जीवितेश... लो आया था न जीवितेश? आहाहा! उसके टिकने का ईश्वर स्वयं त्रिकालतत्त्व... अरूपी परन्तु वस्तु है न! आहाहा! और वह वस्तु है, वह अनन्त-अनन्त बेहद सहज परमस्वभावभाववाला तत्त्व है। आहाहा! समझ में आया? यह सिद्ध की व्याख्या आयी। अब तो सिद्ध की आयेगी १७८ से। यह बीच में कारणपरमात्मा की बात डाली है। आहाहा!

द्रव्यकर्म और भावकर्म रहित होने के कारण... भगवान कारणप्रभु ध्रुवतत्त्व, ज्ञायकभाव, परमपारिणामिक अर्थात् सहजभावस्वरूप को द्रव्यकर्म और भावकर्म नहीं। उसमें अकेले आठ जड़कर्म डाले थे। यह दोनों डाले। **द्रव्यकर्म और भावकर्म रहित होने के कारण...** उसे शुद्ध कहा जाता है। है न? '**कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं**' भगवान आत्मा त्रिकाली का स्वरूप, वह तो आठ कर्म और भावकर्म रहित **शुद्ध है।** अत्यन्त शुद्ध... शुद्ध... शुद्ध... अनादि का शुद्ध है। समझ में आया? **सहजज्ञान...** स्पष्टीकरण किया। वह पारिणामिकभाव समुच्चय कहा था न! **पारिणामिकभाव द्वारा परमस्वभाववाला...** अब कैसा उसका स्वभाव है? **सहजज्ञान।** वस्तु का स्वभाव स्वाभाविक त्रिकाल ज्ञान, ऐसे ज्ञानस्वभाववाला वह परमतत्त्व है। स्वाभाविकज्ञान... केवलज्ञान की यहाँ बात नहीं। समझ में आया? केवलज्ञान तो एक समय की पर्याय है। यह तो त्रिकाली सहज ज्ञान गुण... गुण। आहाहा!

अरे! ऐसा भगवान, उसका इसे माहात्म्य नहीं आया और दुनिया का सब माहात्म्य। लड़का अच्छा पके तो प्रसन्न, विवाह अच्छा हो तो प्रसन्न, पैसे पाँच-पच्चीस लाख हों तो प्रसन्न। धूल... धूल... धूल। यह परमात्मा स्वयं ऐसा हो, उसकी तो इसे खबर नहीं। आहाहा! मोहनभाई! पैसे कुछ पाँच-पच्चीस लाख मिले और लड़का अच्छा हो। धूल भी नहीं, मर गया..., सुन न! जीवित ज्योति का तो तू अनादर करता है।

आहाहा! ऐसा परमात्मा तू स्वयं अविनाशी शक्ति के सत्त्वरूप—रसरूप—भावरूप—स्वभावभावरूप, उसकी तो तुझे श्रद्धा नहीं, उसका तुझे आश्रय नहीं। समझ में आया?

यहाँ तो देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, वह भी विकल्प-राग है, वह कहीं समकित नहीं। सम्यक्त्व तो त्रिकाली परमस्वभावभाव की अन्तर रुचि करना, अनुभव... उसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा! समझ में आया? सम्प्रदाय में तो हाथ ऐसा नहीं कहीं। चिमनलालभाई! लो आये हैं। अब स्वीकार करते जाते हैं। आहाहा! बड़ा वर... भगवान वर छोड़कर बारात जोड़ दी। कौन है वह त्रिकाली? एक समय की पर्याय भी नहीं। सिद्ध की पर्याय से रहित वह है। आहाहा! समझ में आया? वस्तु है न! वस्तु है तो उसका वस्तु का जितना त्रिकालभाव, वही उसका स्वभावभाव है। वह स्वभाववाला तत्त्व, उसे यहाँ कारणपरमात्मा अथवा कारणतत्त्व कहा है। आहाहा! ऐसी चीज़ का विश्वास, ऐसा है उसका विश्वास (आया तो) सबसे विश्वास उड़ गया। पर्याय और राग का विश्वास उड़ गया। 'ऐसा मैं हूँ'—ऐसा जो विश्वास, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

स्वाभाविक ज्ञान... निसर्ग से—स्वभाव से संसार का अभाव है, परन्तु अब भाव क्या? समझ में आया? **सहजज्ञान...** त्रिकाली परमस्वभावभावरूप सहजज्ञान, **सहजदर्शन, सहजचारित्र...** स्वाभाविक दर्शन-त्रिकाली दर्शन, त्रिकाली सहजदर्शनरूप स्वभावभाव, वह कारणपरमात्मा। ऐसे चार स्वभाववाला है, ऐसा कहना है। **सहजचारित्र...** चारित्र -वीतरागीदशा प्रगट हो, वह यह नहीं। त्रिकाली सहजचारित्र वीतरागभाव। आत्मा में—कारणपरमात्मा में स्वाभाविक चारित्र अर्थात् स्वाभाविक वीतरागता, स्वाभाविक वीतरागता, वह उसका पूरा स्वरूप है। आहाहा! **और सहजचित्शक्ति...** ज्ञान की शक्ति का वीर्य। स्वाभाविक **चित्शक्तिमय होने के कारण...** उसकी तो स्वाभाविक ज्ञान के सामर्थ्यरूप शक्ति है। आहाहा! उसकी शक्ति स्वभावचित्शक्तिरूप शक्ति है। त्रिकाल... त्रिकाल शक्ति उसकी है। आहाहा!

ऐसा **होने से**—ऐसे के कारण **ज्ञानादिक चार स्वभाववाला...** तत्त्व **है...** कारणपरमात्मा ध्रुवभाववाला तत्त्व ऐसे स्वभाववाला है। आहाहा! केवलज्ञान की एक समय की पर्याय भी जहाँ अतुल और अमाप है, तो यह तो गुण है त्रिकाली स्वभाव।

उसकी शक्ति, उसका सामर्थ्य, उसका बल और उसका सत्त्व अपार... अपार... अपार। ऐसे अपार सत्त्ववाला वह तत्त्व है। लो, आत्मा यह। वह कहे न, जीव किसे कहना? कि हिले-चले, उसे जीव कहना। जीवविचार आवे न जीवविचार? जीवविचार आता है श्वेताम्बर में। छह काय के बोल... जीवविचार। जीव किसे कहना? हिले-चले उसे जीव कहना। एक जगह से दूसरे जगह परमाणु हिलता-चलता है और एक जगह से दूसरी जगह जाता है। एयरोप्लेन जाता है अपने आप। यह तो भगवान आत्मा जीव उसे कहना कि स्वाभाविक ज्ञान, दर्शन, आनन्द और वीर्य से भरपूर स्वभाववाला पदार्थ, उसे यहाँ आत्मा कहना। किसी का कर दे और किसी को मदद करे, किसी से मदद ले—वह आत्मा नहीं। आहाहा! कठिन बात भाई!

यह **चार स्वभाववाला...** अनन्त चतुष्टय लिये त्रिकाल। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त वीर्य—ऐसे अनन्त चतुष्टय के स्वभाववाला त्रिकाल कारणपरमात्मा, जिसकी खान में ऐसा अनन्त भरा है। आहाहा! उसका आश्रय लेने से धर्म होता है। समझ में आया? 'काल में-दुष्काल में' कहे न सेठिया को। देखो! यह काल ऐसा आया है, तुम्हारे सहारे हमें निभना है। निभाना, काल-दुष्काल है। इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि यह संसार के भाव से निभाना। कौन? यह आत्मा। आहाहा! संसार की आपदा चार गति की, उससे अभाव करने का स्वभाव, उस आपदा को टालने का स्वभाव तो आत्मा है। तू महालक्ष्मीवन्त है, प्रभु! काल-दुष्काल में हमारा सहन करना, ऐसा कहते हैं न! सेठिया को कहे। ऐ पोपटभाई! ... सहायता करूँगा अनाज की, फलानी, ढींकणी। यह तो तीन काल, तीन लोक में जो पराधीनता है, वह सब मिटाने में समर्थ, वह भगवान आत्मा अकेला है। समझ में आया? यह क्या परन्तु ऐसा?

कारणपरमात्मा का तो सम्प्रदाय में नाम भी सुना नहीं था, नहीं? नियमसार में तो दिगम्बर सन्तों ने तो गजब काम किया है! केवलज्ञान का पेट (अभिप्राय) खोला है! आहाहा! वीतराग का धर्म जैनदर्शन कहो, विश्वदर्शन कहो, वह तो विश्व का स्वरूप है। वह सन्तों ने—दिगम्बर सन्तों ने धार रखा है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र बात कहीं ऐसी है ही नहीं। समझ में आया? आहाहा! तू कौन है? ऐसा है, यह बात कहाँ है अन्यत्र कहीं? समझ में आया? ऐसा है, ... रहित और अक्षय कहते हैं। यह **सादि-सांत...** यह

शरीर है न, मिलता है, वह शुरुआत और फिर अन्त आ जाता है। **मूर्त** है। **इन्द्रियात्मक विजातीय...** इन्द्रियात्मक विजातीय **विभावव्यंजनपर्याय...** है शरीर की। विभावव्यंजन-पर्याय **रहित होने के कारण अक्षय है...** यह शरीररहित होना है, ऐसा है नहीं। यह अक्षय ही है। आहाहा! जिसमें शरीर की और उसकी आकृति की विभावव्यंजनपर्याय उसमें नहीं।

प्रशस्त-अप्रशस्त गति के हेतुभूत पुण्य-पापकर्मरूप द्वन्द्व का अभाव होने के कारण... लो, सब शब्द हैं, इनके हैं। '**अक्खयमविणासमच्छेयं**' कैसा है भगवान आत्मा त्रिकाली? उसका ध्रुवतत्त्व परमभाववाला? कि जो प्रशस्त-अप्रशस्त गति... देव और मनुष्य प्रशस्त कहलाते हैं, नारकी और ढोर अप्रशस्त कहलाते हैं। ऐसे **गति के हेतुभूत पुण्य-पापकर्मरूप...** यह पुण्य और पाप के द्वन्द्व का अभाव है। उस पुण्य-पाप के द्वन्द्वरहित तत्त्व अन्दर है। समझ में आया? उसके कारण **अविनाशी है; वध, बन्ध और छेदन के योग्य मूर्ति से (मूर्तिकता से) रहित होने के कारण...** लो। आहाहा! '**अच्छेयं**' है न? **वध, बन्ध और छेदन के योग्य...** बध भी नहीं, उसमें सर्वत्र नहीं और छेद के योग्य मूर्तिकता से रहित है। **(मूर्तिकता से) रहित होने के कारण अच्छेद्य है।** अछेद्य और भेद और ऐसे शब्द गीता में आते हैं। ऐसा तत्त्व हो उसे अछेद्य और अभेद कहते हैं। समझ में आया? 'अच्छेद्य' शब्द आता है न उसमें (-गीता में)? छिदता नहीं, भिंदता नहीं, यह भाषा है।

यहाँ तो कहते हैं कि भगवान कारणपरमात्मा त्रिकाली ध्रुव परमस्वभाव, उसे वध नहीं—घात नहीं, बन्ध नहीं और छेद नहीं। ऐसी की ऐसी अच्छेद्य वस्तु है। कहो, समझ में आया? हीरा के स्तम्भ भी छिंद जाते हैं। देखो न! ऐसे तलवार रखे स्वयं सरकार... कैसे? चक्रवर्ती। एक तलवार की हजार देव (सेवा करे)। ऐसे ककड़ी काटे वैसे हीरा के स्तम्भ काट डाले एकदम। हीरा के स्तम्भ, हों! उन स्तम्भों की जाति है न वहाँ? मूडबिद्री। मूडबिद्री। १९४ है। मकान सब पुरान हो गये हैं जीर्ण। उनके स्तम्भ ऐसे बड़े मजबूत हैं। पहले के राजकुटुम्ब कहलाते हैं। वहाँ गये थे। स्तम्भ... यह तो हीरा के स्तम्भ। तलवार हाथ में ऐसे करे, ककड़ी चीरे वैसे चीर डाले। यह आत्मा कटता नहीं, छिंदता नहीं, ऐसा आत्मा है। आहाहा! यह आत्मा त्रिकाली ध्रुव आत्मा की

बात है। एक समय की पर्याय का पलटना, वह भिन्न चीज़ है। इसके अतिरिक्त त्रिकाली चीज़ ऐसा आत्मा है, उसका यह वर्णन है। समझ में आया? ओहोहो!

[अब, इस १७७वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:—]

ऐसा सर्वज्ञ ने देखा, ऐसा देखा भगवान ने। ध्रुव आत्मा को परमात्मा ने ऐसा देखा। ऐसा जो देखे और माने, वह परमात्मा को माननेवाला कहा जाता है। कहो, समझ में आया? वह अल्प काल में पर्याय में परमात्मा हो जायेगा। परमात्मा का आश्रय लिया, वह परमात्मा हुए बिना नहीं रहेगा। परन्तु इसमें धर्म क्या? कुछ करना, यह दया पालना, व्रत पालना, अपवास करना, वह तो कुछ आया नहीं इसमें। वह तो सब विकल्प है। उसकी बात भी कहाँ है? वह विकल्प तो उसकी निर्मल पर्याय में भी नहीं, तो द्रव्य में तो कहाँ से होगा? आहाहा! समझ में आया?

ऐसा आत्मा सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ के अतिरिक्त किसी ने इस प्रकार से जाना नहीं, किसी ने इस प्रकार से कहा भी नहीं।... कहाँ जाना है? समझ में आया? कहो, समझ में आया इसमें? श्वेताम्बर में भी यह बात आयी नहीं। आहाहा! अनादि सनातन जैनदर्शन—दिगम्बर दर्शन के अन्दर यह बात है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहते हैं न वह तो। सब कल्पित है। उत्तराध्ययन भी कल्पित बनाया हुआ है। भगवान की वाणी तो इन सन्तों ने रखी दिगम्बर में, वह वाणी है। मार्ग तो यह है, बापू! किसी को बुरा लगाने के लिये कुछ नहीं। वस्तु का स्वभाव है। आहाहा! समझ में आया? उत्तराध्ययन में आता है न! अन्त में ऐसा (आता है) कि भगवान की देशना... खोटी बात है, एकदम खोटी बात है। उसमें तो वस्त्र रखना, ऐसा करना, वैसा करना—ऐसा तो उत्तराध्ययन में है। खोटी बात है, सब कल्पना है। जिनेश्वरदेव ने तो ऐसा आत्मा कहा है। उसका आश्रय करके जिसे सम्यग्दर्शन हो, वह दूसरे को नहीं मानता। और उसका आश्रय करके जिसे चारित्र हो, उसकी दशा बाह्य में नग्न हो जाती है और अट्ठाईस मूलगुण का विकल्प व्यवहार से होता है, उसे हेयरूप से जानता है। आहाहा! कठिन बात! समझ में आया?

उत्तराध्ययन में बहुत सब फेरफार है। शिष्य... चर्चा आती है न?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : झूठी, झूठी। अन्तिम देशना कहाँ थी? ध्यान में... वाणी बन्द हो गयी। वह सब बहुत फेरफार है। अभी तो किसी के साथ में वाद-विवाद करने जैसा नहीं है। वस्तुस्वरूप यह है। ऐसी बात है।

एक व्याख्या तो देखो यह! परमस्वभाववाला यह तत्त्व, वह चार स्वभाववाला परमभाव है। आहाहा! त्रिकाल अनन्त चतुष्टय जिसमें पड़ा है ध्रुव अविनाशीरूप से। जिसे अनन्त चतुष्टय प्रगट करना हो, उसे यह अनन्त चतुष्टय का आश्रय लेना चाहिए। दूसरी कोई क्रिया ऐसी है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऊपर कहा न, उसका आश्रय करने से... अर्थात् रागादि बीच में आवे, उसका आश्रय नहीं और वह वस्तु कोई कारण नहीं। व्यवहार होता अवश्य है बीच में, परन्तु वह कहीं कारण नहीं है, वह तो बन्ध का कारण है। समझ में आया? देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, पूजा का विकल्प हो, परन्तु वह बन्ध का कारण है। व्यवहार पराश्रित बन्ध का कारण है, स्वाश्रित, वह मुक्ति का कारण है। ऐसा मार्ग त्रिकाल है। मानना—न मानना वह जगत को स्वाधीन है। २९६ (कलश)।

अविचलित-मखण्ड-ज्ञानमद्वन्द्वनिष्ठं,
निखिल-दुरित-दुर्गव्रातदावाग्निरूपम्।
भज भजसि निजोत्थं दिव्यशर्मामृतं त्वं,
सकल-विमलबोधस्ते भवत्येव तस्मात्॥२९६॥

दुरस्तर... ठीक! ... डाला जलाने के लिये। **'दुर्गत' श्लोकार्थः—अविचल, अखण्डज्ञानरूप,...** कैसा है भगवान आत्मा? चलित नहीं, ऐसा अखण्डज्ञानरूप... अखण्डज्ञानरूप एकरूप है। त्रिकाल... त्रिकाल अद्वंद्व अर्थात् द्वंद्व रहित। **अद्वन्द्वनिष्ठ (राग-द्वेषादि द्वन्द्व में जो स्थित नहीं है) और समस्त पाप के दुस्तर समूह को जलाने में...** समस्त पुण्य-पाप के दुस्तर समूह को... **दावानल समान—स्वोत्पन्न (अपने से उत्पन्न होनेवाले) दिव्यसुखामृत को...** दिव्य आनन्द के अमृत को... ऐसे दिव्य सुखामृत

को अर्थात् (-**दिव्यसुखामृतस्वभावी आत्मतत्त्व को**)... आहाहा! देखो! स्वयं (कहते हैं)। **कि जिसे तू भज रहा है उसे—भज;...** भगवान पूर्णानन्द स्वभाव उसे तू एकाग्र होकर भज रहा है, उसे भज। भगवान के भजन-बजन, वह सब विकल्प है। कहो, समझ में आया? आहाहा!

लो, यह 'भज' कहते हैं। भज रहा है, उसे भज। पूर्णानन्द का नाथ सहजानन्दमूर्ति प्रभु को तू भज रहा है, उसमें तेरा झुकाव वहाँ ही है, उसे भज। आहाहा! व्यवहार और निमित्त को न भज। कहो, समझ में आया? ऐसा मार्ग पहले से कठिन है। मार्ग ही ऐसा है, भगवान! तू बड़ा है और तेरा मार्ग भी इतना ही बड़ा है। आहाहा! स्वयं मुनिराज दिगम्बर सन्त हैं वनवासी पद्मप्रभमलधारिदेव। आहाहा! अब उन्हें वे खोटा ठहराते हैं। ऐसे दृष्टान्त क्यों निश्चय के दिये न... परन्तु यहाँ कहते हैं, भज रहा है, उसे बीच में आवे विकल्प... उसकी शैली यह है। मेरा भजन, आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसका भजन है।

दिव्यसुखामृत से भरपूर... दिव्य अर्थात् आनन्द के अमृत से भरपूर भगवान पूर्णस्वरूप, ऐसे आनन्द को भजता है, अनुभव करता है, उसे ही अनुभव कर। बाकी कोई अनुभवनेयोग्य नहीं। आहाहा! स्वयं को भरोसा हो गया है कि मैं ऐसे आत्मा को भजता हूँ? आहाहा! पूर्णानन्दस्वभाव से भरपूर भगवान में ही मेरी एकाग्रता और स्वसन्मुखता है। बस ऐसे का ऐसा रख, उसका भजन कर। भजता है, उसका भजन कर... भजता है, उसका भजन कर। आहाहा! दूसरी सब बातें छोड़ दे। व्यवहार के विकल्प हों... इसका भजन करने पर वह सब छूट जाता है। समझ में आया? यहाँ तो पर्याय का भजन कर, ऐसा भी नहीं कहा। ऐसे त्रिकाली को भज। वह भजन पर्याय है, परन्तु त्रिकाली को भज। ऐई! 'भज रहा है' यह तो पर्याय हुई। त्रिकाली भगवान आनन्द का धाम अतीन्द्रिय आनन्द जिसके... जिसके एक समय के आनन्द के स्वाद के समक्ष इन्द्र के इन्द्रासन सड़े हुए तिनके, कचरे जैसा लगे। सड़ी हुई बिल्ली और कुत्ते का कलेवर हो, ऐसा उसे (लगता है)। आहाहा!

दिव्यसुखामृत... भगवान आनन्द अमृत का सागर हूँ, स्वभाव का सागर है। स्वभाव है, उसे क्षेत्र की महत्ता की कोई आवश्यकता नहीं। उसका स्वभाव बेहद—

अपरिमित है। उसे तू भजता है... आहाहा! उसका अनुभव तू करता है, उसका अनुभव कर। आहाहा! लो, यह आत्मा त्रिकाली ऐसा, उसे भजना, उसका नाम मोक्ष का मार्ग। आहाहा! समझ में आया? इसमें वाद-विवाद को स्थान ही कहाँ है? वस्तु की स्थिति ही ऐसी है वहाँ। आहाहा! इतने बड़े भगवान का विश्वास, उस विश्वास की कीमत कितनी! आहाहा! विश्वास अर्थात् सम्यग्दर्शन। ऐसा परमात्मा परमस्वभावभाव का अकेला पिण्ड प्रभु, पूर्ण सागर की श्रद्धा... उसकी श्रद्धा में कीमत कितनी उस श्रद्धा की—समकित की! आहाहा! जिसने ऐसे आत्मा को अन्दर में स्वीकार किया और अनुभव में लिया, **तुझे सकल-विमल ज्ञान (केवलज्ञान) होगा ही।**

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण ७, गुरुवार, दिनांक-०९-१२-१९७१
गाथा-१७८, श्लोक-२९७, प्रवचन-१९८

१७८ गाथा है।

अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं।
पुणरागमणविरहियं णिच्चं अचलं अणालंबं॥१७८॥

निर्बाध, अनुपम अरु अतीन्द्रिय, पुण्यपापविहीन है।
निश्चल, निरालम्बन, अमर पुनरागमन से हीन है॥१७८॥

इसकी **टीका : यहाँ भी,...** ऐसा शब्द कहकर मानो पूर्व में कहा हो, वही कहते हों, ऐसा। स्वयं ने तो उसमें पारिणामिकभाव उतारा कहा है। १७७ में आ गया न कल। यह तो सिद्ध भगवान परमात्मतत्त्व की गाथा है। वह थी कारणपरमात्मा की... यह गाथा अब सब कार्यपरमात्मा—सिद्धपरमात्मा (की है)। यह टीका में 'यहाँ भी' ऐसा शब्द है। यह इतनी सन्धि की है यहाँ। पाठ में है न '**अत्रापि**' पहले कहा '**अत्रापि**' इसका अर्थ कि मानो वहाँ कहा ऐसा ही यहाँ कहा है, ऐसा। परन्तु वह तो अपेक्षा से बराबर है। कारणपरमात्मा जो त्रिकालस्वरूप है, उसकी व्याख्या करो या कार्य की करो। जैसे कार्य में रागादि कुछ नहीं, वैसे आत्मा में भी नहीं, ऐसा लिया जाता है। वस्तु जैसी अन्दर चीज़ है, वैसी ही पर्याय प्रगट हो, तो वह वैसी ही है और उसके जैसी ही है। समझ में आया? ऐसी शैली है न इसमें? जो कार्य प्रगट हुआ सिद्ध का, उसमें जो कुछ नहीं, वैसा आत्मा के द्रव्य में भी नहीं।

बात इतनी कि आत्मद्रव्य, वह त्रिकाली परमस्वभावभाव है और सिद्ध की पर्याय क्षायिकभाव की है। कहते हैं कि **टीका : यहाँ भी, निरुपाधि स्वरूप जिसका लक्षण है, ऐसा परमात्मतत्त्व कहा है।** सिद्ध भगवान का स्वरूप। **(परमात्मतत्त्व ऐसा है:—) समस्त दुष्ट अघरूपी वीर शत्रुओं की सेना के उपद्रव को... 'वरुथी'** को धांधल कहते हैं? '**संभ्रम**' ठीक। 'धांधल' तो अपना काठियावाड़ी शब्द है। धांधल

नाम नहीं आता? धांधल करो मत, ऐसा। तूफान करो मत। तुम्हारे क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : धांधलबाजी कहते हैं हमारे।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह धांधलबाजी, ठीक। **समस्त दुष्ट अघरूपी...** दुष्ट पुण्य-पापरूपी अघ। पुण्य-पाप सर्वत्र अघ में गिने जाते हैं इसमें। पुण्य-पापरूपी जो अघ, ऐसी जो वीर सेना की धांधल। आहाहा! पुण्य-पाप के भाव वीरसेना के हैं। अनादि से धांधल है, ऐसा आता है।

ऐसे को **अगोचर...** ऐसी सेना के धांधल को अगम्य **ऐसे सहजज्ञानरूपी गढ़ में आवास होने के कारण...** सहजज्ञानरूपी किले में आवास है आत्मा का, इससे **अव्याबाध (निर्विघ्न) है;...** सिद्ध भगवान को कोई विघ्न नहीं, इसी प्रकार द्रव्य को भी कुछ विघ्न नहीं। द्रव्य भी ऐसा ही है। यहाँ तो ऐसा कहा कि सहजज्ञानरूपी किला, उसमें रहा हुआ है। ज्ञानरूपी किले में भगवान सिद्ध रहे हुए हैं। उन्हें कोई बाहर के विघ्न या बाधा-पीड़ा नहीं है। और कैसे हैं वे? ऐसा ही आत्मा है, ऐसा समझना। समझ में आया? **सर्व आत्मप्रदेश में भरे हुए चिदानन्दमयपने के कारण अतीन्द्रिय है;...** सर्व आत्मप्रदेश में (अर्थात्) असंख्य प्रदेश में, ऐसा लिया। **भरे हुए चिदानन्दमय...** ज्ञान और आनन्दमय है। सिद्ध तो असंख्य प्रदेश में अकेले ज्ञान और आनन्दमय है। यह आत्मा भी अन्दर वस्तु से असंख्य प्रदेश में अकेला ज्ञान और आनन्दमय भरपूर तत्त्व है। समझ में आया?

अतीन्द्रिय है; तीन तत्त्वों में विशिष्ट होने के कारण अनुपम है—उसे कोई उपमा नहीं। तीन में वह उत्तम है, ऐसा कहते हैं। **(बहिरात्मतत्त्व, अन्तरात्मतत्त्व और परमात्मतत्त्व इन तीनों में विशिष्ट—मुख्य प्रकार का—उत्तम होने के कारण)...** सिद्धपद, वह उत्तम तत्त्व है। इसलिए वह अनुपम है—उसे कोई उपमा नहीं। वस्तु—भगवान आत्मा भी ऐसा है। वह तो बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा की पर्याय से भी भिन्न है। ऐसा कि वास्तव में सिद्ध को ही यह सब है... गाथा में सिद्ध से ही चलता है।

संसाररूपी स्त्री के सम्भोग से उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख का अभाव होने के कारण पुण्य-पाप रहित है;... सिद्ध को आत्मा के आनन्द की उत्पत्ति है, इससे संसाररूपी स्त्री से उत्पन्न सुख-दुःख की कल्पना ऐसा जो उसमें भाव, उसका अभाव है, (इसलिए)

वह पुण्य-पाप रहित है। इसी प्रकार यह आत्मा भी संसार के राग से उत्पन्न सुख-दुःख की कल्पनारहित आत्मा है। **पुनरागमन के हेतुभूत... (चार गतियों में से किसी गति में) फिर से आना; पुनः जन्म धारण करना सो।** ऐसा जो पुनरागमन के हेतुभूत **प्रशस्त-अप्रशस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होने के कारण...** प्रशस्त और अप्रशस्त... ठीक! मोह प्रशस्त-अप्रशस्त, राग प्रशस्त-अप्रशस्त, द्वेष प्रशस्त-अप्रशस्त—तीनों ही। अपेक्षा है न। कहते हैं कि **प्रशस्त-अप्रशस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होने के कारण पुनरागमन रहित है;...** सिद्ध को वहाँ से वापस आना नहीं है।

नित्यमरण के तथा उस भव सम्बन्धी मरण के कारणभूत कलेवर के (शरीर के) सम्बन्ध का अभाव होने के कारण नित्य है;... लो, नित्य मरण है न! समय-समय में आयु... समय-समय में आयु उदय से आयुषी मरण है न! क्षण-क्षण में आयुष्य के परमाणु जाते हैं (तो) क्षण-क्षण में मृत्यु ही है। जितना आयुष्य लेकर आया है, उसमें से क्षण-क्षण में मृत्यु होती जाती है। यह नित्यमरण, इसका भी उनमें अभाव है, नित्यमरण का मूल कारण तो क्षय है, ऐसा। इसका भी उनमें अभाव है। **भव सम्बन्धी मरण के कारणभूत कलेवर के सम्बन्ध का...** आत्मा को शरीर का सम्बन्ध है ही नहीं सिद्ध को, इसलिए वे नित्य हैं।

निज गुणों और पर्यायों से च्युत न होने के कारण अचल है;... भगवान सिद्ध परमात्मा अपने निज गुण—ज्ञान, दर्शन, आनन्दादि भाव और उनकी पर्याय अनन्त केवलज्ञान आदि से च्युत नहीं होते... उसमें से कभी भ्रष्ट नहीं होते।

मुमुक्षु : त्रिकाली में यह बोल किस प्रकार चले?

पूज्य गुरुदेवश्री : त्रिकाली की यह (बात) नहीं, यहाँ तो सिद्ध की बात है। वैसे तो उनमें नहीं, वह इसमें (भी) नहीं। वह अलग बात है। त्रिकाली में तो पर्याय भी नहीं। उसका यहाँ क्या है? जितना उतरे, उतना उतरे न! यहाँ तो क्षायिक पर्याय है, इतना सिद्ध करना है न!

परद्रव्य के अवलम्बन का अभाव होने के कारण... सिद्ध भगवान को परद्रव्य का अवलम्बन नहीं है, इसलिए वे **निरालम्ब है।** इसी प्रकार आत्मा भी परद्रव्य के

आलम्बन बिना का निरालम्बी तत्त्व है। भगवान आत्मा पर के आलम्बन बिना का है।

इसी प्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में १३८वें श्लोक द्वारा) कहा है किः—

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः,
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः।
एतैतेतः पद-मिद-मिदं यत्र चैतन्य-धातुः,
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति॥

श्लोकार्थः—(श्रीगुरु संसारी भव्य जीवों को सम्बोधते हैं किः—) हे अन्ध प्राणियों! अर्थात् त्रिकाली द्रव्य को नहीं देखनेवाला। जिसे देखना (चाहिए), उसे नहीं देखनेवाला, हे अन्ध प्राणी! ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **अनादि संसार से लेकर...** एकेन्द्रिय, नित्य-निगोद से लेकर **पर्याय-पर्याय में...** समय-समय में **यह रागी जीव सदैव मत्त वर्तते हुए...** विकार में गहल बनते हुए... आहाहा! अपना निज पद आनन्द और ज्ञान है, ऐसे निज पद से अन्ध और पर में मत्त। समझ में आया? राग और द्वेष, शुभ और अशुभभाव में मत्त हुए... मत्त हुए (अर्थात्) कि वही मैं हूँ, ऐसा मानकर पागल हो गये हैं वे। समझ में आया?

रागी जीव सदैव मत्त वर्तते हुए... निरन्तर विकार में ही वर्तते हुए, पुण्य-पाप के विकल्प में ही वर्तते हुए। जो उसका स्वरूप नहीं, जो उसके स्वभाव में नहीं, उसमें— विभाव में तादात्मरूप से, ऐसा कहते हैं, विभाव में तादात्मरूप से वर्तते हुए **जिस पद में सो रहे हैं—नींद ले रहे हैं, वह पद अर्थात् स्थान अपद है—अपद है,...** वह राग का पद तेरा नहीं। उसमें निश्चिन्त सो रहा है, कहते हैं। आहाहा! राग पुण्य-पाप का विकल्प, वह तेरा पद नहीं। उसमें तू रजाई तानकर सो रहा है। (पद) नहीं उसमें सो रहा है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! वह अपद है, अपद है। वह **(तुम्हारा स्थान नहीं है,)...** व्यवहार के विकल्प जो दया, दान, व्रतादि राग, उसमें कहते हैं कि अनादि से सो रहा है। वह पद तेरा नहीं है, वह तेरा स्थान नहीं है, वह तेरा धाम नहीं है, वह तेरा गाँव नहीं है। समझ में आया? करवट बदल, ऐसा कहते हैं।

ऐसा तुम समझो। ऐसा कहा न? **(दो बार कहने से अत्यन्त करुणाभाव सूचित होता है।)** दो बार कहा न! अपद है... अपद है। आहाहा! भगवान अपना आनन्दधाम, निजज्ञानधाम ध्रुव स्वभाव को भूलकर, अकेले पुण्य-पाप के विकल्प का—विकार का—विभाव का भाव, उसमें सो रहा है, वह तेरा स्थान नहीं, तेरा पद, तेरा भाव नहीं। कहो, समझ में आया? शरीर और देश, कुटुम्ब और इज्जत तो कहीं रह गये। वे तो तेरा स्थान नहीं, वह तेरा घर नहीं, परन्तु पुण्य-पाप के भाव (भी) तेरा स्थान और तेरा घर नहीं। आहाहा! यहाँ तो भाई! घर कहते हैं न! यह मेरी घरवाली है, हमारे घरवाले हैं, ऐसा कहते हैं न? क्या करना इसमें? पुण्य-पाप के भाव, वह घरवाला, ऐसा नहीं जहाँ, (वहाँ) घरवाली, घरवाला कहाँ से आया? आहाहा! समझ में आया? वह तो परघर है। आहाहा! स्त्री, पुत्र, परिवार तो कहीं रह गये। वे तो परघर के पर के पदार्थ हैं। परन्तु इसने उसमें नहीं, ऐसे भाव खड़े करके सो रहा है, वे तेरा घर नहीं है। आहाहा!

यह करवट बदल अब, कहते हैं। पहलू बदल अब। 'करवट' समझते हो? पहलू बदल दे। समझ... समझ... यह नहीं तेरा घर। आहाहा! पुण्य के भाव, वे तेरा घर नहीं है। भाव, हों! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का विकल्प—राग वह तेरा पद नहीं। वह तो विभाव का पद है, पर का है, ऐसा तुम समझो। ऐसा आया न? दो बार कहने से करुणा है। भाई! वह तेरा घर नहीं, भाई! आहाहा! पिता कहे न, लड़का बावण और वाघरण के व्यभिचार में कुछ चढ़ गया हो। अरे भाई! यह अपना काम नहीं। तू कहाँ चढ़ गया? इसी प्रकार यह पुण्य-पाप के भाव में कहाँ चढ़ गया तू? कहते हैं। आहाहा! वह तेरा घर नहीं, वह तेरा पद नहीं, वह तेरा भाव नहीं। तेरा स्थान नहीं, वहाँ रहनेयोग्य नहीं। आहाहा!

इस ओर आओ—इस ओर आओ,... लो, ठीक! यह दिशा बदल दे। जयन्तीभाई! वह भी लड़के का कहाँ अमेरिका पढ़े,... उसे छोड़ना कैसे? वह तो छूटे हुए ही पड़े हैं। कहाँ घुस गये हैं तुझमें? तूने खड़े किये हुए पुण्य और पाप में... गया न भाई? नवरंगभाई गया... गया वह। ...हो गया। लो, इस ओर आओ, इस ओर आओ, यहाँ कहते हैं। पुण्य के प्रभाव में बस गया है तो अब हट, ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया? स्त्री, पुत्र, घर, मकान, दुकान तेरा नहीं—वह तो यहाँ कहा ही नहीं। वह तो था

ही कब? वह तो तूने यह खड़ा करके माना है, वह भी तेरा नहीं। वह तो मान्यता तेरे खाते हैं (नहीं)। यह तो मानता है कि यह है। रागरूप हूँ। यहाँ अस्तित्व है। त्रिकाली अस्तित्व—विद्यमानता की खबर नहीं तो कहीं अपना अस्तित्व तो मानेगा न? आहाहा!

मुमुक्षु : महाभाग्य से आप मिले, इसका नकार कैसे किया जाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक, प्रश्न... महाभाग्य से ऐसी विष्टा मुख में आयी, वह निकाली कैसे जाये? मैसूर की विष्टा आयी अच्छी। एक व्यक्ति को उल्टी हुई। उल्टी हुई उसमें यह विष्टा आयी। मुख में विष्टा आयी। नीचे न जाकर, उल्टी हुई वह उस अन्तड़ियां के भाग का यहाँ विष्टा आयी, अब वह कैसे निकालना?

पुण्य की बात है यहाँ तो। पुण्य का भाव है, उसे विष्टा (कहने पर) उनको कठोर लगता है। अरेरे! विष्टा कहते हैं। अरे! जहर है, सुन न अब! भगवान अमृतस्वरूप आत्मा से विरुद्धभाव राग, वह तो जहर है। जहर में बसना, वह तेरा स्थान नहीं, प्रभु! तू तो अमृत में रहनेवाला है। आहाहा! यह हंस को दाने का चारा नहीं होता, परन्तु कंकड़ का तो होता ही नहीं। हंस, वह कहीं दाना खाता होगा हंस? वह तो मोती चरता है। बापू! तू कौन है? भाई! आहाहा! देखो न! करुणा से कहा है न! आहाहा! अपद है, अपद है। यह, हों! पुण्य का संयोग-बंयोग, उसकी बात ही नहीं। भाव जो विकारी दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति भाव, वह रागभाव है, वह अपदभाव है, प्रभु! वह तेरा स्थान नहीं। आहाहा!

इस ओर आओ—इस ओर आओ,... यह ऐसे... भाई! आहाहा! बहुत संक्षिप्त। राग के विकल्प के वेग में गया है, प्रभु! वहाँ से हट तू और अन्दर चैतन्य आनन्द धातु है, चैतन्य से विराजमान भगवान है, वहाँ आ न! ऐसा कहते हैं। आहाहा! कहो, भीखाभाई! क्या है यह? आहाहा! हीराभाई जैसे लड़के, चूड़ी के व्यापारी, तीस रुपये के वेतन के सामने दस-दस हजार की आमदनी, फिर वापस होशियार चतुर। ... तेरा नहीं, ऐसा कहते हैं। वह तो नहीं, उसकी ओर के राग का भाव भी तू नहीं। वह तो नहीं, परन्तु तीन लोक के नाथ की ओर का रागभाव, वह भी तेरा पद नहीं। आहाहा!

प्रभु! तू तो तीन लोक का नाथ स्वयं तू है न! आहाहा! उसकी ओर आ जा न,

वहाँ उसके पक्ष में चढ़ न! आहाहा! बड़े के संग में जा, यह पामर के संग को छोड़ दे। **इस ओर आओ—इस ओर आओ, (यहाँ निवास करो,) तुम्हारा पद यह है—यह है,...** आहाहा! छह बोल लिये हैं। वह अपद है... अपद है—दो हुए ये। यह पद है... यह पद है। आनन्द और ज्ञान से विराजमान प्रभु तू है, वह तेरा पद है। तुम्हारा पद यह है। पूर्ण आनन्द का धाम, वह तेरा पद है, वहाँ नजर कर न! राग की नजर छोड़ न, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? है शुद्ध। लो, है न? दो बार यह आया वापस। '**शुद्धः शुद्धः**' गजब श्लोक है, हों! यह तो समयसार का कलश है। आहाहा! वहाँ तो बहुत बार वाँचन हो गया है। **यह है—यह है...** क्या यह है?

जहाँ शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु... है। आहाहा! शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु। द्रव्य से शुद्ध और भाव से भी शुद्ध ऐसी चैतन्यधातु, ज्ञानधातु स्वभावभाव ज्ञान का, आनन्द का—ऐसा जो भाव। **निज रस की अतिशयता के कारण...** वह स्वयं अपने स्वभाव की महिमा के कारण **स्थायीभावपने को प्राप्त है...** स्थिर... स्थिर... स्थायी नित्य है। कहो, समझ में आया? एक श्लोक में बस है। आहाहा! राग की, पुण्य की दृष्टि के कारण उसके अस्तित्व के भास में, पूरा भगवान चैतन्यधातु अस्तिपने विराजमान, वह तू नजर में नहीं आया। समझ में आया? **शुद्ध चैतन्यधातु...** ज्ञानानन्द धातु अर्थात् जिसने ज्ञान और आनन्द को धार रखा है। ऐसी चीज़ **निज रस की अतिशयता के कारण...** अपने स्वभाव की सामर्थ्यता के कारण, अपने स्वभाव की विशेषता के कारण, चैतन्यधातु निजशक्ति के स्वभाव की खास विशेषता के कारण **स्थायीभावपने को प्राप्त है—स्थिर है...**

रागभाव तो क्षण-क्षण में भिन्न-भिन्न कर्म के आधीन हुए भाव भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। वह कहीं स्थायी नहीं है। यह (आत्मा) स्थायी है। उसका स्वीकार क्यों दिखता है उसे? पहले अनुमान से ऐसा निर्णय करे कि यह विकल्पादि भाव है, वह तो क्षणिक—अस्थायी, अपद है। उसके पीछे अन्तर में पूरी चीज़ है—वस्तु है चैतन्यधातु से भरपूर ऐसा जो भगवान आत्मा, उसकी ओर जाना, उसमें झुकना—ऐसा पहले निर्णय करे विकल्प द्वारा तो इसे लक्ष्य बदलने का प्रसंग बने। समझ में आया? राम की क्रीड़ा में आ जा भाई! ऐसा कहते हैं। विभाव की क्रीड़ा छोड़ अब। आहाहा!

अर्थात् स्थिर है—अविनाशी है। भगवान चैतन्यधातु अर्थात्? जैसे यह सोना

की धातु सोनापने धार रखी है। चाँदी की धातु, हीरा की धातु, वैसे यह चैतन्यधातु है। इसने चैतन्यपना अन्दर धार रखा है अनादि-अनन्त। ऐसा जो भगवान आत्मा, उसके पक्ष में आ, यहाँ आ। वह शुद्ध है... शुद्ध है। आहाहा! कठिन...! **(यहाँ 'शुद्ध' शब्द दो बार कहा है, वह द्रव्य और भाव दोनों की शुद्धता सूचित करता है।** द्रव्य से भी शुद्ध है, भाव से भी शुद्ध है, गुण से भी शुद्ध है। **सर्व अन्य द्रव्यों से पृथक् होने के कारण...** भगवान आत्मा अन्य कर्म, शरीर आदि रजकणों के अन्य द्रव्यों से भिन्न होने से **शुद्ध है और पर के निमित्त से होनेवाले अपने भावों से रहित होने के कारण...** ऐसा। **अपने भावों से...** वापस शब्द ऐसे हैं। पर के निमित्त से होनेवाले अपने भाव, ऐसा। अपनी पर्याय में होनेवाले, ऐसा। पुण्य और पाप, राग और द्वेष विभाव, संकल्प-विकल्प, उन पर के निमित्त से होनेवाले अपने भाव अर्थात् इसकी पर्याय में होनेवाले, उनसे रहित है, उसके कारण **भाव से शुद्ध है।)**

और (इस १७८वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):—

भावाः पंच भवन्ति येषु सततं भावः परः पंचमः,
स्थायी संसृतिनाशकारणमयं सम्यग्दृशां गोचरः।
तं मुक्त्वाखिलरागरोषनिकरं बुद्ध्वा पुनर्बुद्धिमान्,
एको भाति कलौ युगे मुनिपतिः पापाटवीपावकः॥२९७॥

श्लोकार्थः—भाव पाँच हैं,... उदयभाव, उपशमभाव, क्षयोपशमभाव, क्षायिकभाव और पारिणामिकभाव—पाँच भाव हैं। उदयभाव, यह राग-द्वेष का भाव, वह उदयभाव है। उपशमभाव, वह समकित की पर्याय। दर्शनमोह का उपशम होने से और अपने में उस जाति का पुरुषार्थ होने से जो क्षय हुए बिना की दशा, वह उपशम। क्षायिकदशा पर्याय रागादि का क्षय होकर (होती है)। एक क्षयोपशमदशा—किंचित् उदय और किंचित् उघाड़। ऐसा उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभाव चार और पाँचवाँ पारिणामिकभाव। भाव पाँच हैं। **जिनमें यह परम पंचम भाव (परमपारिणामिकभाव) निरन्तर स्थायी है,...** लो। स्थायी है, स्थायी है... ऐसा हुआ न। यह कारणपरमात्मा कहो या पंचम पारिणामिकभाव कहो। समझ में आया?

नियमसार में पारिणामिकभाव के गीत बहुत खुल्ले गाये हैं। अहो! जिसमें परम पंचमभाव निरन्तर स्थायी है। क्षायिकभाव भी समय-समय में परिणमता है। वह तो ऐसा का ऐसा अपरिणामी त्रिकाली वस्तु, पारिणामिकभाव से अपरिणामी है। आहाहा! समझ में आया? पारिणामिकभाव अर्थात् सहजस्वभाव से। बदले बिना का ऐसा का ऐसा स्थायी—नित्य है। और वह भाव **संसार के नाश का कारण है...** लो। समझ में आया? मोक्ष का कारण—संसारनाश का कारण तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की पर्याय है... सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की पर्याय है। परन्तु उस पर्याय का कारण यह द्रव्य है। आहाहा!

संसार के नाश का कारण है... त्रिकाली स्थायीभाव, नित्यभाव, ध्रुवभाव, अविनाशी स्वभावभाव के आश्रय से संसार का नाश होता है, इसलिए वह संसार के नाश का कारण है। भगवान ने तो, द्रव्य को संसार के नाश का कारण है, ऐसा कहा। समझ में आया? क्योंकि द्रव्य त्रिकाली वस्तु है, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र होते हैं और पर्याय से संसार की पर्याय का नाश होता है। द्रव्य के आश्रय में होने से द्रव्य ही स्वयं संसार के नाश का कारण है, ऐसा कहा। समझ में आया?

और सम्यग्दृष्टियों को गोचर है। वस्तु जो ध्रुव चैतन्य है, वह सम्यग्दर्शन में गम्य है। सम्यग्दृष्टि को त्रिकाल ध्रुव का भान वर्तता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? चैतन्य भगवान आत्मा अनादि-अनन्त स्वभाव का भण्डार भरपूर भगवान ऐसी चीज़—ऐसी वस्तु धर्मी को गम्य है। एक ओर कहते हैं कि चार भाव के गम्य नहीं। आया है इसमें पहले। चार भाव को गम्य नहीं। इसका अर्थ ही कि चार भाव के आश्रय से वह गम्य नहीं, ऐसा। क्षायिकभाव को भी गम्य नहीं, ऐसा आता है। पहले आ गया है। इसका अर्थ कि क्षायिकभाव का आश्रय करने से उसका गम्य हो, ऐसा नहीं। उसका (-द्रव्य का) आश्रय करने से गम्य होता है। आहाहा! ऐसा भारी कठिन....

जिसने ऐसी दया, दान, व्रत, भक्ति और पूजा में धर्म माना हो, उसे उसमें से हटना (कठिन)। यहाँ तो उससे तो ठीक, परन्तु यह क्षायिक पर्याय होती है, उससे भी भिन्न है। क्षायिक पर्याय के आश्रय से भी कर्म का नाश नहीं होता। ऐसा कहा न इसमें? त्रिकाली के आश्रय से होता है। आहाहा! समझ में आया? मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह

संसार। उसका नाश तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से होता है। परन्तु वह तो दोनों पर्याय की बात है। यहाँ तो ध्रुव के आश्रय से संसार का नाश होता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! महा भगवान, कष्ट मिटाये ऐसा परमात्मा है, कहते हैं। समझ में आया? संसार का कष्ट तोड़ डाले, ऐसा ही भगवान है। जिसकी शरण लेने से संसार का नाश हो जाता है।

वह सम्यग्दृष्टि को गम्य है। **बुद्धिमान पुरुष समस्त राग-द्वेष के समूह को छोड़कर...** मतिज्ञानवाला—बुद्धिवाला—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, ऐसा बुद्धिवाला जीव **समस्त राग-द्वेष के समूह को...** सब जो उदयभाव है, संसार के विकल्प की वृत्तियों का उदयभाव है, उसे छोड़कर... लो, ठीक! राग-द्वेष के समूह को छोड़कर... क्या हो परन्तु? शैली तो सब कैसी डाले? ऐसा डालते होंगे कि अपने आप नाश होता है, अपने आप नाश होता है? (नाश) हो तो अपने आप। उत्पन्न न हो, इसका अर्थ 'नाश होता है' ऐसा कहा जाता है। आहाहा! शब्दों की रचना से कहीं पार नहीं पड़ती चर्चा। उसका भाव समझना चाहे तो पार पड़ता है। अकेले शास्त्र के अभ्यास से निवेड़ा नहीं आता। आहाहा! अनुभव से निवेड़ा आता है। समझ में आया?

राग-द्वेष के समूह को **छोड़कर तथा उस परम पंचम भाव को जानकर,...** ऐसा वापस। उसका (-राग का) लक्ष्य छोड़कर यहाँ लक्ष्य किया पंचम परमभाव... परम पंचमभाव अकेला ज्ञायकभाव, ध्रुवभाव, नित्यभाव, आनन्दभाव, पूर्णानन्दरूपी नित्य अविनाशी सदृशभाव को जानकर... लो, यह जानना। **अकेला...** आहाहा! **अकेला, कलियुग में पापवन की अग्निरूप मुनिवर के रूप में शोभा देता है...** आहाहा! अरे! ऐसे पंचम काल में—कलयुग में भी पुण्य-पाप के विकल्प का आश्रय छोड़कर अथवा लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली पंचम परमभाव की शरण में गया, वह मुनि अकेला हुआ। जिसे पुण्य के विकल्प अर्थात् दोकला का भी सम्बन्ध नहीं। **अकेला, कलियुग में...** आहाहा! ऐसा कलयुग है तो भी तू अकेला पड़कर अन्दर **पापवन की अग्निरूप मुनिवर...** पापरूपी वन को जला डालने को मुनिवर जैसा, **मुनिवर के रूप में शोभा देता है...** आहाहा! समझ में आया?

एक ओर ऐसा कहा था एक बार कि प्रभु! आपने कहे हुए चारित्र को पालने को मैं तो इस काल में... तेरी भक्ति हमको तारेगी। कहा है न? भक्ति अर्थात् आत्मा का

सम्यग्दर्शन, ऐसा। अधिक न कर सके तो एक श्रद्धा तो रखना, ऐसा आया था न? यहाँ तो कहते हैं कि मुनिपना शोभता है अभी। ले! समझ में आया? आपने कहे हुए मुनिवर... इस पंचम काल में हमारे जैसों को... पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि स्वयं कहते हैं। यहाँ कहते हैं कि अरे! ऐसे कलयुग में भी... भले काल कलयुग हो, परन्तु वह राग-द्वेष के उदयभाव का लक्ष्य छोड़कर, पूर्ण स्वभाव ध्रुवधातु की शरण में गया, वह पाप-पुण्य पाप के वन को जला डालने में अग्नि समान मुनिवर अन्तर की शरण में गया, वह शोभता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

यह पुण्य-पाप के भाव व्यवहार अच्छा हो, पुण्य का, इसलिए शोभे—ऐसा नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! आचरण अच्छा हो पुण्य का, ऐसा चरणानुयोग का, वह बाह्य आचरण से जाना जा सकता है, ऐसा कहते हैं। यहाँ तो कहते हैं कि हमारी शोभा, हमारा भगवान ध्रुव, उसकी शरण में जाकर उसमें हमारी शोभा है, शरण में वर्तते हैं, हमारी शोभा है। आहाहा! पाँच महाव्रत के परिणाम और अट्ठाईस मूलगुण का वर्तन बराबर हो तो शोभते हैं, वह हमारी शोभा नहीं। कहो, पंचम काल के मुनि भी इतनी जोरदार बात करते हैं। आहाहा! अपनी (बात) है। कारणपरमात्मा पूर्णानन्द प्रभु पंचम परमभाव को जानकर उसमें रहते हैं, अकेला रहते हैं। विकल्प को छोड़कर (रहता है), ऐसे भाव में अन्तर में बसते हैं, वे अग्निरूप मुनिवररूप से शोभते हैं। पुण्य-पाप को जलाने को, शुभाशुभभाव उत्पत्ति न होने को अग्नि समान है। आहाहा!

अर्थात् जो बुद्धिमान पुरुष परमपारिणामिकभाव का उग्ररूप से आश्रय करता है,... निज स्वभाव, अस्तिवाला, त्रिकालीभाव, उसका उग्ररूप से आश्रय करते हैं, पर्याय को आश्रय द्रव्य का देता है, **वही एक पुरुष...** देखो! भाषा। वह एक पुरुष **पापवन को जलाने में अग्नि समान मुनिवर है।** व्यवहार की क्रिया वह जलानेयोग्य है, ऐसा तो यहाँ कहते हैं। गजब करते हैं! रखने जैसी और पालने जैसी (नहीं)। वे कहते हैं कि भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने अट्ठाईस मूलगुण पालन किये। ऐ पण्डितजी! अरे भगवान! वह तो व्यवहारनय के कथन हैं, उसका ज्ञान कराने के लिये। बाकी है मुनि। पुण्य और पाप के वन को जलाने में अग्नि समान मुनिवर हैं। उसे मुनि कहते हैं। यह 'णमो लोए सव्व साहूणं' में ऐसे मुनि होते हैं। कहो, समझ में आया?

वे कहें, 'णमो लोए सव्व साहूणं' इसमें कहाँ आया (कि मात्र) जैन के साधु? परन्तु साधु, जैन के हों, वे साधु हों। पंचम परमभाव के शरण में उग्ररूप से वर्तते हों, वे ही साधु हैं। समझ में आया? आहाहा! यहाँ तो पंच महाव्रत को पालनेवाला हूँ, इसलिए शोभता है, यह बात नहीं, उसे तो जलानेवाला हूँ, इसलिए शोभता हूँ, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? भगवान आत्मा अपने शुद्ध ध्रुवभाव के आश्रय से पुण्य-पाप को जलाने में अग्नि समान ऐसे सन्त शोभते हैं। जैन सम्प्रदाय में ऐसे साधु को मुनि कहा जाता है। कहो, समझ में आया? अभी, पंचम परमभाव क्या यह नाम भी सुना न हो। पंचम परमभाव क्या होगा कुछ? सम्प्रदाय में कोई नाम नहीं। है? नाम आवे, उनके उपदेश में... ...शास्त्र में नाम आवे। पाँच भाव और यह पंचम पारिणामिकभाव, नित्यभाव, उसका अस्ति का शरण लेना, उसके आश्रय में जाना, उसका स्वीकार होना, उसमें स्थिर होकर रहना, इसका नाम मुनि है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : आता है। शब्द आवे परन्तु उसकी व्याख्या कहाँ है? तत्त्वार्थसूत्र, वह कहाँ उनका है? स्थानकवासी में तो है नहीं। श्वेताम्बर ने यहाँ का लेकर... दिगम्बर का है उसमें फेरफार कर डाला। हमारा है... स्थानकवासी तो मानते नहीं। यह भाई ने एक खड़ा किया है आत्माराम ने, अपने बत्तीस सूत्र के साथ मिलाने के लिये। बिल्कुल खोटी बात है।... है न यहाँ। क्या नाम? है न वह आत्माराम का बनाया हुआ। है न उसमें। उसमें मिलाना चाहते हैं बत्तीस सूत्र के साथ।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें... खोटी बात है। थे कब? लिखे न, लिखने में क्या जाता है? आहाहा! आधार भी... डाले हैं। क्या नाम है पुस्तक का? भूल गये। अपने है न वह। 'तत्त्वार्थसूत्र समन्वय' ऐसा करके है। नाटक का नाम भी किया आत्माराम... ...नाम क्या? आत्मारामजी ने बनाया है। तत्त्वार्थसूत्र में से यह निकाला हुआ है। स्थानकवासी थे ही कब? वे तो अभी निकले हैं। श्वेताम्बर २००० वर्ष पहले... शास्त्र तो किसके? श्वेताम्बर के....

पत्र आया था। .... वहाँ आये थे जामनगर। 'ओम तत्त्वार्थसूत्र जैनागमसमन्वय,' ऐसा। 'तत्त्वार्थसूत्र जैनागमसमन्वय'। जैनागम के साथ मिलाते हैं। जैनागम मूल पाठ संस्कृत छाया भाषा-टीका सहित। जैनदिवाकर उपाध्याय मुनि आत्मारामजी महाराज। है न पूरा पढ़ा है। गोकुलचन्दजी है न उसमें मूल, वे आये थे वहाँ जामनगर। दिल्ली के हैं। गोकुलचन्दजी दिल्ली के। यह महाराज यहाँ नहीं रह सकेंगे। इनकी लाईन अलग बात करते हैं अपने से। उससे कहता था, विरोध से ऐसा नहीं। व्यक्ति खानदानी। आमन्त्रण देने आये थे वह बड़ा साधु का भराना था न। ब्यावर? अजमेर में कॉन्फ्रेंस भरनी थी। विनती करने आये थे सब सेठिया प्रमुख। सुना दो दिन। यह महाराज यहाँ नहीं रह सकेंगे।

वह तो कहे वह अलग, परन्तु यह तो उनका प्रमुख बड़ा पैसावाला बहुत लाखोंपति और खानदानी व्यक्ति, हों! सुनने में ऐसा कहे, ओहो! उसके दृष्टान्त और बातें पूरी अलग लगती है। हमने कहीं सुनी नहीं। वीरजीभाई को कहा। गुजर गये बेचारे। यह तो आत्मा की बात, बापू! दूसरे प्रकार की है। आहाहा! जहाँ क्षायिकभाव का भी आश्रय लेना नहीं। अरे! जहाँ क्षायिकभाव को भी परद्रव्य, परभाव कहकर हेय बतलाना है। आहाहा! ज्ञेयरूप से जाननेयोग्य है, उपादेयरूप से वह क्षायिकभाव भी नहीं। आहाहा! त्रिकाल भगवान परमानन्द का नाथ, कहते हैं कि ऐसा वह पंचमभाव, उसका जिसने शरण लिया, ऐसे मुनि इस जगत में शोभते हैं, अथवा उन्हें ही मुनि कहते हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण ८, शुक्रवार, दिनांक-१०-१२-१९७१
गाथा-१७९, श्लोक-२९८-२९९, प्रवचन-१९९

... आचार्य आरोहण तिथि है। मागसर कृष्ण ८ अर्थात् ऐसे सिद्धान्तरूप से पौष कृष्ण अष्टमी है। अपने मागसर कृष्ण ८ है। आचार्यपद तैंतीस वर्ष में मिला था। ग्यारह वर्ष में दीक्षा ली थी और तैंतीस वर्ष में आचार्य पद। ९२ वर्ष में देह छूट गया। आचार्यपद का आरोहण, मागसर कृष्ण अष्टमी। अभी यह तीन... है। 'मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी, मंगलं कुन्दकुन्दार्यो...' कुन्दकुन्दाचार्य का नाम तीसरे नम्बर में आता है। गणधर के पश्चात् पूरे शासन के नायकरूप से इन्हें स्वीकार किया है। ऐसी इनकी शक्ति (थी)। है न, एक-एक लाईन, एक-एक पंक्ति शास्त्र की देखो तो ओहोहो! अलौकिक बात! केवलज्ञान के पथानुगामी को आचार्यपद तो कुदरती सहज मिला। ऐसी उनकी शक्ति थी। आचार्यपद का मागसर कृष्ण अष्टमी। मुम्बई गये थे न पन्द्रह वर्ष पहले। तलासरी में थे, नहीं? हरिभाई! बाहर बैठे थे। वह चणोठी थी न, चणोठी। पन्द्रह वर्ष पहले मुम्बई गये थे न, (संवत्) १९१३ के वर्ष में । मागसर कृष्ण अष्टमी वहाँ थी। जंगल में बैठे थे बाहर।

यह कुन्दकुन्दाचार्य का बनाया हुआ यह नियमसार है। भगवान के पास जाकर आठ दिन वहाँ रहे थे। किसी जगह ऐसा आता है कि अपने को भगवान का विरह पड़ा, इसलिए भगवान के पास गये। किसी जगह ऐसा भी आता है कि कोई विचारश्रेणी में— सूक्ष्म विचार में अन्दर बराबर समाधान नहीं हुआ ध्यान में... वहाँ पौन्नूरहिल, वन्देवास से पाँच मील, मद्रास से अस्सी मील इस ओर। सूक्ष्म विचार में जरा... इसलिए एकदम जाने का विचार (किया)। भगवान को नमस्कार किया। ऐसा भगवान की ध्वनि में भी 'सद्धर्मवृद्धिस्तु' ऐसा आया। अपने डाला है समवसरण (स्तुति) में। कुन्दकुन्दाचार्य की वाणी साक्षात् भगवान के समवसरण में से श्रवण होकर उनके अनुभव में से आयी हुई है। चारित्रसहित अनुभव प्रमत्त-अप्रमत्त में झूलते थे। उसमें यह एक विकल्प आया

और यह शास्त्र रच गये। ऐसा आचार्य आरोहण पदवी का यह दिन है आज। पूजा की न आज बहिनों ने ? वहाँ पूजा की न ? आदमी थे ? अकेले... ? आदमी कितने थे ? ऐसा मैं कहता हूँ। १७९ गाथा। परमतत्त्व, आत्मा त्रिकाली परमतत्त्व और परमात्मा सिद्ध दोनों की अपेक्षा से बात चलती है।

णवि दुक्खं णवि सुक्खं णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा।
णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं॥१७९॥

दुख सुख नहीं पीड़ा जहाँ नहिं और बाधा है नहीं।
नहिं जन्म है, नहिं मरण है, निर्वाण जानों रे वहीं॥१७९॥

टीका : यहाँ, (परमतत्त्व को) वास्तव में सांसारिक विकारसमूह के अभाव के कारण निर्वाण है, ऐसा कहा है। दोनों अर्थ निकालेंगे। त्रिकाली आत्मतत्त्व निर्वाणस्वरूप ही है और सिद्ध है, वह वर्तमान पर्याय में निर्वाणस्वरूप है। यहाँ शैली ऐसी है न। जो कुछ पर्याय में होता है, ऐसा उसका त्रिकाली द्रव्यस्वभाव होता है, ऐसी ही इनकी शैली है इसमें। **परमतत्त्व को...** अर्थात् त्रिकाली वस्तु को **वास्तव में सांसारिक विकारसमूह के अभाव के कारण निर्वाण है, ऐसा कहा है।** इसका नीचे स्पष्टीकरण किया है थोड़ा।

निर्वाण अर्थात् **मोक्ष; मुक्ति। (परमतत्त्व)** भगवान आत्मा **विकाररहित होने से द्रव्य अपेक्षा से सदा मुक्त ही है...** वस्तु जो आत्मा वस्तु है, वह वस्तु—पदार्थ की अपेक्षा से तो मुक्त ही है। पदार्थ कोई बन्ध के निमित्त के सम्बन्ध में आया नहीं। त्रिकाल निर्वाणस्वरूप ही भगवान है। निर्वाण अर्थात् पूर्ण शुद्ध, पूर्ण पवित्र। पूर्ण शान्ति का सागर भगवान आत्मा है। उसमें से निर्वाणपद पर्याय की प्राप्ति होती है। **इसलिए मुमुक्षुओं को ऐसा समझना चाहिए कि विकाररहित परमतत्त्व के...** अपना आत्मा विकाररहित त्रिकाल द्रव्यस्वभाव है, उसके आश्रय से... **परमतत्त्व के सम्पूर्ण आश्रय से...** परमात्मा अपना त्रिकाली ज्ञायकभावरूप स्वभाव मुक्तस्वरूप का जघन्य आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है, विशेष आश्रय करने से चारित्र होता है, पूर्ण आश्रय करने से मुक्ति होती है। समझ में आया ?

जिसमें मुक्तपना पड़ा है, (ऐसी) त्रिकाली वस्तु तो मुक्तस्वरूप ही है। ऐसे मुक्त-स्वरूप में अन्दर में पूर्ण शान्ति, पूर्ण आनन्द, निर्बाध शीतलभूत अकेला शान्त सागर का समुद्र पूरा भरपूर है। आहाहा! शान्त सागर—शान्तिसागर ही स्वयं है, ऐसा। ऐसे स्वभाव का अन्तर आश्रय लेने से उसे शान्ति का अंश समकितसहित प्रगट होता है। उसे अपनी शान्ति शोधने के लिये बाहर में कहीं जाना पड़े, ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। उसमें सुख का सागर है। सुख का भरपूर समुद्र भरा है। वस्तु है न! अस्ति है न! अरूपी परन्तु पदार्थ है न! पदार्थ है तो उसका भाव है न! भाव है तो वह परिपूर्ण भाव है। आनन्द, ज्ञान, दर्शन, शान्ति इत्यादि परिपूर्ण भाव हुआ। उसका अन्तर आश्रय लेने से धर्म की, शान्ति की, स्वच्छता की, पवित्रता की प्रगट दशा होती है, उसे यहाँ शुरुआत का सम्यग्दर्शन-ज्ञान कहा जाता है।

पूर्ण जो आश्रय करे, ऐसा शब्द है न? **सम्पूर्ण आश्रय से ही अर्थात् उसी के श्रद्धान-ज्ञान-आचरण से...** जिसमें पूर्णता, शान्ति और आनन्द ऐसा तत्त्व भरपूर है, उसके आश्रय से, उसकी श्रद्धा से, उसके ज्ञान से और उसमें रमणतारूप आचरण से **वह परमतत्त्व अपनी स्वाभाविक मुक्तपर्याय में परिणमित होता है।** अपने स्वरूप की पूर्णता के आश्रय से श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की परिणति होने से वह परमतत्त्व स्वाभाविक जो मुक्तस्वरूप है, वह मुक्तपर्याय से परिणमता है। समझ में आया? यह उसकी मुक्ति होने की क्रिया। सुखी होने का पंथ यह है। आहाहा! अन्तर के आनन्द से भरपूर भगवान जिसका सत्त्व आनन्द ही है, उसका आश्रय करने से सुख के पंथ में जाया जाता है। पूर्ण आश्रय करने से पूर्ण सुखी हो जाता है। कहो, समझ में आया?

सतत अन्तर्मुखाकार परम-अध्यात्मस्वरूप में लीन ऐसे उस निरुपराग-रत्नत्रयात्मक परमात्मा को... सिद्ध भगवान भी ऐसे हैं और त्रिकाली तत्त्व भी ऐसा है। सिद्ध भगवान की पर्याय की बात है, त्रिकाल में द्रव्य की बात है। समझ में आया? **सतत अन्तर्मुखाकार...** निरन्तर अन्तर्मुख जिसका आकार है—अन्तर्मुख जिसका रूप है। एक समय की पर्याय में अन्तर्मुख तत्त्व आता नहीं, पूरा तत्त्व नहीं आता। एक समय की पर्याय आवे, वह अलग बात है। अन्तर्मुख तत्त्व पूरा त्रिकाल अन्दर द्रव्यस्वभाव जिसका स्वरूप है। **परम-अध्यात्मस्वरूप में लीन...** है वह तो। भगवान आत्मा अपने

अध्यात्म अर्थात् अपना स्वभाव, उसमें लीन है। **ऐसे उस निरुपराग-रत्नत्रयात्मक...** निर्विकार—निर्मल ऐसी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परमात्मा को... त्रिकाली को भी और सिद्धपर्याय को भी। समझ में आया? आहाहा! और जो सिद्ध में नहीं, वह यहाँ आत्मा में भी नहीं। सिद्ध में है, वह यहाँ आत्मा में है। कहो, समझ में आया?

अशुभ परिणति के अभाव के कारण... भगवान आत्मा को अशुभ पर्याय ही नहीं। सिद्ध को नहीं और द्रव्यस्वभाव में भी नहीं। अशुभ परिणति—आर्तध्यान, रौद्रध्यान, शुभ-अशुभभाव ऐसी जो अशुभ परिणति। यहाँ अकेली अशुभ (लेना)। उसके अभाव में **अशुभकर्म नहीं।** अशुभ पर्याय नहीं तो **अशुभकर्म नहीं है और अशुभकर्म के अभाव के कारण दुःख नहीं है;...** भगवान आत्मा में वह अशुभ परिणति नहीं, इसलिए अशुभ कर्म नहीं, इसलिए उसे दुःख नहीं। सिद्धपर्याय में भी अशुभ परिणति नहीं, इसलिए अशुभकर्म नहीं, इसलिए उन्हें दुःख नहीं। आहाहा!

शुभ परिणति के अभाव के कारण... शुभ परिणति—दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा—ऐसे जो शुभभाव, उनकी परिणति के अभाव के कारण **शुभकर्म नहीं।** त्रिकाली द्रव्यस्वभाव में भी शुभकर्म नहीं और सिद्धपर्याय को भी शुभपरिणति नहीं, (इसलिए) उन्हें शुभकर्म नहीं। **शुभकर्म के अभाव के कारण वास्तव में संसारसुख नहीं है;...** यह संसारी (जिसे) सुख कहते हैं न, वे सब दुःख हैं। कोई शुभपरिणति हो तो उसे शुभकर्म बँधते हैं और उसके कारण यह बाहर के संयोग मिलते हैं और उसमें माने कि हम सुखी हैं। सुख कहाँ था संसार में? धूल भी नहीं, मानता है। कहो, यह अमेरिकन सुखी हैं सब? ऐई मणिपाल! तुम्हारा भतीजा कहता है, अमेरिका में बहुत सुखी है। वह तो धूल भी नहीं सुख कहीं। सुख तो आत्मा में है।

ऐसा कि यहाँ सब साधारण मनुष्य लगे। पाँच-पचास हजार की साधारण पूँजी किसी को नहीं। वहाँ तो बड़े-बड़े बँगले, बड़े शहर और हिन्दुस्तान से भी बड़ा देश। यह सब टोपा मोटा पहने, वस्त्र के अनेक प्रकार, बड़ी लाख-लाख, दो-दो लाख की मोटरें, भूंगला लगावे, नीचे संगमरमर की सड़कें। कहीं होगी लो न। ऐसा सुना हुआ हो। संगमरमर की सड़कें, उसके ऊपर मोटर चले। वापस एक मिनिट में एक मील चलना पड़े उसे। कम करे तो दण्ड पड़े। क्योंकि सब चलते हों, उसमें सबको रुकना

पड़े। एकदम चलो... एकदम चलो। कुत्ते की भाँति चलो। मुम्बई ऐसी ही है न। मुम्बई में क्या है ? आहाहा! घोड़े की तरह दौड़ते हैं, कुत्ते की भाँति भौंकते हैं। आहाहा! हाँ, हाँ, बात सच्ची। लोग भी कहते हैं। आहाहा!

भगवान की आत्मनगरी, अन्तर आत्मनगर, निरुपाधि नगर। यह सोपाधि मुम्बई। मोहमयी नगरी कही है न श्रीमद् ने। आहाहा! वह तो निरुपाधि नगरी। भगवान आत्मा अनन्त आनन्दादि शक्तियों का सागर भगवान, जिसमें नजर करने से आनन्द हो, जिसका आश्रय लेने से शान्ति मिले, ऐसी आत्मनगरी, वह नगर है। उसे आश्रय करनेवाले सुखी हैं, बाकी सब दुःखी हैं। सब सुलग रहे हैं। कहे, ...परन्तु माँस खाये, मदिरा पीवे और ऐसा करे और फिर बाहर सुखी दिखायी दे। दीपचन्दभाई! कहो, माँस खये और मदिरा पीवे और सुखी दिखायी दे। सुखी है कहाँ ? बाहर की संयोगी अनुकूलतायें कहीं सुख है ? अनुकूलता मानते हैं। अनुकूलता क्या ? वह तो ज्ञेय है, वह ज्ञान का ज्ञेय है। यह हमको ऐसा... ऐसा, बस। परन्तु अन्त में... आता है, कथन में आता है। कल आया है। वे लोग भी अब थककर अध्यात्मशान्ति लेना चाहते हैं। आहाहा!

हरे कृष्ण... हरे कृष्ण। अखबार में आया था। कल आया था। अमेरिकावाले कितने ही ऐसा कि सिर मुँडाकर भगवा वस्त्र पहनकर, हरे कृष्ण... हरे कृष्ण बकते हैं अब। यह पैसा-बैसा धूल में भी कुछ नहीं। उसमें आया था, कल आया था। हाँ, वह तो यहाँ मुम्बई में आये हैं न कितने ही अमेरिकन लोग। ... एकाएक लोग इकट्ठे हों। वे लोग भी हरे कृष्ण... हरे कृष्ण... हाथ में तम्बूरा और चांमडी कुछ दूसरी हो, विलायती हो और अंग्रेजी बोलते हों, उसमें कुछ ऐसा बोले, ओहोहो! एक मण्डल निकला है। लाखों लोग इकट्ठे हुए उसमें। कल आया था वीरवाणी में।

अरे! उसमें कहीं धूल भी नहीं। हरे कृष्ण में भी नहीं। 'कर्म कृषे, सो कृष्ण कहिये।' कर्म को टाले वह कृष्ण, वह तो आत्मा स्वयं कृष्ण है। आहाहा! और 'पाप ओघं हरति इति हरि।' पाप के ओघ को टाले, वह हरि, यह आत्मा हरि है। दूसरा कोई हरि और कृष्ण हो तो उनके। इसका हरि-कृष्ण तो आत्मा है। उसकी जिसे खबर नहीं, वे सब भजन किसी का करे, वे सब दुःखी होनेवाले हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहाहा!

अपने को भज। नहीं आया? अपने आ गया या नहीं? जिसे भजता है, उसे भज। देखो! १७७ में आया था। जिसे तू भज रहा है, उसे भज। आहाहा! १७७ का अन्तिम कलश। २९६ कलश। आहाहा! आनन्दसागर आत्मा को भज रहा है तू, कहते हैं। उसका भजन—उसकी एकाग्रता तो कर रहा है, उसे भज अन्दर। आहाहा! पूर्ण आनन्द की प्राप्ति का वह उपाय है। दूसरा कोई उपाय है नहीं। कहते हैं कि संसारसुख कल्पना का—अज्ञानियों ने माना हुआ... अरबों रुपये और बड़े महल। धूल में भी नहीं। आकुलता से पीड़ित हो बेचारे। कहीं शान्ति नहीं। नींद के लिये गोलियाँ लेनी पड़े। आहाहा! इतनी तो खलबलाहट संकल्प-विकल्प की। यह तो नशे की बात है। उसमें यह निद्रा कहाँ थी? आहाहा! जिसे निद्रा में सुख नहीं निद्रा का, उसे आत्मा का सुख तो कहाँ से होगा? आहाहा!

भगवान आत्मा प्रभु, पूर्णानन्द का मन्दिर प्रभु आत्मा, उसमें जा न, देवदर्शन कर न, ऐसा कहते हैं। आहाहा! कहेंगे आगे, आनन्दमन्दिर आत्मा। ऐसा आनन्दमन्दिर प्रभु है, उस मन्दिर में देवदर्शन कर अन्दर। समझ में आया? उस देवदर्शन से तुझे आनन्द होगा, ऐसा कहते हैं। तेरा देव तू, हों! भगवान के देवदर्शन में भी शुभभाव, वह दुःख। गजब! कहो, समझ में आया? भगवान को तो वास्तव में सांसारिक सुख है नहीं। इतने तो वे दुःखी होंगे न तब? सांसारिक सुख नहीं, इन्द्रिय का ज्ञान नहीं। नहीं आता परमात्मप्रकाश में? इन्द्रिय का ज्ञान नहीं, इसलिए अभी दुःखी है, अज्ञान है, ऐसा। वह तो कहने के लिये है। यहाँ कहते हैं, **पीड़ायोग्य यातनाशरीर के अभाव के कारण...** क्या कहते हैं? यह शरीर कैसा? कि यातनाशरीर। वह तो पीड़ा—वेदना की मूर्ति है। भाषा क्या है? देखो! **पीड़ायोग्य यातनाशरीर...** ऐसा। पीड़ा के योग्य यह शरीर है, अर्थात् वेदना की मूर्ति है। आहाहा!

ऐसी वेदना की मूर्ति... नीचे स्पष्टीकरण किया है, देखो! **वेदना; पीड़ा। (शरीर वेदना की मूर्ति है।)** पाठ है न? **पीड़ायोग्य यातनाशरीर...** पीड़ा के योग्य यातना का शरीर, दुःख का शरीर, दुःखमूर्ति है। कुछ ठीक नहीं पड़े तो आहा... आकुलता। हसमुखभाई! हसमुख का हुआ था न अन्तिम। ऐसे स्वप्न आते हैं। महाराज! ऐसे स्वप्न, बुरे स्वप्न। उसे वह स्थिति थी। उसे ऐसा हो गया कि महाराज आये, मेरा रोग

मिटेगा। ...हसमुख। मशीन चढ़ गयी थी कल। न्यालभाई आ गये वहाँ। स्वीट्जरलैण्ड से चढ़ गया। न्यालभाई आये हैं न, मुम्बई आये हैं। चढ़ाकर आये हैं। आनेवाले थे। वे आनेवाले थे न तुम्हारे? यह उसका समधी है। इसलिए आनेवाले हैं विवाह-बिवाह करने। आहाहा!

आनन्द के सागर को अनुभव और वह भोजन कर, भाई! आहाहा! तेरा भोजन कम नहीं पड़े, ऐसा वह भण्डार है। यह भोजन तो समाप्त हो जाये। आनन्द का मन्दिर प्रभु... आहाहा! थोड़े भी बहुत लिखा जानना इसमें। तेरा नाथ आनन्द का सागर भगवान... अरे! उसके पास तू जा न, वहाँ तुझे आनन्द मिलेगा। यह शरीर और परिवार और... यह जहाँ-तहाँ भटका-भटक करता है, वह सब दुःख के रास्ते, आकुलता के फोड़े की पीड़ा है। आहाहा! कहो, समझ में आया?

ऐसा **पीड़ायोग्य यातनाशरीर के अभाव के कारण...** 'वेदना की मूर्ति' भाई ने ऐसा लिखा है श्रीमद् ने। उसमें तो लिखा है, परन्तु श्रीमद् ने लिखा है। **यह शरीर वेदना की मूर्ति है।** आहाहा! यह व्यवस्थित नहीं चले वहाँ चिल्लाहट, पेट में कुछ श्वास चढ़े वहाँ चिल्लाहट, गैस चढ़े वहाँ चिल्लाहट, ...अटके वहाँ चिल्लाहट। आहाहा! अरे! एक बाई थी न यहाँ पोरबन्दर (संवत्) १९८७ में। साढ़े तीन वर्ष तक ऐसे उल्टी पड़ी रही, इतनी पीड़ा... इतनी पीड़ा। ऐसे सोये तो भी पीड़ा का पार नहीं। ... साढ़े तीन वर्ष तक उल्टे सिर। अन्दर पेट में ऐसा कुछ हो। ऐसा हो तो कुछ बहुत न हो। आहाहा! बोलती थी बाई... मन्दिरमार्गी थे। साढ़े तीन वर्ष से यह पीड़ा है ऐसी की ऐसी। पीड़ा का... डॉक्टर धूल करे? डॉक्टर मर जाते हैं सब। डॉक्टर चले जाते हैं। उसमें डॉक्टर क्या करता था? आहाहा!

नवनीतभाई ने नहीं कहा था? हम गये न, पहले ही कहा था। यह दवा और हवा से... नवनीतभाई! पहले दिन यह। दवा और हवा—दोनों से... दवा से उकताये। सब दवा विरुद्ध पड़ी। जितनी ले उतनी विरुद्ध। भाई ने कहा न पहले दिन दसवीं के दिन। आसोज शुक्ल दसमी। पहले आये न वहाँ। दो महीने हुए, उसमें दो दिन कम। आसोज शुक्ल दसमी को गये थे... दसवीं को गये थे। पहले ही दिन बोले, यहाँ की दवा और हवा। आहाहा! आहाहा! यह आत्मा आनन्दस्वरूप है भगवान! जहाँ है, वहाँ वह कभी

नजर की नहीं और नहीं वहाँ नजर को रोका है। आहाहा! समझ में आया? यह सब सुखी नहीं, अमेरिकन सुखी नहीं, काठियावाड़ी सुखी नहीं।

मुमुक्षु : आत्मा सुखी हो। किसी देश के कारण सुख होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई कहते थे सवेरे.... वहाँ सब सुखी कैसे होंगे? धूल भी सुखी नहीं। सफेद चमड़ी और बँगले बड़े, इसलिए कहीं सुखी हो गये? आहाहा!

अरेरे! सड़े हुए गधे की चमड़ी में मैसूर रखा हो, इसी प्रकार यह भगवान आनन्दमूर्ति शरीर की चमड़ी के संयोग में लिपटा हुआ दिखता है। आहाहा! समझ में आया? कहते हैं, **पीड़ायोग्य यातनाशरीर के अभाव के कारण पीड़ा नहीं है;...** भगवान आत्मा में पीड़ा नहीं और सिद्ध की पर्याय में भी पीड़ा नहीं। दोनों बात यहाँ लागू पड़ती है। कहो, सुख होगा या नहीं अब यहाँ? ऐई गुलाबचन्दभाई! गये तब छह भाई इकट्ठे थे, कितना बड़ा नाम दिया जाये... पाँच-पाँच, छह-छह लाख रुपये एक-एक के पास। ३०-३५ लाख, ४० लाख, बड़ी कीर्ति, लम्बा नाक। ऐसा सुना हुआ है। यह तो लोग कहे न तुम्हारे पीछे... आहाहा! धूल भी नहीं वहाँ। दुःख का सागर है। आहाहा! बड़े भाई को तो यहाँ श्वास था न—दमा था न। सुना हुआ है, खबर है। आहाहा! वेदना की मूर्ति है यह तो, दुःख की मूर्ति है। प्रभु आनन्द की मूर्ति आत्मा है। उसकी खबर नहीं होती, निजनिधान दबा पड़ा है, उसकी इसे खबर नहीं। आहाहा!

असातावेदनीयकर्म के अभाव के कारण बाधा नहीं है;... असातावेदनीय है नहीं, इसलिए उसे अनुकूल संयोग नहीं। किसे? आत्मद्रव्य को और सिद्ध की पर्याय को। दोनों ले लेना। आहाहा! **पाँच प्रकार के नोकर्म के अभाव के कारण...** पाँच प्रकार के नोकर्म—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, भाषा और मन, ऐसे अभाव के कारण **मरण नहीं...** नोकर्म है न... अर्थात् पाँच शरीर नहीं... नोकर्म को डाला। समझ में आया? औदारिकशरीर नहीं, वैक्रियकशरीर नहीं, आहारकशरीर नहीं, भाषा और मन नहीं। आहाहा! उनके अभाव के कारण मरण नहीं। नोकर्म में... अर्थ में आता है न! अपने यह, नहीं? पंचास्तिकाय? ... उसमें (गाथा ५० से ५५) आती है न, वह २९ बोल का कचरा। समयसार। उसमें उन्होंने भी लिये हैं पाँच ... औदारिक, वैक्रियक, आहारक, भाषा और मन—ऐसा लिया। कार्मण तो नोकर्म में नहीं जाये न, इसलिए। कितने में

आया यह ? उसमें... भी नहीं, अनुभूति से भिन्न है। ...अनुभूति से भिन्न है। औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस... संस्थान नहीं, वज्रनाराच नहीं... पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने के कारण भिन्न है। नोकर्म... नोकर्म। आया।

जो छह पर्याप्तियोग्य और तीन शरीरयोग्य वस्तुरूप नोकर्म है, वह सब जीव को नहीं है। छह पर्याप्तियोग्य नोकर्म। छह पर्याप्तियोग्य डाला न, उसमें नोकर्म डाला। चौदहवाँ बोल है। छह पर्याप्तियोग्य और तीन शरीरयोग्य ऐसे नोकर्म हैं, वह सब ही जीव को नहीं है। वहाँ इसका अर्थ तीन शरीर को नोकर्म डाला इसलिए इन्होंने नोकर्म को यहाँ डाला है। औदारिक, आहारक, वैक्रियक, भाषा और मन। उसमें आया है न, पाठ है न। '**षट् पर्याप्तित्रिशरीरयोग्यवस्तुस्वरूपं नोकर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य...**' जीव में यह है नहीं। उसमें... था नौ तत्त्व... आत्मा में भाषा नहीं, मन नहीं और तीन शरीर नहीं। नोकर्म लेना है उसकी अपेक्षा से। कार्मणशरीर नोकर्म नहीं है न! और सिद्ध में भी नहीं। औदारिक नहीं, वैक्रियक नहीं, आहारक नहीं और भाषा और मन नहीं।

पाँच प्रकार के नोकर्म के हेतुभूत... यह पाँच प्रकार का जो नोकर्म, उसका कारण **कर्मपुद्गल के स्वीकार के अभाव के कारण...** लो, **जन्म नहीं।** आत्मा को जन्म नहीं, सिद्ध को जन्म नहीं। आत्मा जन्मे ? **ऐसे लक्षणों से लक्षित, अखण्ड, विक्षेपरहित परमतत्त्व को सदा निर्वाण है।** यह वहाँ 'सदा' शब्द आया सही न, इसलिए जरा... **विक्षेपरहित परमतत्त्व को सदा निर्वाण...** त्रिकाली द्रव्य को भी सदा निर्वाण है और सिद्धपर्याय भी जब से हुई, तब से सदा निर्वाण है। शीतलीभूत... शीतलीभूत। शान्ति... अकेली शान्ति... शान्ति... शान्ति, अकषायरस की शान्ति। आहाहा! अकषाय की शान्ति, कषाय की अशान्ति। जितनी कषाय शुभ-अशुभ विकल्प, वह सब अशान्ति, उसके रस से रहित अकषायरूप शान्ति। वह जीव में है और सिद्ध में है। अन्दर में था तो वह शान्तिरूप पर्याय आयी, ऐसा कहते हैं। शान्तिपर्याय कहीं बाहर से नहीं आती। सिद्धपर्याय, वह अकषायभाव है। वह अकषायभाव स्वभाव में था, वह पर्याय में आया। द्रव्य और पर्याय के बीच क्रीड़ा है। पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं। आहाहा!

शरीर में रोग आवे और जब ऐसे चार-छह महीने खिंचे, कायर हो जाये कायर। छह महीना, आठ महीना, बारह महीना, पाँच वर्ष, बारह-बारह वर्ष। आहाहा! अब तो

यह शरीर छूट जाये। पीड़ा किसकी है इसे? देह में एकत्वबुद्धि की। पीड़ा दूसरी कोई चीज़ नहीं। आनन्द में राग को एकत्व माना, वह पीड़ा और दुःख है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा सदा निर्वाणस्वरूप भगवान और पर्याय में सिद्ध निर्वाणस्वरूप—वह जीव को साध्य है। निर्वाण प्राप्ति करना और उसका साधन त्रिकाली द्रव्य का आश्रय करना वह (साधन है)। आहाहा!

[अब इस १७९वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैंः] २९८ कलश।

भवभवसुखदुःखं विद्यते नैव बाधा,
जननमरणपीडा नास्ति यस्येह नित्यम्।
तमहमभिनमामि स्तौमि सम्भावयामि,
स्मरसुखविमुखस्सन् मुक्तिसौख्याय नित्यम्॥२९८॥

श्लोकार्थः—इस लोक में जिसे सदा भवभव के सुख-दुःख नहीं हैं,... इस लोक में जिसे सदा... त्रिकाली भगवान आत्मा को सुख-दुःख नहीं, भव-भव के सुख-दुःख नहीं। नारकी और तिर्यंच का दुःख, मनुष्य और देव का (सुख)—यह दोनों पीड़ावाले सुख-दुःख आत्मा में नहीं, ऐसे सिद्ध की पर्याय में भी नहीं। यहाँ तो चारों ही गति को दुःखरूप लिया है। आहाहा! **बाधा नहीं।** भगवान को बाधा नहीं। पूर्णानन्द प्रभु द्रव्य को क्या बाधा हो? वह तो ज्ञान और आनन्द किले में स्थित है। उसमें प्रवेश कहाँ से हो दूसरे का? ऐसा भगवान आत्मा बाधारहित है, ऐसे सिद्ध की पर्याय भी बाधारहित है।

जन्म, मरण और पीड़ा नहीं है,... भगवान आत्मा को जन्म नहीं। आत्मा जन्मता नहीं, मरता नहीं, पीड़ा नहीं। ऊपर आया था न सब? **उसे (-उस परमात्मा को) मैं,...** ऐसा परमात्मस्वरूप मेरा, उसे **मैं, मुक्तिसुख की प्राप्ति हेतु,...** पूर्ण आनन्द की दशारूप मुक्ति, पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द की अवस्थारूप मुक्ति—ऐसे मुक्ति के सुख की प्राप्ति के लिये **कामदेव के सुख से विमुख वर्तता हुआ...** अस्ति-नास्ति की। पाँच इन्द्रियों के विषय के कामभोग की वासना, ऐसा जो कामदेव का सुख... आहाहा! पाँच इन्द्रिय के झुकाव में कल्पना का सुख कामदेव का... आहाहा! उससे विमुख वर्तता हुआ, इन्द्रियों

के भोग की वासनारूपी दु:ख, उससे विमुख वर्तता हुआ और भगवान आत्मा के सन्मुख वर्तता हुआ **नित्य नमता हूँ।**

पूर्णानन्द प्रभु आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर-समुद्र उसे, विषयसुख के भाव से विमुख होता हुआ उसे मैं नमता हूँ। लो, यह धर्म। आहाहा! और उस मुक्ति के सुख के लिये ऐसा करता हूँ, ऐसा कहते हैं। मुक्तिसुख उसका फल। कहो, समझ में आया? मुक्तिसुख की प्राप्ति के लिये कामदेव के सुख से विमुख वर्तता हुआ... विषय के सुख, कामदेव के सुख भोग, वह तो हलाहल हलाहल जहर है। आहाहा! उसके सुख से विमुख होकर (अर्थात्) विमुख वर्तता हुआ नित्य भगवान आनन्दमूर्ति को मैं नमता हूँ। ओहोहो! मेरा नमन और झुकाव त्रिकाली आनन्दकन्द प्रभु आत्मा में है, कहते हैं। आहाहा! धर्मी का नमन और झुकाव त्रिकाली भगवान-सन्मुख का होता है। आहाहा! समझ में आया?

यह अन्तर की बातें जिसे बैठना कठिन पड़े न, वह कहे, यह क्या होगा यह? बड़ा भगवान है तू अन्दर। यह बाहर के कामदेव के सुख से तू विमुख है। समझ में आया? यह कामदेव के सुख से विमुख होकर अन्दर में जा। आहाहा! उसे **मैं नित्य नमता हूँ...** मेरा झुकाव एक समय भी, द्रव्य के नमन के अतिरिक्त मेरा एक भी समय (जाता) नहीं। आहाहा! व्यवहार के विकल्प को नमता हूँ, यह भी मेरा स्वरूप नहीं। परन्तु नमता ही नहीं, कहते हैं। आहाहा! भगवान ध्रुव नित्य वज्र, सुख का वज्रबिम्ब प्रभु, उसमें मेरा नित्य झुकाव है, उसमें ही मेरा त्रिकाल आश्रय है। त्रिकाली का मुझे आश्रय है त्रिकाल—कायम। आहाहा! ऐसे आत्मा को नित्य नमता हूँ। शब्द थोड़े, भाव बहुत! समझ में आया?

उसकी स्तवना करता हूँ, त्रिकाली आनन्दमूर्ति की मैं तो स्तवना करता हूँ। भगवान का स्तवन और राग का स्तवन, वह मेरी चीज़ नहीं। आहाहा! समझ में आया? अरे! ऐसा आत्मा न बैठे, (इसे) वह सर्वज्ञपने की पर्याय बैठी नहीं। अरे बापू! तू ऐसा आत्मा नित्यानन्द सर्वज्ञस्वभावी तो त्रिकाल है। सर्वज्ञ की पर्याय प्रगट करने के लिये सर्वज्ञस्वभाव में ही मैं स्तवन करता हूँ, उसका स्तवन करता हूँ। आहाहा! आहाहा! सर्वज्ञस्वभावी का ही मैं आदर करता हूँ सर्वज्ञपर्याय प्रगट करने के लिये। समझ में

आया ? अरेरे ! ऐसे आत्मा को ऐसा कहना कि सर्वज्ञपना नहीं होता। लोगों ने रच दिया है मान-मर्यादा को... पण्डितजी ! मान आया न मान। मान-मर्यादा कहा न ? संस्कृत टीका, हिन्दी शब्दों में से निकाला, हों ! भाई ने कोष में से निकाला। मान-मर्यादा-प्रतिष्ठा। हरिभाई ने प्रतिष्ठा कहा। प्रतिष्ठा भी होती है। मनुष्य की प्रतिष्ठा बहुत कर डाली, ऐसा करके... आहाहा ! अरे भगवान ! क्या कहते हैं, भाई ?

आहाहा ! यह स्वभाव की मूर्ति, उसे बहुत मान दिया। भाई ! ऐसा नहीं। वह स्वरूप ही उसका ऐसा है। आहाहा ! यहाँ तो एक समय की पर्याय में जो कुछ, सर्वज्ञस्वभाव में नमकर प्रगट हुई, उसके समक्ष तो कहते हैं कि अभी अनन्तगुणा काल और क्षेत्र होता... जिसका स्वभाव ही जानने का है, उसे नहीं जानने की बात, उसमें कैसे आवे ? ऐसी सर्वज्ञ की पर्याय है। उस पर्याय के लिये, उस पर्याय प्राप्त को प्राप्त करने के लिये, जिसमें पूर्ण सर्वज्ञस्वभाव पूर्ण पड़ा है, उसे मैं नमता हूँ और स्तवन करता हूँ। आहाहा ! समझ में आया ? यह स्तवना। लो, यह स्तुति... स्तुति।

'**णाणसहावाधियं मुणदि आदं**' (समयसार गाथा ३१)। यह स्तुति कही न ! भगवान ज्ञानस्वभाव... आहाहा ! वह ज्ञानस्वभाव अर्थात् परिपूर्ण स्वभाव, पर से अधिक अर्थात् भिन्न भाव। पाँच जड़ इन्द्रियाँ और खण्ड-खण्ड (भावेन्द्रिय) और उनके विषय बाह्य—इन तीनों को इन्द्रिय गिनकर उनसे अधिक अर्थात् भिन्न भगवान ज्ञानस्वभाव पृथक् है। आहाहा ! उसे अपूर्ण कहना और उसकी सर्वज्ञपर्याय नहीं होती (ऐसा कहना), गजब करते हैं, भाई ! प्रभु को तू पामर कहकर गाली देता है। आहाहा ! अरे ! ऐसा माननेवालों को खोज-खोजकर डाला है। ऐसे माननेवाली पूरी दुनिया अज्ञानी है। क्या है तुझे ? आहाहा ! प्रतिष्ठा किसकी ? मूढ़ थे सभी। आहाहा ! मूर्खाई की प्रतिष्ठा थी। बात सच्ची। आहाहा !

भाई ! ऐसा ज्ञानस्वभाव अधिक... राग और खण्ड इन्द्रिय, (जड़) इन्द्रिय और भगवान की वाणी से भी अधिक अर्थात् भिन्न, ऐसा परिपूर्ण परमात्मा, उसकी एकाग्रता वह उसकी स्तुति है। आहाहा ! ऐ देवीलालजी ! तब और सुनकर (कहे कि) देखो ! तुम तो ऐसा कहते हो, और वापस मन्दिर और भगवान की स्तुति कहाँ डालते हो ? और ऐसा कहे। अरे भगवान ! तू फिर वापस... यह तो अन्दर में स्थिर न हो सके, तब बाहर

के परमात्मा का बहुमान का विकल्प आता है। यहाँ का बहुमान है, उसमें स्थिर न रह सके, तब प्राप्त हुए के प्रति बहुमान आवे, ऐसा शुभ विकल्प बीच में होता है, वह उपचार स्तुति है।

मुमुक्षु : शुभ विकल्प न आवे तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : न आवे ऐसा रहे ही नहीं। समझ में आया?

अपने से गुण में अधिक दशावन्त का विनय करने का भाव (होता है)। इस ओर विनय ढला है, उसमें बाकी रही हुई चीज़ (-विकल्प) में पूर्णता को प्राप्त (के प्रति) विनय आये बिना रहता ही नहीं। वह है शुभभाव। समझ में आया? है वह व्यवहार। वह निश्चयस्तुति नहीं। निश्चयस्तुति आत्मा के (ज्ञान)वान को भी, पूर्ण हुआ नहीं इसलिए आती है, ऐसा। और करता है, ऐसा भी व्यवहार से (कहा जाता है)। स्तुति करे, भगवान की स्तुति करे। समझ में आया? ऐसा भगवान आत्मा... आहाहा! क्या परन्तु टीका! पाठ और टीका, वह भी अमृत की रेलमछेल की है, अमृत का सागर उछाला है। भाषा पूरी मिली नहीं। भाई ने लिखा है। भाषा बहुत खोजने... पूरी मिली नहीं। ....सच्ची बात है। आहाहा! ऐसे मुनि के लिये ऐसा कहना कि बराबर समझे नहीं। टीका में ऐसा... अरे भगवान! क्या करता है तू? बापू! तेरी परमात्मदशा का इसमें अनादर होता है, अस्तुति होती है।

धर्मी को अपने पूर्ण स्वभाव की रुचि के अतिरिक्त कहीं रुचि जमती नहीं। समझ में आया? यह विषय की वासना का विकल्प हो, अरेरे! वह तो जहर है। इसलिए कहा न कि उससे विमुक्त वर्तता हुआ... समझ में आया? विमुख वर्तता हुआ तो सब छोड़ दे न? किसी समय ऐसा विकल्प आवे तो मिथ्यादृष्टि हो गया तू। ऐसा नहीं। भगवान! तू सुन, भाई! समझ में आया? अमृत के सागर को दृष्टि में रखते हुए (भी) स्थिर नहीं हो सकता, (इसलिए) उसमें कोई भाव आता है, परन्तु उसमें उसे रस नहीं होता। धर्मी को राग में राग का रस नहीं होता। आहाहा!

यदि रस न हो तो आवे किसलिए? अरे भगवान! भाई! राग भले हो, हो परन्तु वह तो दोषरूप से आता है बीच में। (तो) नहीं लाना। परन्तु नहीं लाना, बापू! पूर्ण

साधक नहीं, पूर्ण आश्रय जहाँ नहीं, वहाँ पूर्ण साधक नहीं, वहाँ बीच में बाधकपना होता है। आहाहा! ऐसा मार्ग वीतराग का। सत्य ऐसा स्वरूप है, उसका निश्चय न समझे, व्यवहार न समझे। आहाहा! बापू! तेरा किनारा कहाँ आयेगा? जन्म-जरा-मरण का अन्त लाने का छोर तो यह आत्मा है अन्दर। उसे स्तवन करता हूँ अर्थात् जरा स्तवन में आया। व्यवहार को स्तवता नहीं, ऐसा कहते हैं। आवे जरा, परन्तु उसमें रस नहीं। समझ में आया?

सम्यक् प्रकार से भाता हूँ। मेरे भगवान को ही मैं भाता हूँ। मेरा नाथ—पूर्ण आनन्द का नाथ... वह कामदेव के सुख, विस्मयता, आश्चर्यता, पाँच इन्द्रिय के भोग की ओर की अतिशयता, आसक्ति, विस्मयता को छोड़ देता हूँ। विस्मयस्वरूप तो मेरा आनन्द है। धर्मी को यह होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **सम्यक् प्रकार से...** ऐसा है न? '**संभावयामि**' '**संभावयामि**' है न? '**संभावयामि**' मेरा नाथ आत्मा पूर्णानन्द का प्रभु अस्तिरूप से विराजमान है, वह मैं हूँ। उसकी मैं भावना करता हूँ—सम्यक् प्रकार से उसमें एकाग्र होता हूँ, वही मेरा धर्म का आचरण है। आहाहा! भारी कठिन!

दुनिया को ऐसा लगे कि यह तो अकेली निश्चय की लगायी है। यह कहा न। बीच में व्यवहार की बात तो की, की वह कहीं उत्साह की बात नहीं। '**भावयामि**' की नहीं। पण्डितजी! '**संभावयामि**' नहीं। होता है अन्दर। खेद है कि बीच में व्यवहार आता है। आता है न? इससे वह सम्यग्दृष्टिपना मिट जाता है, सम्यग्ज्ञान मिट जाता है—ऐसा नहीं है। उसके अन्तर के आदर में कुछ भवी विघ्न पड़ता है, ऐसा नहीं है। आदर तो उसका ही है। समझ में आया? सच्ची रीति से मेरी भावना तो आत्मा में है, कहते हैं। यह भाव आवे, परन्तु उसकी मेरी भावना नहीं है। आहाहा! समझ में आया? २९९ (कलश)।

आत्माराधनया हीनः सापराध इति स्मृतः।
अहमात्मान-मानन्द-मन्दिरं नौमि नित्यशः॥२९९॥

नमता हूँ, नित्य नमता हूँ। आहाहा! मुनि की शैली! अरे भगवान! जो अपना ही अनादर करता है, वह फिर ऐसे सन्तों का आदर कहाँ से करे?

श्लोकार्थः—आत्मा की आराधना रहित जीव को... नित्यानन्द स्वभाववाला प्रभु ऐसे आत्मा की आराधना—सेवा—उपासना बिना के जीव को अपराधी गिनने में आता है। आहाहा! राग की सेवा करनेवाले को तो अपराधी कहा गया है। आहाहा! आत्मा की आराधना... यह देवी और देव की आराधना करते हैं न? वह तो कहीं गयी, परन्तु तीन लोक के नाथ की आराधना, वह भी व्यवहार में जाती है। भगवान स्वयं पूर्णानन्द का नाथ, जिसमें आनन्द का नशा तैरता है, ऐसा प्रभु, उसकी सेवारहित और राग की सेवासहित, वह अपराधी है, वह गुनहगार है। उसे चार गति का दण्ड मिलेगा फल (रूप से)। आहाहा! समझ में आया?

(-अपराधी) माना गया है। ऐसा अपराधी गिनने में आया है। '**स्मृतः... (इसलिए) मैं...** इस कारण से मैं... इस प्रकार मुनि ने अपनी बात साथ में डाली और आनन्द का आदर करनेवाले को भी ऐसा होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **मैं आनन्दमन्दिर आत्मा को...** लो। मैं तो अतीन्द्रिय अनाकुल आनन्दमन्दिर हूँ, वह आत्मा। मैं आनन्दमन्दिर आत्मा, ऐसा। आहाहा! जिसमें प्रवेश करने से, उस भगवान आनन्दमन्दिर में जाने से आनन्द का देव प्राप्त होता है, जिसमें आनन्द का देव आत्मा की प्राप्ति होती है। समझ में आया? लो, यह मन्दिर में जाते हैं न? षट्कारक क्या, षट् वह आते हैं न आवश्यक? देवपूजा, गुरुसेवा इत्यादि। मैं तो आनन्दमन्दिर में जाता हूँ, हों!

आनन्दमन्दिर आत्मा को (आनन्द के गृहरूप आत्मा को-निजात्मा को)... ऐसा वापस। **नित्य नमन करता हूँ।** कोई भी समय मेरे पूर्णानन्द के आदररहित है नहीं। आहाहा! सम्यग्दृष्टि को कोई भी क्षण पूर्णानन्द का नाथ आत्ममन्दिर के आदर बिना जाता नहीं। आहाहा! और यदि आत्मा का आदर भूलकर पर का आदर हो गया तो मिथ्यादृष्टि है। भारी कठिन भारी। इस ओर आत्ममन्दिर (कहे) और फिर वापस मन्दिर बनाना, स्वाध्यायमन्दिर बनाना। ऐई! देवीलालजी पण्डित कहलाते हैं, वे वापस स्वाध्यायमन्दिर बनायेंगे। एक मन्दिर हुआ, और स्वाध्यायमन्दिर। बातें बड़ी-बड़ी करो और वापस ऐसा धन्धा करो। भाई! वह तो उसके कारण से होते हैं। धर्मी जीव का शुभविकल्प निमित्तरूप से कहलाता है। बाकी बात तो ऐसी है। नित्य आनन्द के घर में जाता हूँ, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण १०, रविवार, दिनांक-१२-१२-१९७१
गाथा-१८०, प्रवचन-२००

यह नियमसार, १८० गाथा। निर्वाण का स्वरूप है। मोक्ष हो गया ऐसे जो सिद्ध भगवान, वे कैसे हैं, उनका स्वरूप है। आत्मा का स्वरूप ऐसा है द्रव्य से तो। यह बात समझाते हैं।

णवि इंदिय उवसग्गा णवि मोहो विम्हिओ ण णिद्दा य।
ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाणं॥१८०॥

इन्द्रिय जहाँ नहिं मोह नहिं, उपसर्ग, विस्मय भी नहीं।
निद्रा, क्षुधा, तृष्णा नहीं निर्वाण जानो रे वहीं॥१८०॥

टीका : यह, परम निर्वाण के योग्य... परम निर्वाणपर्याय प्राप्त **परमतत्त्व के स्वरूप का कथन है।** आत्मा स्वयं परम निर्वाणस्वरूप ही है। भगवान आत्मा परम शान्त, अविकारी शान्त पूर्ण स्वरूप ही है। उसकी पर्याय में निर्वाण प्रगट होना, इसका नाम यहाँ निर्वाण और सिद्ध कहते हैं। कैसा है परमतत्त्व? **अखण्ड-एकप्रदेशी-ज्ञानस्वरूप होने के कारण...** ... सिद्ध भगवान हैं, वे तो हैं असंख्यप्रदेशी, परन्तु अखण्ड एक प्रदेशी हैं। सबके भेद न करके, अखण्ड एक प्रदेशी स्वरूप है। **अखण्ड-एकप्रदेशी-ज्ञानस्वरूप होने के कारण...** ज्ञान अखण्ड है न अखण्ड प्रदेश में। समझ में आया?

अखण्ड-एकप्रदेशी-ज्ञानस्वरूप होने के कारण... ऐसे तो ज्ञान असंख्यप्रदेशी है, परन्तु ऐसा न गिनकर... असंख्य प्रदेश हैं निश्चय से, ज्ञानस्वरूप असंख्यप्रदेशी है निश्चय से, परन्तु वह असंख्य (प्रदेशी) 'है' अपेक्षा से निश्चय है, परन्तु भेद की अपेक्षा से उसे—असंख्य को व्यवहार कहकर, एक को निश्चय कहा जाता है। समझ में आया? एकप्रदेशी अखण्ड... यह क्या कहना है? इन्द्रियाँ नहीं, ऐसा कहना है? खण्ड-खण्ड इन्द्रिय से जानना और प्रदेश का खण्ड-खण्ड होना—ऐसा उसे नहीं। अखण्ड का नीचे (अर्थ) है। **खण्डरहित अभिन्नप्रदेशी ज्ञान परमतत्त्व का स्वरूप है,...**

ऐसे तो असंख्यप्रदेशी को एकप्रदेशी कहा है। समझ में आया? आता है न पंचास्तिकाय में। जहाँ धर्मास्तिकाय का वर्णन किया है वहाँ (कहा कि) असंख्य प्रदेश होने पर भी एकप्रदेशी है। असंख्य कहलाते हैं, वहाँ व्यवहार कहते हैं। अभिन्न एकप्रदेशी, वह निश्चय। दूसरी ओर ऐसा कहते हैं कि असंख्यप्रदेशी नियत प्रदेश, वह निश्चय है। क्योंकि इतने ही हैं, कम-ज्यादा नहीं। आहाहा!

एक बार प्रश्न हुआ था (संवत्) १९७९ के वर्ष में। यह हंसराजभाई है न हंसराजभाई। वे कहें कि यह सब प्रदेश गिने हैं, वे तो कल्पना से गिने हैं। हंसराजभाई थे न अमरेली। वाँचते बहुत, वे निवृत्त थे। वे रास्ते में सामने आये थे। ... अमरेली सामने आये थे। रास्ते में रेल की पटरी आती है, वहाँ आये थे। प्रश्न उठा गाँव में जाते हुए। असंख्यप्रदेशी भगवान जीव को कहा है, वह सब कल्पना है। कल्पना अर्थात् क्या? कहा। असंख्यप्रदेशी ही है। आकाश अनन्त प्रदेशी ही है। कल्पना से कहा है, ऐसा नहीं। परन्तु उसे व्यवहार कहा है, एक जगह, उसका कारण कि अभेद की एकपने अपेक्षा से भेद को व्यवहार कहा है। समझ में आया?

धर्मास्ति में डाला है न पंचास्तिकाय में। व्यवहार लिखा है उसमें। असंख्यप्रदेश कहलाते हैं, वह व्यवहार है; एकप्रदेशी कहना, वह निश्चय है। वस्तु तो वस्तु ही है, असंख्य प्रदेश में ज्ञानस्वरूप व्याप्त होने पर भी अखण्ड एकप्रदेशी ज्ञानस्वरूप, वह उसका निश्चय स्वभाव है। उसके कारण पाँच इन्द्रियाँ नहीं। क्योंकि वह तो खण्ड-खण्ड हो तो इन्द्रिय हो। इसलिए यह अखण्ड डालना पड़ा। खण्ड-खण्ड भावेन्द्रिय वह सिद्ध को है नहीं। सिद्ध को तो नहीं, परन्तु आत्मा के स्वभाव में भी वास्तव में नहीं है। समझ में आया? ३१वीं गाथा में आया न? ३१, समयसार। भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय से वह भिन्न चीज़ है। भावेन्द्रिय—एक-एक इन्द्रिय से जानना, वह खण्डज्ञान है। जबकि यह तो है, वह अलग बात... वाणी, शब्द आदि वह तो इन्द्रियों में निमित्त है, इसलिए उसे भी इन्द्रिय कहा। और यह वर्तमान खण्ड-खण्ड ज्ञान की पर्याय खण्ड से जाने एक-एक विषय को, वह तो आत्मा नहीं, ऐसा कुछ। समझ में आया?

आत्मा तो इस खण्ड-इन्द्रिय से अधिक—भिन्न है। देखो! यह सम्यग्दर्शन का

विषय। '**णाणसहावाधियं मुणदि आदं**' ज्ञानस्वभाव से खण्ड-इन्द्रिय के भाव से अधिक—पृथक्—भिन्न अतीन्द्रिय है, उसे यहाँ आत्मा कहा जाता है। कहो, समझ में आया? वह आत्मा आत्मारूप से—सिद्धपर्यायरूप से परिणमा, उसकी यह व्याख्या चलती है। **अखण्ड-एकप्रदेशी-ज्ञानस्वरूप होने के कारण (उसे) स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र नाम की पाँच इन्द्रियों के व्यापार नहीं हैं...** अखण्ड ज्ञान का जहाँ व्यापार है, वहाँ खण्डज्ञान का व्यापार नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यहाँ वास्तव में तो खण्ड—इन्द्रिय से भिन्न ऐसा अखण्ड भगवान आत्मा है, ऐसा जहाँ भान हुआ, इसे भी खण्ड—इन्द्रिय से जानना होता नहीं। समझ में आया? क्योंकि उसे इन्द्रिय के विषय का भोग ही नहीं आत्मा को। समझ में आया?

कहाँ लिया यह? अलिंगग्रहण। बारहवाँ बोल है न। भगवान आत्मा को इन्द्रिय के विषय का भोग ही नहीं। इन्द्रिय से जानना, ऐसा उसका स्वरूप ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? इन्द्रिय से ज्ञात हो, ऐसा वह नहीं और इन्द्रियों से जाने, ऐसा भी नहीं। आहाहा! समझ में आया? इन्द्रिय से ज्ञात हो, ऐसा तो वह नहीं, परन्तु इन्द्रिय से जाने, ऐसा भी नहीं। आहाहा! उसे आत्मा कहते हैं। समझ में आया? और इन्द्रिय के विषय को भोगता नहीं, उसे आत्मा कहते हैं। यहाँ है न।

अखण्ड है, इसलिए पाँच इन्द्रिय के व्यापार नहीं। जैसे आत्मा में उसका स्वभाव, इन्द्रिय के विषय को जानना और इन्द्रिय से जानना और इन्द्रिय के विषय को भोगना—उसके स्वरूप में नहीं। समझ में आया? समकिती इन्द्रिय के विषय को भोगता नहीं, ऐसा कहते हैं। भोगता नहीं, इसकी व्याख्या क्या? लो, यह तो भिन्न आया। अभिप्राय से निवृत्त नहीं हुआ, उसे ज्ञान नहीं। वह कहे आस्रव से निवृत्त नहीं, इसलिए ज्ञान नहीं। ऐसा नहीं। अभिप्राय में से निवृत्त हुआ है, इसलिए उसे... समझ में आया? निवृत्ति ही है आस्रव की। सम्यग्दृष्टि को पुण्य-पाप के परिणाम मेरे हैं, ऐसा अभिप्राय छूट गया है, इसलिए आस्रवरहित ही है। आहाहा! कठिन बात!

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि, यहाँ तो इन्द्रिय के व्यापाररहित आत्मा सिद्ध, ऐसा ही यह आत्मा है यहाँ। अतीन्द्रिय आनन्द का भोग करनेवाला, ऐसा जो आत्मा, वह आत्मा इन्द्रिय के विषय को भोगे, ऐसा उसकी पर्याय में नहीं। समझ में आया? सिद्ध भगवान

भोगते नहीं, परन्तु यहाँ समकिती (भी नहीं भोगता) ? आत्मा नहीं भोगता, इसका अर्थ कि आत्मा का जाननेवाला (भी नहीं भोगता)। समझ में आया? आहाहा! आत्मा इन्द्रिय के विषय को भोगता नहीं अथवा आत्मा को इन्द्रिय के विषयों का व्यापार नहीं—ऐसा कहा न यहाँ? सिद्ध को इन्द्रिय के विषय का व्यापार नहीं, इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान आत्मा को भी इन्द्रिय के विषय का व्यापार नहीं। इसका यह अर्थ हुआ कि जिसने आत्मा ऐसा जाना, ऐसे समकिती को भी इन्द्रिय विषय का व्यापार छूट गया है। उसे विषय का भोग नहीं। आहाहा! कठिन बातें भाई यह। समझ में आया?

अखण्ड-एकप्रदेशी-ज्ञानस्वरूप होने के कारण... यह तो टीका पद्मप्रभमल-धारिदेव की है। नहीं तो ऐसा हो गया कि अमृतचन्द्राचार्यदेव की है। स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र—पाँच इन्द्रियों के व्यापार सिद्ध को नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि द्रव्य को नहीं। द्रव्य को नहीं अर्थात् द्रव्यदृष्टिवन्त को भी नहीं। हिम्मतभाई! आहाहा! कठिन मार्ग, भाई! भगवान आत्मा निर्वाणस्वरूप विराजमान है, कहते हैं कि वह तो अखण्ड एकप्रदेशी ज्ञानस्वरूप है। पाँच इन्द्रिय से जानना, ऐसा व्यापार सिद्ध को नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि उसका जो स्वभाव था, वह आ गया। तब अब उसका स्वभाव—त्रिकाली भगवान आत्मा का स्वभाव अखण्ड एक ज्ञानस्वभाववाला है, खण्डज्ञानवाला है नहीं। खण्डज्ञान द्वारा इन्द्रिय का व्यापार द्रव्य को नहीं, सिद्ध को नहीं और द्रव्य की दृष्टि के जाननेवाले समकिती को नहीं। गजब बातें, भाई!

कहो, ऐसे भोगता है न ९६ हजार स्त्रियाँ (ऐसा) लगे। आहाहा! अरे भाई! तुझे खबर नहीं। वह राग का और हर्ष का अस्तित्व ही आत्मा की पर्याय में स्वीकार नहीं करता। वह तो सम्यक् चैतन्यमूर्ति अखण्ड प्रदेश ऐसा एक भगवान आत्मा, उसके आश्रय से निर्मलदशा हो, उसे वह करता और उसे भोगता है। समझ में आया? आहाहा! यह सब दिखता है, समकिती छह खण्ड का राज करे। सिद्ध राज करे तो समकिती राज करे। समझ में आया? आहाहा! गजब! '**णवि इंदिय**' उसमें से निकाला सब। इन्द्रिय सिद्ध को नहीं, अर्थात् कि आत्मा को इन्द्रिय नहीं, अर्थात् कि इन्द्रिय का व्यापार सिद्ध को नहीं, अर्थात् कि आत्मा को इन्द्रिय का व्यापार नहीं, अर्थात् कि समकिती को भी इन्द्रिय का व्यापार नहीं। आहाहा! समझ में आया? कठिन वस्तु, भाई!

एक बात की। '**णवि इंदिय**' अब '**णवि इंदिय णवि उवसग्गा**' जहाँ शरीर का व्यापार नहीं (तो) उसे उपसर्ग ही नहीं। **देव, मानव, तिर्यंच और अचेतनकृत**—चार। नारकी तो कहीं उपसर्ग करने आते नहीं। देव उपसर्ग—प्रतिकूलता करे, मानव, ढोर और अचेतन। ... दीवार गिरे, वृक्ष गिरे। ऐसे उपसर्ग—प्रतिकूलता सिद्ध को नहीं। आहाहा! शरीर ही जहाँ इन्द्रियों का व्यापार नहीं, वहाँ फिर उपसर्ग कैसा? आहाहा! गजब! इसी प्रकार भगवान आत्मा में भी उपसर्ग नहीं, इसी प्रकार धर्मी को भी उपसर्ग नहीं, लो। ऐई! मुनि को उपसर्ग होता है न यह? सिंह ऐसे खाता है, यह खाता है। खाता है किसे? खाये कौन? उसके मुख में आत्मा के प्रदेश आते हैं? समझ में आया? धर्मी तो अपने आत्मा के आनन्द के वेदन को अनुभव करता है। उसमें उपसर्ग कैसा? आहाहा! समझ में आया?

... लगे उसे, दु:ख वह भले उपसर्ग का हो। परन्तु उपसर्ग लगे तो दु:ख हो और दु:ख तो विभाव है। यह आत्मा का स्वभाव नहीं। यहाँ विभाव में समकिती आता ही नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? अपना स्वरूप ही चैतन्य आनन्दमय ऐसा जहाँ 'है' ऐसा अस्तिभाव ... अनुभव में, कहते हैं कि उसे उपसर्ग नहीं, हों! समझ में आया? ऐसी धर्म की चीज़ है। कहीं मामूली साधारण बात करे और यह धर्म हो गया... धर्म हो गया... फलाना हो गया। समझ में आया? आहाहा! और कैसे हैं सिद्ध भगवान?

क्षायिकज्ञानमय और यथाख्यातचारित्रमय होने के कारण... दो भेदवाला मैं नहीं, ऐसा कहना है। **दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ऐसे भेदवाला दो प्रकार का मोहनीय नहीं है;...** सिद्ध को मोह कैसा? इसी प्रकार द्रव्य को मोह कैसा? आहाहा! गजब शैली है न! जैसे सिद्ध भगवान को इन्द्रिय नहीं, इसलिए उपसर्ग नहीं, मोह नहीं। मोह नहीं, ऐसा हुआ कैसे? कि उनके द्रव्यस्वभाव में मोह था नहीं, इसलिए मोहरहित हो गये। और आत्मा भी मोहरहित अभी है, तो मोहरहित होकर सिद्ध होंगे। और आत्मा की दृष्टि हुई, वह जीव भी मोहरहित ही है। कहो, समझ में आया? साधक में चौथे गुणस्थान से ही... आहाहा! क्योंकि मोह तो एक दोष है। कर्म तो एकओर रखो, (परन्तु) दोष भी नहीं। आहाहा! सिद्ध को नहीं, उसी प्रकार द्रव्य में नहीं, इसी तरह द्रव्यदृष्टिवन्त को नहीं। समझ में आया? देखो! ऐसा धर्म है। आहाहा! वीतरागीस्वरूप

ऐसा भगवान आत्मा, उसे वीतरागता, सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि प्रगट होने से—धर्म प्रगट होने से, उसे अधर्म ऐसा मोह कहाँ से होगा? ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

दो भेदवाला—दो प्रकार का मोहनीय नहीं। विस्मय। आहाहा! **बाह्य प्रपंच से विमुख होने के कारण (उसे) विस्मय नहीं है;...** सिद्ध को विस्मय क्या? पूर्ण केवलज्ञान से पूर्ण जानना-देखना (ऐसा) एक समय में परिणमन हो गया है। यह! यह! ऐसा विस्मय नहीं। इसी प्रकार भगवान आत्मा के स्वभाव में भी विस्मय नहीं। (द्रव्य में विस्मय) नहीं था, तब तो (पर्याय में विस्मय रहित) हुआ। आहाहा! समझ में आया? और उस आत्मा का स्वीकार करनेवाला, उसका ऐसा शुद्ध चैतन्यज्ञायकभाव अस्तित्व है, ऐसा अनुभव करनेवाले, माननेवाले, जाननेवाले साधक को विस्मय नहीं है। समझ में आया? विस्मय तो विकल्प है। उसमें नहीं, उसे नहीं। वह तो पर है। आहाहा! समझ में आया?

विस्मय नहीं... ऐसा कुछ नया लगे। आहा! ऐसा! आहाहा! क्या है? भाई! ऐसी विस्मयता ऐसी तुझे पर की कुछ अद्भुतता लगे, वह तो राग है, वह विकल्प है। ऐसी विस्मयता सिद्ध को नहीं। परन्तु सिद्ध को विस्मयता नहीं, ऐसा हुआ कैसे? वस्तु में विस्मयता नहीं। आहाहा! ऐसा विस्मय आश्चर्यकारी राग होना... आहाहा! ऐसा यह! समझ में आया? इतने पैसे पैदा हो गये! छोटी उम्र का और पाँच-दस करोड़, अरब-दो अरब! विस्मय हुआ। क्या विस्मय? क्या है परन्तु अब? समझ में आया?

विस्मय नहीं... और एक ओर भगवान के शरीर को देखकर इन्द्र हजार नेत्र करता है देखने के लिये। ऐसा शास्त्र में आता है, लो! ऐसा सुन्दर-रूपवान शरीर है, सब कोमल अवयव कि एक-दो आँख से देखने में तृप्ति नहीं होकर हजार नेत्र करे और है क्षायिक समकिती। आहाहा! तथापि उसे पर्याय में विस्मय नहीं। आहाहा! गजब बात है! समझ में आया? द्रव्य में तो नहीं, परन्तु द्रव्य में नहीं, ऐसा जिसने द्रव्य का भान किया, उसे उसकी पर्याय में भी नहीं। आहाहा! गजब बात है! कहो, समझ में आया इसमें? लाख पैदा हो महीने के, दो लाख पैदा हो, पाँच लाख पैदा हो। आहाहा! लड़का भारी कमाऊ जगा, हों! कहे। ऐ पोपटभाई! लड़का लड़के का, ऐसा करके बहुत न

करे। भाई! उसका विस्मयपना होना, वह तो वस्तु के स्वरूप में नहीं न भगवान! होवे तो सिद्ध क्यों विस्मयरहित हो गये? आहाहा! कहो, ...भाई!

परन्तु यहाँ नागनेश के घर में करोड़पति के पुत्र, (तो) विस्मय नहीं होगा? होगा या नहीं कुछ? ऐई मलूकचन्दभाई! नहीं होगा? क्योंकि वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ... यह क्या है? अद्भुताद्भूतं तो उसका अपना स्वरूप है। समझ में आया? उसे किसी चीज़ की अद्भुतता दिखायी नहीं देती। आहाहा! देखो! यह वीतरागीमार्ग। आहाहा! समझ में आया? **विस्मय नहीं है; नित्य-प्रकटित शुद्धज्ञान-स्वरूप होने के कारण (उसे) निद्रा नहीं है;...** भगवान को निद्रा नहीं। आहाहा! **नित्य-प्रकटित...** नित्य प्रगट हुआ है भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप। ऐसा **शुद्धज्ञानस्वरूप होने के कारण (उसे) निद्रा नहीं है;...** आहाहा! निद्रा नहीं—ऊंघ नहीं। वह कर्म... कर्म और कर्म का भाव दोनों। कहो, समझ में आया?

निद्रा नहीं। वस्तु आत्मद्रव्य में भी निद्रा नहीं और आत्मद्रव्य के दृष्टिवन्त को निद्रा नहीं। गजब! ऐई! निद्रा के प्रमादभाव से समकिती मुक्त है। ऐई! भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु पूर्णानन्द के सत्-पने विराजमान ऐसी चीज़ में निद्रा नहीं। उसकी पर्याय में प्राप्त हुए ऐसे सिद्ध को निद्रा नहीं, ऐसी द्रव्यदृष्टि जिसे प्राप्त हुई, उसे निद्रा का अभाव है। साधु को आता है न? पिछले पहर में जरा... ऐई! वह सब व्यवहार बतलाया है। आहाहा! गजब बात, भाई! वीतराग के मार्ग की शैली भी गजब है! वस्तु के स्वभाव की शैली है न! स्वभाववादी का यह कथन है। पहले आ गया न। विभाववादियों! तुम्हारा हमको मान्य नहीं। यह ज्ञान जाने, दर्शन देखे, आत्मा जाने-देखे—यह सब व्यवहारवादियों की बात है।

हम तो एक ही अखण्डानन्द भगवान पूर्णानन्द प्रभु चैतन्य का पिण्ड प्रभु, अनाकुल आनन्द का अकेला समुद्र, ऐसी वस्तु में निद्रा कैसी? और ऐसी जहाँ पूर्ण पर्याय प्रगट हो गयी, उसे (निद्रा) कैसी? और पूर्ण हुई नहीं, परन्तु भान में आया... आहाहा! कहो, नेमिदासभाई! ऐसा है यह। निद्रा नहीं। यहाँ तो सोते हैं न समकिती? दो घण्टे, चार-चार घण्टे सोये, पाँच-सात घण्टे। मुनि भी पिछली (रात्रि) में जरा सा...

वह तो ... होता है, वह जाननेयोग्य है। उनमें—अस्तित्व में है, ऐसा नहीं। समझ में आया? ऐ नानजीभाई! ऐसा मार्ग है। आहाहा! समझ में आया?

असातावेदनीय कर्म को निर्मूल कर देने के कारण.... भगवान को, असाता-वेदनीयकर्म के निमित्त से क्षुधा, तृषा हो, उस असातावेदनीय कर्म को मूल में से नाश किया होने से **(उसे) क्षुधा और तृषा नहीं है।** आहाहा! लो, सिद्ध भगवान को क्षुधा-तृषा नहीं। यहाँ तो केवली को ठहराते हैं क्षुधा-तृषा। यहाँ तो कहते हैं कि समकिती को क्षुधा-तृषा नहीं, सुन न! वह तो ज्ञान में ज्ञेय—जाननेयोग्य है। जठर में क्षुधा आदि होती है, वह तो पर है, वे तो जानते हैं। आहाहा! समझ में आया? 'ऐसा मार्ग वीतराग का, भासित श्री भगवान...' आहाहा! कहते हैं कि क्षुधा-तृषा नहीं तो फिर समकिती रोटियाँ नहीं खाता? ऐई! ज्ञानी खाता नहीं, परन्तु उसे राग होता है न? परन्तु वह राग है, उसका अस्तित्व स्वीकार करनेवाले को राग है। राग का अस्तित्व मुझमें नहीं। मैं तो वीतरागमूर्ति चिदानन्द हूँ... आहा! ऐसा स्वीकार करनेवाले को क्षुधा-तृषा की इच्छा ही नहीं।

यह तो कहा नहीं? निर्जरा अधिकार में। आहार की इच्छा नहीं, पानी की इच्छा नहीं, मुनि को नहीं। यह तो उसका अर्थ ही यह हुआ। आहाहा! गजब शैली! चारों ओर से देखो तो...! भगवान आत्मा अकेला ज्ञान का सागर अस्ति वस्तु है न, पदार्थ है न! पदार्थ है तो उसका स्वभाव परिपूर्ण ही होगा न! पदार्थ एक ओर परिपूर्ण तो उसका स्वभाव अनन्त ज्ञानादि परिपूर्ण और एक, अभेद है। ऐसे आत्मा में क्षुधा-तृषा नहीं। सिद्ध को नहीं, परमात्मा हुए उन्हें नहीं, तो केवली को भी नहीं। तब कहे, सिद्ध को और केवली को... मैंने देखा है तुम्हारे में ग्यारह परीषह। .... ग्यारह परीषह... फिर तुम्हारे करना पड़ा उपचार से। ऐई! .... और कहे कि वह उपचारमात्र है। ऐसा वापस अर्थ किया था। हमारे पण्डितजी ने अर्थ किये पंचास्तिकाय के। अर्थ करके वापस साफ किया (मिटाया), ऐसा वे कहते हैं। सुन न...! यह तो स्पष्टीकरण किया। उसमें क्या कहना चाहते हैं, उसे खुल्ला रखा है। सामान्यरूप से हो, उसे यहाँ विशेषपने स्पष्ट होता है, उसमें क्या है? समझ में आया?

धर्मधारा... धर्म जिन्हें पूरा हो गया, ऐसे सिद्ध को क्षुधा-तृषा नहीं, केवली को भी नहीं, वस्तु में नहीं, वैसे ज्ञानधारा में भी कहीं क्षुधा-तृषा इकट्ठी नहीं आती। आहाहा!

कहो, समझ में आया? कहो, हीराभाई! आहाहा! साधक, सिद्ध और द्रव्य तीनों हो गये। द्रव्य में हो तो पर्याय में रहे सिद्ध को। ऐसे द्रव्य में हो तो समकिती को पर्याय में रहे। आहाहा! समझ में आया? ऐसा भगवान अद्भुताद्भुत आनन्द और ज्ञान का विलासी आत्मा, उसे क्षुधा=तृषा कैसी? कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

उस परम ब्रह्म में (-परमात्मतत्त्व में) सदा ब्रह्म (निर्वाण) है। ऐसे आत्मा में तो सदा ही निर्वाण है। सिद्धपद की पर्याय में सदा ही निर्वाण है, यह द्रव्य में भी सदा ही निर्वाण है। आहाहा! और समकिती को मुक्तपना द्रव्य का भासित हुआ, इसलिए उसे सदा ही निर्वाण ही है, मुक्तपना दृष्टि में है इसलिए। आहाहा! व्यवहार से मुक्त है, निर्वाण से पूर्ण हुए। मुक्तस्वरूप भगवान है, उसमें मुक्तस्वरूप की दृष्टिवन्त को भी मुक्तस्वरूप ही है। समझ में आया? यह सब आठ कर्म और उनके राग सब पड़े हैं न? वह सब व्यवहार जाननेयोग्य हैं। मुझमें है, ऐसा खतौनीयोग्य नहीं। आहाहा! **उस परम ब्रह्म में (-परमात्मतत्त्व में) सदा ब्रह्म है।** ऐसे आत्मा में ही निर्वाण है। कहीं अन्यत्र निर्वाण बाहर अलग है, (ऐसा नहीं)। निर्वाण और आत्मा, सिद्ध और आत्मा... आगे कहेंगे। सिद्ध और निर्वाण दोनों एक ही है। समझ में आया? आगे गाथा कहेंगे न अन्त में। एक ही बात है। निर्वाण कहीं नाम दूसरा पड़ा इससे नाम ... है कहीं? पूर्ण शान्ति... पूर्ण शान्ति... पूर्ण शान्ति। आहाहा!

यह सब अरबोंपति अमेरिका (वाले) थके बेचारे। उसमें कुछ चैन नहीं लगता। आहाहा! यह तो ऐसा कि ऐसे बड़े बँगले, ऐसे... ओहोहो... कहीं सुख नहीं। यहाँ... सामने दिखे, ऐसा कुछ नहीं। यह तो कुत्ते की भाँति... बड़ा बँगला बनाया पाँच-पाँच करोड़ का, नीचे लिफ्ट ऊपर चढ़े और... क्या कहलाता है वह? लिफ्ट। ऐसे ऊपर चढ़े। जैसे कौआ उड़े, वैसे उड़े। वह बैठकर उड़े। क्या है परन्तु? आहाहा! वहीं का वहीं नीचे उतरे फिर। दीवान... उसे क्या कहा जाता है? नाम क्या? दीवानखाना हो, आठ-दस बँगले बड़े। ऐई पोपटभाई! ऐसे मकान हैं या नहीं? देखे हैं या नहीं तुम्हारे? नये बनाये वे देखे हैं? चालीस लाख का नया बनाया न? वह देखा? ऐसे कपड़े-बपड़े पहने हो, मानो कोई ऊपर से उतरा... धूल में भी नहीं कुछ। आहाहा!

अरेरे! सुख के सागर के सन्मुख न देखकर, यह पर के सन्मुख देखकर विस्मय और प्रसन्न हो, वह आत्मा का अनादर करता है। आहाहा! समझ में आया? वह परमब्रह्म में—परम परमात्मा के परमस्वभाव में... उसकी पर्याय यहाँ सदा ब्रह्म नहीं। सदा ब्रह्म है, द्रव्यरूप से वस्तु आत्मा, परन्तु सदा ब्रह्म-निर्वाण है। आत्मा का द्रव्य जो वस्तु है, वह मुक्तस्वरूप ही है। मुक्तस्वरूप है तो पर्याय में मुक्त होता है। समझ में आया? तू है मोक्षस्वरूप... आता है उसमें। अपने आता है कलश में। 'मुक्त एव' कलश में आता है। 'सम्यग्दृष्टि मुक्त एव।' मुक्त है। व्यवहार से मुक्त है अर्थात् फिर व्यवहार उसमें नहीं रहा तो क्या रहा? राग से मुक्त है। आहाहा! गजब बात है न!

जिसने धर्मी को धारण किया, धर्मी ऐसा भगवान आत्मा दृष्टि में, ज्ञान में अनुभव करके धारण किया, कहते हैं कि उसमें राग और संसार का धरना, टिकना है नहीं। आहाहा! निर्वाण है। यह आता है। समकित हुआ, उसे मुक्ति हुई—ऐसा भी आता है। मुक्त हुआ। वह पर्याय में (अपूर्णता) थोड़ी बाकी है, वह पूर्ण मुक्तस्वरूप को अनुभव में लिया, उसे कब्जे में किया पूरे आत्मा को श्रद्धा ने—ज्ञान ने, वह पर्याय बाहर आने की थोड़ी-थोड़ी। समझ में आया? आहाहा! ऐसे आत्मा की जिसे खबर नहीं, ऐसे आत्मा की जिसे श्रद्धा और पहिचान नहीं, वह चाहे जैसा बड़ा कहलाता हो, वह सब ही खोटा है। आहाहा!

इसी प्रकार (श्री योगीन्द्रदेवकृत) अमृताशीति में (५८वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

ज्वर-जनन-जराणां वेदना यत्र नास्ति,
परिभवति न मृत्युर्नागतिर्नो गतिर्वा।
तदतिविशदचित्तैर्लभ्यतेऽङ्गेऽपि तत्त्वं,
गुणगुरुगुरुपादाम्भोजसेवाप्रसादात्॥

ज्वर, जन्म, जरा—सब जजजा डाला। इस शरीर में भी ऐसा ही भगवान है, ऐसा कहते हैं।

श्लोकार्थः—जहाँ (जिस तत्त्व में) ज्वर,... नहीं। बुखार-वुखार नहीं उसमें।

आत्मभगवान ज्ञानानन्द भगवान में बुखार कैसा? और जहाँ **जन्म** नहीं। सिद्ध को बुखार और जन्म नहीं, इसी प्रकार आत्मा को भी बुखार और जन्म नहीं। आहाहा! **जरा की वेदना नहीं...** वृद्धावस्था हो, फोड़ा हो, चमड़ी हरी पड़े, उठे नहीं, पानी मुँह में से झरे, आँख में कीचड़ आये, कान बहरा हो। आहाहा! ऐसी जरा की वेदना नहीं। वृद्धावस्था की वेदना सिद्धपरमात्मा अशरीरी को नहीं, वैसे इस भगवान आत्मा में भी जरा नहीं। वह तो जड़ की अवस्था है। आहाहा! समझ में आया? जरा—वृद्धावस्था तो देह की है, आत्मा को है नहीं। सिद्ध को नहीं, वैसे इस आत्मा को नहीं। बराबर होगा? महाराज भी सबसे हाँ कराते हैं।

तुम न्याय तो देखो! तेरी अस्ति में तू अस्तिवाला—सत्तावाला पदार्थ है या नहीं? उस पदार्थ में क्या उसका स्वभाव है? उसका स्वभाव ज्ञान है, आनन्द है, शान्ति है, स्वच्छता है, प्रभुता है, अणीन्द्रियता है, ऐसा उसका स्वभाव परिपूर्ण है। ऐसे परिपूर्ण स्वभाव में आहार कैसा? ऐसे भगवान में आहार कैसा? आहाहा! जैसे पानी में तेल पड़ने पर भी तेल तो ऊपर ही रहता है। प्रवेश करता है अन्दर? पानी तो पृथक् द्रव्य है। ऊपर तेल के बिन्दू डालो तो भी ऊपर रहे, पानी में प्रवेश नहीं करते। इसी प्रकार अनन्त बल का धनी भगवान पानीवाला—तेलवाला, उसमें संसार और रागादि प्रवेश करते ही नहीं। आहाहा! समझ में आया?

इतना बड़ा आत्मा इसे बैठता नहीं। बीड़ी बिना चलता नहीं, तम्बाकू बिना चलता नहीं। और कोई मान-अपमान में एक नाम से बुलावे, वहाँ यह शिथिल पड़ जाये। फलाना भाई क्यों नहीं कहा? ऐसा क्यों कहा, ऐसा कैसे कहा? पोपटभाई क्यों नहीं कहा? ऐसा कैसे कहा पोपट? यह क्या है परन्तु...? और मेरी हीनता क्यों दिखायी? भाषा में महत्ता... उसकी माँ पोपट कहे तो दिक्कत नहीं। परन्तु यदि कोई उसे खोटा लगे, ऐसा कहे... यह क्या? परन्तु कहाँ है तू पोपट? और तू कहाँ है उड़नेवाला? कुछ है नहीं। आहाहा! तुझमें जरा-फरा है नहीं। शरीर ही नहीं, उसे शरीर की अवस्था कहाँ से लाना अन्दर? ऐसा कहते हैं।

मृत्यु नहीं... उसमें जन्म डाला है, इसलिए मृत्यु डाला। मरे कौन? सिद्ध मरे? सूर्य मरे? आता है न? यह सूर्य का किसी ने स्नान किया? शाम को अस्त हो जाये तो

मर गया लगता है, ऐसा नहीं कहा? शाम को अस्त हो जाये तो मर गया, तो करो स्नान। यहाँ जहाँ शरीर छूटे तो मर गया, करो स्नान। ऐसा है। मरे कौन? समझ में आया? सिद्ध मरते नहीं, द्रव्य मरता नहीं और द्रव्य की पर्यायवाला मरता नहीं। जीवती ज्योति चैतन्य भगवान को मरना क्या? आहाहा! समझ में आया?

गति या आगति नहीं है,... गति अर्थात् जाना, आगति अर्थात् वापस मुड़ना गति में से। ऐसा उसे नहीं। सिद्ध को हो गयी, वह हो गयी गति, अब नहीं। अब कहीं जाना नहीं और आना नहीं। आहाहा! इसी प्रकार इस आत्मा में भी गति-आगति नहीं। किसी गति में गया और उस गति में से आया—ऐसा आत्मा में नहीं। ऐसे आत्मा को स्वीकार करनेवाले धर्मी को भी गति-आगति नहीं। वह मनुष्यगति में समकिती है? नहीं। देवलोक में जाता है? नहीं। अरे! यह गजब। भगवान चैतन्यप्रभु अनाकुल आनन्द का स्वरूप जिसका है, उसमें दृष्टि जहाँ स्थापित हुई, वह कहाँ गति करे और कहाँ गति में जाये और वापस मुड़े? जहाँ है, वहाँ है। आहाहा! समझ में आया?

उस तत्त्व को अति निर्मल चित्तवाले पुरुष,... देखो! ऐसे तत्त्व को अति निर्मल चित्तवाले पुरुष... **शरीर में स्थित होने पर भी,...** है न? '**अंगेपि**' श्लोक में है तीसरे पद में। शरीर में... क्या कहना? और कहते हैं कि शरीर में नहीं। समझाना कैसे? आहाहा! **शरीर में स्थित होने पर भी,...** अर्थात् क्षेत्र में ऐसा लगे कि मानो इस शरीर में है, ऐसा। उसमें रहा होने पर भी **गुण में बड़े ऐसे गुरु के चरणकमल की सेवा के प्रसाद से...** आहाहा! सन्त, महन्त, धर्मात्मा गुरु जिसे आत्मा की गुरुता प्रगट हुई है, अन्तर में भगवान ऐसा गुरु ज्ञानानन्द से भरपूर, उसकी दशा में जिसे गुण की गुरुता प्रगट हुई है। आहाहा! गुण की महत्ता प्रगट हुई है।

इस पदवी की महत्ता नहीं कहते? जरा सा दे वहाँ... आहाहा... क्या कहलाता है तुम्हारे? जे.पी. पूंछडा आवे तो जे.पी. का वहाँ आहाहा... बड़ा हो गया। उसे यह पदवी दी, उसने यह पदवी दी। पदवी ही कैसी...? वहाँ कहाँ घुसा था पदवी में यह? आहाहा! कहते हैं, **गुण में बड़े ऐसे गुरु के...** भाषा व्याख्या ऐसी की। गुण में बड़े ऐसे गुरु... अपने आत्मा की दशा आनन्द की, ज्ञान की, धर्म की परिणति जिसे बहुत ऊँची हो गयी है, ऐसे गुण में बड़े... गुण शब्द से उनकी पर्याय। गुण तो गुण है। उनकी निर्मल

पर्याय में अपने से जो बड़े—अधिक हैं **ऐसे गुरु के चरणकमल की सेवा के प्रसाद से...** ऐसे गुरु जो आत्मा की बात करते हैं। ऐसा आत्मा तू है, उसे मान, अनुभव कर। उसके उपदेश में यह होता है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहाँ आया है इसमें? क्या कहा?

मुमुक्षु : ....उड़ा देने की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उड़ा देने की है। है, ऐसा करके उड़ा देने की है। आहाहा!

महा प्रभु की—आत्मा की दशा में जिसे निर्मलता गुरु अर्थात् बढ़ गयी है, उस पदवी में जो आये, गुण में जो गुरु हुए, उस पदवी में आये हुए, उनकी चरणकमल की सेवा... चरण (कमल की सेवा) अर्थात् पैर दबाना होगा? पाठ तो यह है। उसके समीप में उन्होंने कहा, वैसा एकत्रित किया। समझ में आया? आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य ने कि हमारे गुरु अन्तर निमग्न थे। आहाहा! उन्होंने हमारे ऊपर मेहरबानी की। प्रसादी, अनुग्रह करके प्रसादी दी। समझ में आया?

सत्यनारायण की कथा में आता है न? अन्त में क्या कहलाता है वह? प्रसादी। प्रसादी नहीं कुछ अलग नाम है। वह प्रसाद नहीं ले गया तो एक व्यक्ति का जहाज टूट गया। ऐसा आता है अर्थात् क्या कि सुननेवाले ठेठ तक बैठे, ऐसे हेतु से (बात है)। सत्यनारायण की कथा आती है न। वहाँ सुनी है, हमारे पालेज में आती थी। ब्राह्मण बोले कि यह प्रसाद लिये बिना फलानी बाई ने... कुछ नाम आता है। लीलावती या ऐसा कुछ नाम। बहुत वर्ष पहले नाम सुना था। बहुत वर्ष की बात है यह तो। पालेज में सुना हुआ पालेज में।

हमारे एक बार... थे। है स्थानकवासी, वे उसे मानते हैं। सत्यनारायण की कथा। वह इस प्रमाण प्रसाद लिये बिना गयी, उसका पति ऐसे मर गया, उसका ऐसा हुआ, फलाना हुआ। जहाज डूबा... जहाज डूबा। ऐसे नाटक करते थे। वह प्रसादी यह। धर्मात्मा ने आत्मा के आनन्द की बातें प्रसादी की और उसने सुनकर धारण नहीं की, उसका जहाज डूबा, ऐसा कहते हैं। उसका यहाँ क्या काम है धूल का?

सत्यनारायण की कथा सुनी है ? नाग्नेश में सत्यनारायण की चलती होगी। यहाँ सुनी है। आहाहा!

....सत्यनारायण तो यह। त्रिकाली सत्यनारायण सच्चिदानन्द प्रभु स्वयं सत्यनारायण—नर का नारायण हो, ऐसी इसमें सामर्थ्य है। ऐसे सत्यनारायण की कथा सुने बिना कोरा जाये, उसका जहाज डूबे, ऐसा कहते हैं। यह तब सुनी थी। जहाज डूब गया, ऐसा कहे। पत्ते हो गये। जहाज में माल लेकर भरा था, वह पत्ते हो गये। यह सच्ची बात। यह तो बहुत वर्ष हो गये। माल भरा था, उसके पत्ते हो गये। ऐई, नेमिदासभाई! सुना था यह ? सत्यकथा तो सुनने गये होंगे किसी वैष्णव-फैष्णव में। ... आहाहा!

ऐसे चरणकमल की सेवा के प्रसाद से... लो। शरीर में रहे परन्तु भगवान देव-गुरु की कृपा से और गुरु की सेवा से... आहाहा! लो ठीक! उसे **अनुभव करते हैं।** बापू! प्रभु! ऐसा तेरा आत्मा है। सिद्ध समान ही तेरा स्वरूप है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो...' यह सिद्ध की व्याख्या आवे, परन्तु तू सिद्ध समान ही है। ऐसा कहकर शरीर में अनुभवता है। उसे सिद्ध समान का आनन्द आता है। बराबर आये पण्डितजी! उसे यहाँ धर्मी कहा जाता है। टीका कहेंगे, लो!

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण ११, सोमवार, दिनांक-१३-१२-१९७१
श्लोक-३००-३०१, गाथा-१८१-१८२, प्रवचन-२०१

नियमसार, १८० गाथा का कलश है, ३००वाँ कलश।

यस्मिन् ब्रह्मण्यनुपमगुणालङ्कृते निर्विकल्पे-
ऽक्षानामुच्चैर्विविधविषमं वर्तनं नैव किञ्चित्।
नैवान्ये वा भवि-गुण-गणाः सन्सृतेर्मूलभूताः,
तस्मिन्नित्यं निजसुखमयं भाति निर्वाणमेकम्॥३००॥

सिद्ध के गुण की व्याख्या है, ऐसे ही आत्मा के हैं।

श्लोकार्थः—अनुपम गुणों से अलंकृत... भगवान आत्मा और सिद्ध, वे अनुपम गुणों से शोभावाले—अलंकृत हैं। उसका अलंकार, अनन्त अनुपम गुण, वही उसका अलंकार है। आहाहा! समझ में आया? इन दोनों में, जो चैतन्य भगवान आत्मा है, वह अनन्त अनुपम गुणों से शोभित है। जैसे शरीररहित, परमात्मा शरीररहित अनन्त अनुपम गुण से शोभित है, ऐसा ही यह भगवान आत्मा अन्दर अनन्त अनुपम गुण से अलंकृत है। समझ में आया? और एक प्रश्न उठा था न यह क्षायिक का। सिद्ध को तो क्षायिक है और यथाख्यातचारित्र है। आत्मा में कहाँ है समकिती को? तीन में घटित किया था न! ऐसा है कि आत्मा में अनन्त गुण हैं, उन अनन्त गुण का भान होने पर, स्वसंवेदन आत्मा की प्रतीति, अनुभव होने पर, जितने गुण हैं, उन सब गुणों का अंश प्रगट हुआ। वास्तव में तो घाति जो गुण (के घात) में निमित्त है, उस गुण का भी अंश प्रगट हुआ है। आहाहा! सर्व गुण हैं।

भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में अनन्त-अनन्त गुण के स्वभाव से भरपूर प्रभु आत्मा है। ऐसे अनन्त गुण का अन्तर स्वभाव सन्मुख होकर जहाँ स्वीकार हुआ... समझ में आया? ऐसे अनन्त गुण के अस्ति-सत्ता का स्वीकार अर्थात् वह स्वयं ही उसकी पर्याय में अनन्त गुणों का अंश प्रगट हुआ और द्रव्य से देखें तो इन सिद्ध के

आठ गुण से आत्मा अलंकृत है। आ गया है यह ? यह ४७-४८ गाथा में आया है। सिद्ध जैसे ही आत्मा में आठ गुण अलंकृत है, वस्तु से अन्दर। समझ में आया ? ४७-४८ गाथा। जैसे सिद्ध परमात्मा अशरीरी आत्मभगवान, वैसा ही यह आत्मा सिद्ध के आठ गुणों से अलंकृत है। अब वे तो क्षायिकगुण हैं। समझ में आया ? परन्तु इसके स्वभाव में वह सब पड़ा है, इससे वह सिद्ध समान ही भगवान आत्मा है। भारी बैठना कठिन।

दूसरी बात। उसकी पर्याय में भी—अवस्था में भी अनन्त गुणों के जितने संख्या से भाव है, उसकी आंशिक शक्ति भी प्रगट हो गयी है। वह प्रगट हुई है, उसे पूर्ण कहते हैं एक नय से, तो भी कह सकते हैं। समझ में आया ? आहाहा! वह भगवान भी एक समय में परिपूर्ण प्रभु 'पूर्णं इदं' ऐसा भगवान आत्मा अपना निजस्वभाव, उसमें जितनी सिद्ध को प्रगट हुईं पर्यायें, गुण, दशा—वह सब इसमें है। है न? ऐ पण्डितजी! आहाहा! अरे! आत्मा की क्या बात! लोगों को, आत्मा क्या है, उन्हें ख्याल में नहीं। यह आत्मा... यह (शरीर) तो हड्डियाँ, जड़, मिट्टी-धूल है। अन्दर में पुण्य और पाप के विकल्प राग होता है, वह तो पर है, वह कहीं आत्मा में है नहीं। आहाहा! आत्मा तो अनन्त अनुपम गुण से अलंकृत है। जैसे सिद्ध भगवान भी अनन्त-अनन्त बेहद—अपरिमित गुण की संख्या से प्रगट में अलंकृत और अनुपम है, ऐसा ही यह भगवान आत्मा 'सिद्ध समान सदा पद मेरो...' आता है ?

सिद्ध में तो क्षायिकपर्याय है, वह और कहाँ डाला? आया था न उसमें? क्षायिकज्ञान और यथाख्यातचारित्र। यह और कहाँ इसमें डाला वापस ? भाई! यह वस्तु से पूरा स्वभाव जहाँ स्वसन्मुख होकर पूर्णानन्द का नाथ आत्मा, वह जहाँ अनुभव में और प्रतीति में आया, कहते हैं कि उसे सिद्ध समान सब गुण प्रगट हुए, भले आंशिक प्रगट हुए, परन्तु पूर्ण प्रगट हुए, ऐसा भी कहा जाता है। आहाहा! और अल्प काल में प्रगट होनेवाले हैं। आहाहा! जिसे अनन्त-अनन्त बेहद ऐसे गुणों की संख्यावाला एक तत्त्व... सवेरे पूछते थे भाई। परन्तु अभी आये नहीं। ववाणिया के थे न। वहाँ आये थे, गुरुकुल में आये थे। व्याख्यान में आये थे सवेरे। सवेरे या दोपहर में ? नहीं बैठे थे ? ववाणिया के प्रायः ब्राह्मण थे। वे पूछते थे। यह बात सच्ची, परन्तु किस प्रकार हमारे आत्मा को जानना ? श्रीमद् ने ऐसा कहा कि 'जो स्वरूप समझे बिना...' बोले थे।

ववाणिया के हैं न। यहाँ आये... भाई को ठीक नहीं और गये हैं। मणिभाई को ठीक नहीं। अहमदाबाद गये हैं।

आहाहा! अरे भगवान! तू तुझे अनजाना रहे—यह तो विस्मय हो गया है। स्वयं भगवान सच्चिदानन्द प्रभु सत्-शाश्वत्, अनन्त गुण के सागर से भरपूर... आहाहा! कहते हैं कि उसकी शोभा अनन्त गुण के कारण से है। इस शरीर को शृंगारते हैं न! गहने और यह और यह, अन्दर टीकाटपला करके। वह तो धूल-मिट्टी है, वह तो मुर्दा है। उसी शोभा के लिये उसके अवयव उसे पर्याप्त नहीं लगते। दूसरी चीज़ कुछ डाले, ऐसे गहने... उसी प्रकार आत्मा अन्दर अलंकृत अपने गुण से शोभित है। उसे दूसरी कोई आवश्यकता नहीं है। आहाहा! समझ में आया? उसने अनन्त काल से नहीं जाना हो तो वह अपना तत्त्व, बाकी सब इसने दया, दान, व्रत और भक्ति और पूजा अनन्त बार की। कहो, समझ में आया? जैन का दिगम्बर साधु भी अनन्त बार हुआ, क्या हुआ उसमें? वस्तु क्या है? भगवान आत्मा अन्दर परिपूर्ण चैतन्यनाथ को जहाँ अनुभव में और दृष्टि में न आवे, तब तक वह धर्मी हो सकता नहीं। समझ में आया? आहाहा!

पहले शब्द में देखो न! **अनुपम गुणों से अलंकृत है...** सिद्ध भी ऐसे हैं और यह आत्मा भी ऐसा है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **निर्विकल्प...** भगवान तो निर्विकल्प हैं। उसे राग का सम्बन्ध नहीं। विकल्प जो रागादि (के साथ) सम्बन्ध नहीं, अभेद चीज़ है भगवान आत्मा। पूर्णानन्द प्रभु अभेद चीज़ आत्मा **ऐसे जिस ब्रह्म में...** ऐसा जो ब्रह्म **(आत्मतत्त्व में)...** उसे **इन्द्रियों का अति विविध और विषम वर्तन किंचित् भी नहीं ही है,...** आहाहा! सिद्ध को भी नहीं। नहीं हुआ क्यों? नहीं था तो नहीं हुआ। आहाहा! अरे! उसका विश्वास, उसका अनुभव, वह तो अलौकिक चीज़ है। भाई! लोगों को उसकी कीमत नहीं। यह बाहर की कीमत। कुछ स्त्री छोड़ी, पुत्र छोड़े, वस्त्र बदले, नग्न हुआ या साधु हुआ बाहर में, वह संयम। धूल भी संयम नहीं, सुन न! बाहर के ऐसे वेश पलटे, वह तो जड़ के हैं। चैतन्य का वेश पलटे बिना... आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं कि ऐसा जो आत्मतत्त्व ब्रह्म... **इन्द्रियों का अति विविध...** भगवान सिद्ध में और आत्मा में इन्द्रियों का अति विविध प्रकार (नहीं)। पाँच इन्द्रियों का है न? **विविध** प्रकार **और विषम वर्तन,** वह स्वरूप में है ही नहीं। सिद्ध भगवान भी ऐसे हैं

और यह आत्मा भी अणीन्द्रिय है। समझ में आया? लोगों को ऐसा लगता है कि यह तो बड़ी-बड़ी बातें हैं। भगवान! तेरी महिमा की क्या बात करना! तुझे जितना व्यवहार से गिनने में आवे, उतना वैसा उसमें है नहीं। समझ में आया? आहाहा! सिद्ध को तो आठ गुण गिने व्यवहार से। निश्चय से तो अनन्त गुण हैं। समझ में आया? ऐसा ब्रह्म अर्थात् भगवान आत्मा, ब्रह्मतत्त्व—आनन्दतत्त्व आत्मा, उसमें **इन्द्रियों का अति विविध और विषम वर्तन...** यह वर्तना जरा भी नहीं। आहाहा! अशरीरी भगवान सिद्ध को नहीं, तो अशरीरी (अर्थात्) विकल्परहित आत्मा में भी वह नहीं। इन्द्रियों का विविध और विषम व्यापार भगवान आत्मा अणीन्द्रिय में है नहीं। आहाहा! समझ में आया?

नहीं ही, ऐसा वापस। विविध—अनेक प्रकार और विपरीत ऐसा वर्तन जरा भी नहीं। **संसार के मूलभूत अन्य (मोह-विस्मयादि) संसारीगुणसमूह नहीं ही हैं,...** समझ में आया? यह संसारी गुण... आहाहा! विस्मय और जरा, राग और द्वेष, पुण्य और पाप और ये सब संसारीगुण हैं। आहाहा! संसार को पुष्ट करनेवाले हैं, भटकानेवाले पुष्ट करनेवाले हैं। आहाहा! कहो, समझ में आया? दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, पूजा का विकल्प—राग, वह संसारी गुण है। आहाहा! यह तो भारी कठिन काम, भाई! ऐ गुणुभाई! उसकी जाति को जाना नहीं और जाति में क्या है, उसकी भात... जाति में क्या उसकी भात पाड़ी नहीं इसने। खोटे भाग पाड़े राग और द्वेष, पुण्य और पाप—वे सब संसारीगुण हैं। आहाहा! गजब बात है न!

ऐसा भगवान आत्मा, कहते हैं कि... 'मोह विस्मय' था न शब्द में। गाथा में था न? वह इसमें नहीं। आहाहा! होवे तो छूटे नहीं। नहीं इसलिए छूट जाता है और आत्मा जैसा परमात्मा हो जाता है। आहाहा! **उस ब्रह्म में सदा निजसुखमय एक निर्वाण प्रकाशमान है।** सिद्ध को निर्वाण है, शान्ति पूर्ण हो गयी निर्वाण। इसी प्रकार आत्मा में भी **सदा निजसुखमय...** आत्मा आनन्दमय है। **निजसुख...** अतीन्द्रिय सच्चिदानन्द आनन्द उसका स्वभाव है। अतीन्द्रिय आनन्द ऐसा उसका गुण है। ऐसे गुणमय **एक निर्वाण...** एकरूप स्वभाव निर्वाण शान्ति जिसमें पड़ी है, ऐसा आत्मा है। आहाहा! कठिन बात, भाई!

मूल आत्मा की बात छोड़कर दूसरी सब बातें। ... संयम ? वहाँ बोले थे न। यह वस्त्र बदलकर बैठे, स्त्री-पुत्र छोड़कर, हो गये (हम संयमी), हमने संयम लिया। धूल भी नहीं, सुन न! यह बाहर की चीज़ कहाँ अन्दर घुस गयी थी, उसे तूने छोड़ी ? वह ऐसा माना था कि 'मैं अल्पज्ञ और राग-द्वेषवाला हूँ', वह छोड़ना चाहिए। मैं सर्वज्ञ और वीतरागमूर्ति हूँ, ऐसी मान्यता द्वारा अल्पज्ञता और राग-द्वेष छोड़ना चाहिए। वह तो छोड़ा नहीं और यह बाहर की (वस्तु) छोड़कर बैठा। हो गये हम साधु। धूल भी नहीं, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया ? कठिन काम भाई ऐसा। अरे! तेरी महिमा की क्या बात करना! प्रभु! तू कैसा बड़ा है ? कि वाणी में नहीं आवे ऐसा। विकल्प के राग में, प्रशस्त शुभराग में न आवे। अरे! उसमें तो न आवे, परन्तु एक समय की पर्याय में पूरा रूप न आवे। आहाहा! समझ में आया ?

कहते हैं कि भगवान ब्रह्मस्वरूप प्रभु और सिद्ध ब्रह्मस्वरूप **सदा निजसुखमय...** त्रिकाल आनन्दमय है। अहाहा! **निजसुखमय,** ऐसा। सुखवाला ऐसा नहीं, निजसुखमय, अभेद है। अरे! इसका स्वीकार, इसकी दृष्टि, इसकी कीमत क्या है ? कहते हैं। समझ में आया ? **एक निर्वाण प्रकाशमान है।** मोक्षस्वरूप ही प्रकाशमान आत्मा है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहाहा! बाहर से पाँच-पच्चीस लाख मिले, बँगला मिले, स्त्री मिले, पुत्र मिले, इसलिए हम कुछ सुखी हैं। मूढ़ है। जहर का प्याला पीकर अमृत है, ऐसा मानता है। समझ में आया ? अन्दर का निर्विकल्प आनन्द, उसे भूलकर, यह सब आनन्द है, हमको मजा है, उत्साहित है हमारा वीर्य उसमें, प्रफुल्लित वीर्य होता है ऐसा। अरे भगवान! वह तो जहर की सोजिश है। समझ में आया ? क्या होगा इसमें चिमनभाई ?

यह सब बड़े पैसेवाले कहलाते हैं। ऐई! करोड़पति, दो करोड़पति, पाँच करोड़पति। जड़ के पति ? चैतन्य के पति हुए बिना उसकी शान्ति मिले ऐसा नहीं है। आहाहा! एक निर्वाण... निर्वाण... निर्वाण... स्थिरता की शान्ति है। कषायभाव बुझ गया, ऐसा। निर्वाण अर्थात् कषायभाव बुझ गया और अकषायभाव प्रगट हुआ। समझ में आया ? उसे निर्वाण कहा जाता है। भगवान भी अकषायभावस्वरूप ही है, कषायभाव का उसमें अभाव है। इससे आत्मा भी नित्य प्रकाशमान निर्वाण है। जिसके स्वीकारमात्र से शान्ति

आवे, उसकी पूर्ण प्रगटता की शान्ति की क्या बात करना! समझ में आया? १८० गाथा का कलश हुआ। गाथा १८१।

णवि कम्मं णोकम्मं णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि।
णवि धम्मसुक्कझाणे तत्थेव य होइ णिव्वाणं॥१८१॥

ऐसा निर्वाण तो कहा, परन्तु अन्दर परमतत्त्व कहा है। परन्तु दोनों व्याख्या...

रे कर्म नहिं नोकर्म, चिंता, आर्त-रौद्र जहाँ नहीं।
है धर्म-शुक्ल सुध्यान नहिं, निर्वाण जानो रे वही॥१८१॥

टीका : यह, सर्व कर्मों से विमुक्त (-रहित)... सर्व जड़कर्म और भाव (कर्म) से रहित **तथा शुभ, अशुभ और शुद्ध ध्यान तथा ध्येय के विकल्पों से विमुक्त...** शुभध्यान और अशुभध्यान—आर्तध्यान, रौद्रध्यान और धर्मध्यान और शुद्धध्यान। वह ध्यान और ध्येय के भेद के विकल्प से मुक्त **परमतत्त्व के स्वरूप का कथन है।** परमतत्त्व सिद्ध भगवान अशरीरी हुए, वे और परमतत्त्व यह भगवान आत्मा—दोनों का कथन है। आहाहा! ....परन्तु यह हो, वह उपाधि कहाँ से आयी? नेमिदासभाई! कितनी व्यवस्था में रुकना... आहाहा! यह करना और यह करना और यह करना। होशियार व्यक्ति हो तो व्यवस्था से काम ले न? धूल में भी नहीं लिया जाता, सुन न! यह होशियार कहना किसे? बाहर के काम की व्यवस्था में होशियार, वह मूढ़ है। आहाहा!

भगवान आत्मा... नेमिदासभाई! लो, अब अकेले को उपाधि कितनी? क्या करना इन मकानों का? यह सब डालना कहाँ? कैसे करना? कितनी चिन्तायें आवे अन्दर। बाकी समरूपता रखनी चाहिए। जरा हाथ में रखे नहीं तो वापस कोई सेवा नहीं करे। यह सब हाय... हाय... उपाधि भी कितनी? ऐ पोपटभाई! आहाहा! भाई! तेरा आत्मा तो अनन्त गुण का हीरा है। समझ में आया? तेरे हाथ में तेरी चीज़ है। यह तो धूल भी तेरी चीज़ नहीं। आहाहा! ...परन्तु नहीं वहाँ उलझा (और) है, वहाँ देखता नहीं। पोपटभाई! आहाहा!

(परमतत्त्व) सदा निरंजन होने के कारण... सिद्ध भगवान तो सदा निरंजन है, उसी प्रकार यह आत्मा भी त्रिकाल निरंजन है। आहाहा! **'सदा निरंजन'** है न? तीनों

काल भगवान राग के अंजन—मैल से रहित प्रभु है। निरंजननाथ... अंजन... अंजन... निर्-अंजन। पुण्य और पाप के विकल्प अंजन अर्थात् मैल अर्थात् कालिमा है। उनसे (भिन्न) भगवान आत्मा निरंजन है। आहाहा! समझ में आया? **सदा निरंजन...** प्रभु! तीनों काल में तेरी जाति में तो निरंजनता है। अंजन अर्थात् मैल... आँख को अंजन लगाते हैं न, तब उस अंजन से और शोभे, ऐसा कहे। इस अंजन से अशोभे। समझे? यह ऐसा है। यहाँ अंजन लगे... लड़के छोटे हों तो लगाते हैं न सवेरे। काली लगे, अच्छी लगे, ऐसी टिकड़ियाँ, शोभे। यहाँ तो कहते हैं कि अंजन से आत्मा अशोभे। वह तो निरंजन से शोभता है। आहाहा!

सदा निरंजन होने के कारण... ऐसा। तीनों काल सिद्ध भगवान और आत्मा निरंजन होने के कारण **(उसे) आठ द्रव्यकर्म नहीं हैं;...** यह आठ कर्म नहीं। कर्म, कर्म में जड़ है वह तो। जड़ जड़ में, आत्मा आत्मा में। आत्मा में कर्म कैसे? भारी कठिन... आठ कर्म सहित है। अरे! त्रिलोकनाथ भी ऐसा कहते हैं कि आठ कर्म के कारण जीव भटका7 लो, ऐसा कहते हैं यह तो। ऐई! (संवत्) २००६ के वर्ष में वहाँ पालीताणा। २००६ के वर्ष में। बाईस वर्ष हुए। प्रतापभाई, कैसे प्रताप? जीवा प्रताप। वे आये लेकर... ऐसा कहते हैं ऐसा। तुम पुण्य-पाप मानते नहीं, कर्म के कारण भटकते हैं, ऐसा भगवान कहते हैं (और) तुम कहते है कि कर्म के कारण नहीं, अपनी भूल के कारण भटकता है। ऐसा नहीं। भगवान ने ऐसा नहीं कहा। ऐसा विवाद। अरर! क्या करता है तू? तू भूला और भूल डाले कर्म के ऊपर। ऐसा अन्याय करनेवाले को आत्मा का स्वरूप कैसे प्राप्त हो? आहाहा!

कहते हैं कि तू तो आठ कर्मरहित है। वस्तु आत्मा आठ कर्मरहित है। कर्म तो जड़ है, भगवान तो चैतन्यमूर्ति आत्मा है। उसमें कर्म कैसा अन्दर? आहाहा! यह विवाद उठे। ऐ चेतनजी! अनन्त उपकारी ऐसा कहते हैं। ऐसा कहा है, हों! अनन्त उपकारी जिनराज ऐसा कहते हैं कि आठ कर्म के कारण भटका (और) तुम उसका विरोध करते हो। कर्म के कारण भटका नहीं। अपने स्वरूप को नहीं जाना, नहीं माना, नहीं पहिचाना, इसलिए भटका है। 'अपने को आप भूलके हैरान हो गया...' कर्म-बर्म कोई भटकाता नहीं। 'अपने को आप भूलके हैरान हो गया...' यह तो सादी बात है,

लो। इसमें भी विवाद। अरे भगवान! कहाँ लेकर... अरेरे भाई! तू विवादरहित चीज़ है न, नाथ! यह विवाद के विकल्प तुझे शोभते हैं? भाई! आहाहा! यह निरंजन निराकार ब्रह्म प्रभु सदा आठ कर्म से रहित है।

तीनों काल निरुपाधिस्वरूपवाला होने के कारण (उसे) पाँच नोकर्म नहीं है;... आहाहा! (तीन) शरीर नहीं, मन, भाषा भी नहीं इसे। भगवान आत्मा में भाषा और मन नहीं, वह तो भिन्न है। चैतन्यमूर्ति अरूपी आनन्दघन है। आहाहा! समझ में आया? अरेरे! इसके घर की बातें सुनने को मिले नहीं और परघर की लगाकर बैठे, आहाहा! इसके भटकने का किनारा कब नजदीक आयेगा? बाहर का उत्साह... आहाहा! लड़के का विवाह होता हो, पच्चीस-पचास लाख की पूँजी हो, पाँच लाख खर्च करना हो, देखो! फिर मैं चौड़ा और गली सकड़ी। नोट तैयार करना सौ उछालने के लिये। एक साथ बड़ी शोभायात्रा निकालना है। जितने अपने सगे-सम्बन्धी और आढ़तिया, सब मोटरें लायेंगे। रात्रि में भाई की शोभायात्रा निकालनी है। चौरासी में भटकने जाता है न अब! आहाहा! देखो! यह इसका उत्साह।

अरे! चैतन्यमूर्ति भगवान के ऐसे गुण, कर्मरहित की चीज़, उसमें आरूढ़ होने का तुझे उत्साह न आवे और इसमें उत्साह आवे। आहाहा! उसने सच्चे तत्त्व को नहीं जाना, नहीं माना, इसलिए इसका अर्थ कि उसने सच्चे तत्त्व को मार डाला है, स्वीकार किया नहीं। आहाहा! यह जीविआ ववरोविया है। इच्छामि पडिक्कमणुं आता है या नहीं। कपूरभाई! किया था? तुमने नहीं किया होगा? गुलाबभाई ने नहीं किया होगा। सामायिक में नहीं आता सामायिक में? पहले णमो अरिहंताणं, पश्चात् तिक्खुतो, पश्चात् इरियावहीया, पश्चात् तस्सउत्तरि, पश्चात् लोगस्स, पश्चात् करेमि भंते और नमोत्थुणं। सात पाठ आते हैं। तुमने किये थे या नहीं? नहीं? आहाहा! अरे! **तीनों काल निरुपाधिस्वरूपवाला होने के कारण...** भाषा, मन और शरीर इसमें नहीं।

मन रहित होने के कारण चिन्ता नहीं है;... भगवान आत्मा में मन कहाँ है? इसी प्रकार सिद्ध को मन कहाँ है? मन हो तो चिन्ता हो। आहाहा! किसकी चिन्ता? समझ में आया? भगवान आत्मा निश्चिन्त है। ऐसा तेरा तत्त्व अनादि का ऐसा है। माना नहीं, माना नहीं, मान्यता अन्यत्र डाल दी...। आहाहा! **औदयिकादि विभावभावों का अभाव**

होने के कारण... उसमें—कलश में तो सिद्ध ही लेंगे स्पष्ट। कलश में तो सिद्ध लेंगे... कहते हैं, सिद्धभगवान में उदय—उपशम आदि है नहीं, इसी प्रकार आत्मा में यह उदय-उपशम आदि कुछ है नहीं अन्दर। यह तो क्षायिकभाव भी आत्मा में नहीं। आहाहा! क्षायिकभाव भी, एक स्वद्रव्य की पूर्ण अखण्डता की अपेक्षा से एक अंशदशा को भी परद्रव्य कहकर, परभाव कहकर, हेय ठहराया है। आहाहा!

इसे नजरों में 'ऐसा आत्मा है' ऐसा जब तक न आवे, तब तक इसे आत्मज्ञान और दर्शन होगा नहीं। आहाहा! भाई सवेरे पूछते थे कि क्या करना? ... तो है कहीं। ... बराबर इसे समझण चाहिए। जिस प्रकार से है उस प्रकार से पहले समझण चाहिए। ज्ञान आवे, फिर अन्दर ढले तब अनुभव हो। इस चीज़ को जिस प्रकार से व्यवहारिक विकल्प से लक्ष्य में, श्रद्धा में, विश्वास में लेना चाहिए, उसी प्रकार न आवे तो अन्तर में ऐसा जवाब नहीं आवे। अन्तर का जवाब अर्थात् वह अन्तर्मुख नहीं हो सके। समझ में आया? उदय, राग-द्वेष का विभावभाव, उपशम आदि अभाव होने के कारण... यह सिद्ध की व्याख्या है, इसलिए इसमें क्षायिकभाव नहीं गिनना।

आर्त और रौद्रध्यान नहीं हैं;... चैतन्यमूर्ति भगवान परमतत्त्व आत्मा को आर्त और रौद्र—विरुद्ध विकारीभाव का ध्यान, वह स्वरूप में है नहीं। **धर्मध्यान और शुक्लध्यान के योग्य चरम शरीर का अभाव होने के कारण...** लो। धर्मध्यान और शुक्लध्यान के योग्य चरमशरीर का अभाव होने के कारण **वे दो ध्यान नहीं हैं।** समझ में आया? उसमें (कहा कि) मन नहीं, इसलिए चिन्ता नहीं। समझ में आया? निरंजन होने के कारण कर्म नहीं, सदा निरुपाधि होने के कारण पाँच नोकर्म नहीं, ऐसा। यह न्याय दिये। औदयिकादि का अभाव होने के कारण (आर्त और रौद्र) ध्यान नहीं और धर्मध्यान और शुक्लध्यान के योग्य चरमशरीर का अभाव होने के कारण, वे दो ध्यान नहीं।

वहीं महा आनन्द है। आत्मा की मोक्षदशा—सिद्धदशा है, वहाँ आनन्द है और आनन्द का धाम भगवान स्वयं है। वह आनन्द कहीं से—बाहर से आता नहीं। आहाहा! समझ में आया? अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ उसका स्वीकार होने से जो आनन्द पर्याय में प्रगट होता, उसे धर्म कहते हैं और उसकी पूर्णानन्ददशा प्रगट हो, उसे सिद्ध कहते हैं। आहाहा! लोगों ने शाक-भाजी की कीमत की है, परन्तु आत्मा की कीमत नहीं की।

आहाहा! करेला अच्छा आया हो और घी में कुरकुरा किया हो, उसमें भी आम का रस और रोटी खाता हो तो आहाहा.. मानो कि यह क्या आया इसमें! धूल भी नहीं, सुन न...! यह विषय सुख का कारण है? यह अकिंचित्कर है। तूने कल्पना की है कि यह ठीक है। वह तो तेरी कल्पना का विषय हुआ। समझ में आया?

प्रवचनसार में आता है न? विषय क्या करे? ऐसा है न। यह तो प्रवचनसार में। विषय क्या करे? विषय तो अकिंचित्कर है। तेरी कल्पना तूने मानी है कि यह मुझे ठीक है, वह भाव रुका हुआ, वह तेरा भाव है। उसके कारण कुछ नहीं है। कल्पना तूने मानी है कि स्त्री में सुख है, कीर्ति में सुख है, शरीर सुन्दर रूपवान सफेद मक्खन जैसा, उसे छूने से सुख है। यह विषय कहीं तुझे सुख की कल्पना नहीं करा देते तथा उसमें विषय का सुख है भी नहीं। तूने कल्पना से उसमें माना है कि उसमें ऐसा है। वह तो तेरा विषय, उसमें परविषय क्या करे? आहाहा! पर का विषय बनाकर तूने कल्पना की। स्व को विषय बनाकर निर्विकल्प करे, वह सुख का कारण है। समझ में आया? ...आत्मा... आत्मा माना।

वहीं महा आनन्द है। जहाँ शुक्लध्यान और धर्मध्यान भी नहीं, ऐसा कहते हैं, वहाँ महा आनन्द है। शुक्लध्यान हो, वहाँ भी अभी पूर्ण आनन्द नहीं, अव्याबाध आनन्द नहीं। लो। आहाहा! समझ में आया? इसी प्रकार आत्मा में महा आनन्द है। आता है न वह ... योग। जितना समकित आदि गुण प्रगट हुआ, उतना तो योग का अभाव भी हुआ है उस प्रकार का। भाई! आता है न? अनन्तानुबन्धी, मिथ्यात्व गया तो उतना योग भी गया है। बात सच्ची। आहाहा! ऐसे तो गये, परन्तु वास्तव में तो जितने अघातिकर्म हैं, उसका अंश भी गया है। पूरा आत्मा पूरे गुण का पिण्ड जहाँ निर्मल पर्याय में आया, अव्याबाध आदि पर्याय का अंश तो आया है। समझ में आया? क्या कहलाता है वह?

कहते हैं कि वे अघातिकर्म के निमित्तवाले जो गुण—अवगुण हैं न। उनका भी जरा आंशिक, सम्यग्दर्शन होने पर योग का गुण भी एक अंश निर्मल हुआ है, उस सम्बन्धी का। मिथ्यात्व का, अनन्तानुबन्धी का... इतना तो अघाति के जो निमित्तवाले गुण, उनका भी अंश तो शुद्ध हुआ है। समझ में आया? अभी तो वह, सम्यग्दर्शन में केवलज्ञान का अंश प्रगट होता है, यह स्वीकार करना अभी मुश्किल पड़ता है। वह

केवलज्ञान तो पूर्ण स्वरूप है अखण्ड। वह क्षायिक है, इसलिए उसमें टुकड़ा कैसे? अरे भगवान! विवाद है न अभी। आहाहा! पूरी चीज़ में यह और अंश कौन सा? अरे प्रभु! यह अंश है, वह तो उसका है भाई! वह तो पूर्ण प्रगट नहीं हुआ, इसलिए उसे घातिकर्म का निमित्त कहा जाता है। आहाहा! अनन्त गुणों में वह अंश आया या नहीं इकट्ठा?

वहाँ तो मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है न कि अनादि का जो क्षयोपशम का अंश है, वह भी बन्ध का कारण नहीं।—ऐसा कहा है वहाँ। उसकी जाति का है वह। आहाहा! भले स्वलक्षी न हो, परन्तु उघाड़ तो है न! उसे उघाड़ का अंश वह बन्ध का कारण है? पूरा आत्मा है, वह दृष्टि का जहाँ भान हुआ, वहाँ उसके परिणाम सब अबन्धपरिणाम ही हुए, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? थोड़े परिणाम बन्ध के रहे, वे पर में पृथक् में रहे। इसलिए उसे सिद्ध समान पर्याय हुई, ऐसा भी कहा जाता है। आहाहा! गजब बात है न! आहाहा! पचास लाख हो, करोड़-दो करोड़, वहाँ अरबपति का वह कुदक्का मारे कि अब हमारे अरबपति होना है, अब हमारे ऐसा होना है। उसका उत्साह तुझे। नहीं उसे भी मानो लाया और यह आ जायेगा, ऐसा माने। ऐसा भगवान पूर्णानन्द प्रभु, कहते हैं कि जहाँ महा आनन्द है, उसकी जहाँ अन्तर में स्वीकार दशा हुई, उस पर्याय में भी महा आनन्द प्रगट होता है। आहाहा! सिद्ध को महा आनन्द पूर्ण है।

[अब, इस १८१वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

निर्वाणस्थे प्रहत-दुरित-ध्वान्त-सङ्घे विशुद्धे,
कर्माशेषं न च न च पुनर्ध्यानकं तच्चतुष्कम्।
तस्मिन्सिद्धे भगवति परम्ब्रह्मणि ज्ञानपुञ्जे
काचिन्मुक्तिर्भवति वचसां मानसानां च दूरम्॥३०१॥

आहाहा! शब्द कम पड़ते हैं न! **श्लोकार्थः—जो निर्वाण में स्थित है,...** जो आत्मा की शान्ति पूर्ण परमात्मदशा प्रगट हुई है, उसमें—निर्वाण में स्थित है। **जिसने पापरूपी अन्धकार के समूह का नाश किया है...** पुण्य और पाप दोनों पाप हैं यहाँ तो। ऐसे पुण्य और पाप के भाव का जिसने नाश किया है। वे अन्धकार हैं, कहते हैं। देखो,

भाषा! चैतन्य के प्रकाश के समक्ष वे पुण्य और पाप के दोनों भाव, वह अज्ञान और अन्धकार है। समझ में आया? '**प्रहतदुरित**' उसका जिसने नाश किया है। अरे! ज्ञान भगवान के समक्ष अज्ञान अन्धकार कैसे रहे? सूरज तपे, प्रकाश हो और अन्धकार रहे—ऐसा नहीं होता।

पहले एक दृष्टान्त नहीं देते थे? अन्धकार और प्रकाश दोनों जाकर... अन्धकार ने की फरियाद कि यह (प्रकाश) हमको रहने नहीं देता...। कहे, आना दोनों इकट्ठे होकर, न्याय दूँगा। परन्तु सूर्य आवे, वहाँ अन्धकार नहीं होता और अन्धकार हो, वहाँ सूर्य नहीं होता। इकट्ठे कब हों? अन्धकार ने फरियाद की कि सूर्य हमको बाधा किया ही करता है, हमारा नाश कर डालता है। जरा सा न्याय दो न्याय। आना दोनों इकट्ठे होकर कोर्ट में। मेरे पास आना तो सही इकट्ठे होकर। इकट्ठे किस प्रकार हों? आहाहा! जहाँ प्रकाश है, वहाँ अन्धकार नहीं। वहाँ इकट्ठे कैसे हों? ऐसा आता है। यहाँ तो भगवान केवलज्ञान का नाथ... आहाहा! उसके चैतन्यप्रकाश के नूर के समक्ष... यह चैतन्य के प्रकाश के पूर के प्रवाह के समक्ष पुण्य-पाप के अन्धकार का तो नाश हो जाता है। ऐ भीखाभाई! ऐसा आत्मा कहाँ...?

उसमें पाँच-पचास हजार मिले, लाख-दो लाख मिले, वहाँ तो ऐसा हो जाता है कि आहाहा... बाहुबल से प्राप्त किये हैं हमने, ऐसा... नहीं थे और प्राप्त किये। बापू कुछ पूँजी छोड़कर नहीं गये थे और हमने बाहुबल से कमाये हैं। ऐसा कहकर बाप को हल्का ठहराया। एई मलूकचन्दभाई! कहा था एक बार। खबर है? अहमदाबाद में कहा था। बापू ने कहाँ पैसे का धक्का देखा है? तत्त्व की खबर नहीं कुछ होगी, नहीं? क्या था? उन्होंने रस कहाँ देखा है? ऐसा कहा था। उसके पास कितने होंगे? पचास हजार, लाख-दो लाख... ३५-४० हजार थे पिता के पास।... समृद्ध हुए... आहाहा! करोड़पति हुए लड़के तो (कहे), बापू ने रस कहाँ देखा है पैसे का? हमने रस देखा है। जहर का रस है। आहाहा! कठिन परन्तु दुनिया से उल्टा भारी, हों! आहाहा! कहते हैं, निर्वाण परमात्मस्वरूप ऐसे चैतन्य के प्रकाश में जो स्थित है, जिसने पाप और पुण्य के अज्ञानरूपी अन्धकार समूह का नाश किया है।

और जो विशुद्ध है,... लो। यहाँ तो विशुद्ध निर्मलता के (अर्थ) में है। विशुद्ध...

शुभभाव को भी विशुद्ध कहा जाता है, शुद्ध को भी विशुद्ध कहा जाता है। पूर्ण शुद्ध... वि-शुद्ध—विशेष पूर्ण शुद्धता जिसे प्रगट हुई है, ऐसे परमात्मा सिद्ध **उसमें (उस परमब्रह्म में) अशेष कर्म नहीं है...** कोई कर्ममात्र नहीं। आहाहा! और कर्म नहीं तो कर्म के कारण से होनेवाले भाव भी नहीं। **तथा वे चार ध्यान नहीं हैं।** वे आये न! 'तत्' न? '**तच्चतुष्कम्**' नहीं? उसमें ही, ऐसा। वे चार ध्यान नहीं। आर्त, रौद्रध्यान नहीं। समझ में आया? वह चर्चा होती थी। वह प्रतिक्रमण में आता है न, 'पडिकम्मामि चउंवीहि जाणीही' आता है। 'पडिकम्मामि चउंवीहि जाणीही...' चौथे श्रमणसूत्र में। आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। उन चार ध्यान से कैसे वापस मुड़े? आर्त-रौद्र... अब भी चारों ध्यान से विमुख हो, तब पूर्ण होता है। ऐई!

प्रतिक्रमण में चौथे श्रमणसूत्र में है। 'पडिकम्मामि चउंवीहि जाणीही...' वहाँ चिल्लाहट मचाये। आहाहा! उनमें सूत्र है, परन्तु उसका अर्थ करने में चिल्लाहट मचाते थे...। यह तो बहुत वर्ष की बात है। पचास वर्ष। 'पडिकम्मामि चउंवीहि जाणीही...' यह आता है या नहीं? शुक्लध्यान से विमुख होऊँ? पडिकमामि (अर्थात्) विमुख होना, ऐसा है उसका अर्थ। उसका अर्थ ही यह है कि चार ध्यान मुझमें नहीं। मैं तो अखण्डानन्द एकरूप हूँ। समझ में आया? श्रमणसूत्र में आता है। स्थानकवासी में आता है। मन्दिरमार्गी में नहीं। चौथा श्रमणसूत्र। शुक्लध्यान का दोष लगा, इसका अर्थ क्या? इसका अर्थ ही यह है। यह बात तो ऐसी ही है। ऐसा कि चार ध्यान का दोष लगा, शुक्लध्यान... शुक्लध्यान तो... नहीं। परन्तु वह शुक्लध्यान स्वयं ही अधूरा है, वह मेरा पूर्ण स्वरूप नहीं। समझ में आया?

उस सिद्धरूप भगवान ज्ञानपुंज परमब्रह्म में कोई ऐसी मुक्ति है... आहाहा! सिद्धरूप भगवान अशरीरी प्रभु हुए, ऐसे भगवान ज्ञानपुंज परमब्रह्म में कोई ऐसी मुक्ति है **कि जो वचन और मन से दूर है।** वचन और मन के विकल्प से भी दूर है, ऐसी मुक्ति उसे मोक्ष कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? वचनातीत, विकल्पातीत, मन से रहित ऐसी पूर्ण आनन्द की दशा, पूर्ण ज्ञानपुंज की प्रगट दशा, उसे मुक्ति कहा जाता है। यहाँ तो कहे, वैकुण्ठ में जाओ, वहाँ तुमको भगवान मिलेंगे और सेवा करना। अभी इसे नौकर रहना है। ऐसे के ऐसे। मुक्ति की खबर नहीं होती। वहाँ तक यहाँ तो इसे हमारे

साधु को आहार दिया, लड्डू दिये तो वहाँ तुमको लड्डू मिलेंगे। अभी इसे शरीर और इसे बर्तन, और इसे लड्डू। ऐसी मुक्ति वैकुण्ठ की। गप्प ही गप्प मारा है न! आहाहा!

यहाँ तो मुक्ति अर्थात् परमानन्द की तेरी दशा, उसका नाम मुक्ति कहा जाता है। आहाहा! यह और भगवान के पास जाये, भगवान की सेवा करे, वहाँ तो नौकर रहा। परन्तु भगवान को शरीर नहीं तो सेवा किसकी करे? भगवान तो शरीररहित हैं। आहाहा! कठिन परन्तु गप्प मारी है न! बेचारे लोगों को कुछ खबर नहीं होती। अन्धे अन्ध। 'अन्धा अन्धे को मार्ग बताये' आता है न? सूयगडांग में आता है। अन्धा देखनेवाला, अन्धा चलनेवाला, दोनों पड़े खड्डे में। ऐसा भगवान आत्मा, उसकी मुक्ति तो अलौकिक है, मन और वचन से पार है। वहाँ और शरीर और उसे सेवा—ऐसा सब होता नहीं। यह अज्ञानियों ने कल्पना करके रचना की है। आहाहा! यह १८१ (गाथा) हुई। १८२। अब इसमें तो स्पष्ट बात है। हाँ, है ना पाठ में।

विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरियं।
केवल-दिट्ठि अमुत्तं अत्थित्तं सप्पदेसत्तं॥१८२॥

जब यह आत्मा सिद्ध परमात्मा होता है, तब उसमें क्या होता है, इसका वर्णन है। अभी भी यह सब शक्ति में है, परन्तु पर्याय में प्रगट हो, तब क्या होता है, यह वर्णन करते हैं।

दृग् ज्ञान केवल, सौख्य केवल और केवल वीर्यता।
होते उन्हें सप्रदेशता, अस्तित्व, मूर्ति-विहीनता॥१८२॥

टीका : यह, भगवान सिद्ध के... सिद्ध अर्थात् परमात्मा हों वे। संसार का नाश करके अपनी परमात्मदशा प्रगट करे, उसे यहाँ सिद्धभगवान—मुक्तिदशा कहते हैं। **यह, भगवान सिद्ध के स्वभावगुणों के स्वरूप का कथन है।** लो। गुणों... गुणों... पर्याय की बात है। भाषा तो ऐसी ही बोली जाये न! कहो! स्वभावगुणों के स्वरूप का कथन है। अब उसे कैसे प्राप्त हो सिद्धपद, इसकी बात साथ में करते हैं। **निरवशेषरूप से अन्तर्मुखाकार...** अन्तर्मुखस्वरूप... भगवान आत्मा अन्तर में पूर्णानन्द है, उसे अन्तर्मुख से ध्यान करके सर्वथा... निरवशेष अर्थात् सर्वथा। **(सर्वथा अन्तर्मुख जिसका स्वरूप है**

ऐसे)... वस्तु भगवान। ऐसे **स्वात्माश्रित निश्चय-परमशुक्लध्यान के बल से...** लो। ऐसा स्व-आत्मा, उसके आश्रय से निश्चय अर्थात् परम शुद्ध, परमशुक्लध्यान... आहाहा! निश्चय परमशुक्लध्यान... अन्तिम है न यह तो।

उसके बल से **ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मों का विलय...** ऐसा हुआ। कर्मों का नाश हुआ तो यह बल प्रगट हुआ, ऐसा नहीं कहा यहाँ। ऐसे बल से ज्ञानावरणादि प्रकार का (कर्मों का) नाश किया। आठ प्रकार के कर्मों का विलय होने से... विलय अर्थात् नाश। परन्तु ऐसे बल से नाश होने से, ऐसा कहा है। वे ऐसा कहते हैं कि कर्म का नाश हो तो गुण प्रगट हो, ऐसा कहो। यहाँ तो आत्मबल के ध्यान में आ तो कर्म नाश हो जायेंगे। समझ में आया? ...बाकी तो अपने स्वभाव का आश्रय करे तो उसकी अशुद्धता का नाश हो जाने से उसका निमित्तपना कर्म को है। इसलिए कर्म भी अपने आप परिणम जाते हैं (अर्थात्) कर्म, अकर्मरूप हो जाते हैं। कर्मरूप (थे वे) अकर्मरूप होते हैं, यह कर्म का नाश कहा जाता है।

उस कारण से भगवान सिद्धपरमेष्ठी को केवलज्ञान—पूर्ण ज्ञान **केवलदर्शन**—पूर्ण दर्शन, **केवलवीर्य**—एकरूप वीर्य, **केवलसुख**—अकेला सुख, **अमूर्तत्व, अस्तित्व**—होनापना पूर्ण प्रगट हो गया। **सप्रदेशत्व...** (असंख्यात) प्रदेशी है न। वे कहाँ चले गये हैं? बताते हैं साथ में। दूसरे की अपेक्षा अलग मुक्ति की ऐसी दशा। सप्रदेशत्व इत्यादि स्वभावपर्याय प्रगट हो गयी है। आहाहा! विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण १२, मंगलवार, दिनांक-१४-१२-१९७१
गाथा-१८२-१८४, श्लोक-३०२-३०३ प्रवचन-२०२

नियमसार, यह १८२ गाथा का कलश है। मार्ग (और) साधन का फल बताते हैं। यह दो अधिकार है न इसमें! एक तो मोक्ष का मार्ग और उसका फल सिद्धपद अथवा मुक्ति। मुक्ति अर्थात् सिद्ध भगवान के गुणों का वर्णन है। जिसने आत्मा को पूर्ण परमात्मस्वभाव का अन्तर साधन किया सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा, उसके फलरूप से मुक्ति कही, वह ध्येय किस प्रकार सिद्ध होता है, यह चलता है। मुक्ति और मुक्त दोनों एक हैं। सिद्ध जीव कहो या उसे मुक्ति कहो। ऐसे जीव को प्राप्त हो (कि) जिसने आत्मा का आराधन किया है। उन सिद्ध के गुणों के स्वरूप का वर्णन है। ३०२ कलश है।

बन्धच्छेदाद्भगवति पुनर्नित्य-शुद्धे प्रसिद्धे,
तस्मिन्सिद्धे भवति नितरां केवलज्ञानमेतत्।
दृष्टिः साक्षादखिलविषया सौख्यमात्यन्तिकं च,
शक्त्याद्यन्यद्गुणमणिगणं शुद्धशुद्धश्च नित्यम्॥३०२॥

कहते हैं कि जिसने मोक्षमार्ग आराधा, उसके फलरूप से परमात्मा सिद्ध होते हैं, उसमें अनन्त गुण होते हैं। गुण शब्द से (आशय) पर्यायरूप से प्रगटते।

श्लोकार्थः—बन्ध के छेदन के कारण,... उन्होंने क्या किया पहले? कि बन्ध का छेद किया। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग—यह बन्ध। उसका छेद करके। कैसे किया? पहले उन्हें बन्ध था। **बन्ध के छेदन के कारण, भगवान तथा नित्य—शुद्ध...** ऐसा। भगवान तो सही, परन्तु वे नित्य शुद्ध। परमात्मदशा—सिद्धदशा प्रगट हुई, तब से नित्यशुद्ध है, सादि-अनन्त। उसे यहाँ नित्यशुद्ध कहने में आता है। **ऐसे उस प्रसिद्ध सिद्ध में...** आहाहा! कहते हैं, वे तो प्रसिद्ध सिद्ध हैं। मुक्ति को प्राप्त शुद्ध स्वभाव से प्राप्त प्रसिद्ध हैं वे तो। जैसे संसार प्रसिद्ध है, वैसे संसार के अभाव—

स्वभावरूप सिद्ध भी प्रसिद्ध है। समझ में आया?

ऐसे सिद्ध परमेष्ठी में **सदा अत्यन्त रूप से...** निरन्तर अत्यन्तरूप से **यह केवलज्ञान होता है;...** केवलज्ञान एक समय में तीन काल, तीन लोक को जानता है। ऐसा सिद्ध भगवान में केवलज्ञान होता है सदा अत्यन्तरूप से। **समग्र जिसका विषय है, ऐसा साक्षात् दर्शन होता है;... 'साक्षादखिलविषया'** केवलदर्शन... तीन काल, तीन लोक के जो पदार्थ हैं, उन्हें सामान्यरूप से समग्र पूर्ण ऐसा जिसका विषय है। तीन काल, तीन लोक जिसे सामान्यरूप से—अभेदरूप से दिखते हैं, ऐसा यह दर्शन—केवलदर्शन का विषय है। ऐसा साक्षात् दर्शन होता है।

आत्यन्तिक (सहज) सौख्य होता है... सर्व श्रेष्ठ अनन्त जिसे आनन्द होता है। संसारदशा में अकेला दुःख है। मोक्षमार्ग की दशा में किंचित् आनन्द है और किंचित् दुःख की अवस्था भी है, (परन्तु) पूर्ण आनन्द नहीं। सिद्ध में पूर्ण आनन्द, अनन्त आनन्द है। सर्वश्रेष्ठ आनन्द... सर्वश्रेष्ठ अर्थात् कि इस संसार में कुछ सुख होगा? जो आनन्द है मोक्षमार्गी जीव को, उसकी अपेक्षा सर्वश्रेष्ठ आनन्द है उनको। सम्यग्दर्शन में आनन्द की शुरुआत हो जाती है। समझ में आया? भगवान अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, दर्शन और वीर्य—चतुष्टय से भरपूर पदार्थ है। वस्तु है न! वस्तु है, उसका स्वभाव होता है न! स्वभाव हो उसे मर्यादा क्या? अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द और वीर्य जिसमें पड़े हैं आत्मा में। ऐसा जिसने साधन किया, एकाग्रता की, उसे अनन्त सुख सर्वोत्कृष्ट प्राप्त होता है। समझ में आया?

सम्यग्दर्शन—धर्म की शुरुआत में भी धर्म करनेवाले को अतीन्द्रिय आनन्द आता है, ऐसा कहते हैं, परन्तु वह अपूर्ण आनन्द है। समझ में आया? और उसके साधनरूप से साधकर पूर्ण दशा प्रगट हुई सिद्धपरमात्मा, वे तो अनन्त सर्वश्रेष्ठ सुख को प्राप्त हैं। ऐसा सुख जगत में, इसके अतिरिक्त अन्यत्र नहीं है। लो, यह सुखी तो उन्हें—सिद्ध को सुखी कहते हैं। पैसेवाले, पुत्रवाले, कीर्तिवाले को नहीं। कहाँ गये तेरे दादा? कहो, समझ में आया इसमें? यहाँ सुख कहते हैं न! पागल है। आहाहा! सुख तो आता है न कहीं। अनन्त सुख तो मोक्ष में है। इसलिए मोक्ष का साधन करना, वह जीव को हितकर और श्रेयकर है, बाकी सब धूलधाणी है। ऐसा सर्वोत्कृष्ट सुख सम्यग्दर्शन से

प्रगट होने पर बारहवें (गुणस्थान में पूर्ण) आनन्द होता है, परन्तु सिद्ध को तो पूर्ण अनन्त अव्याबाध आनन्द प्रगट होता है। समझ में आया?

आठों कर्म का फल दुःख कहा है न? उन्हें तो आठों का अभाव हो गया। परिपूर्ण सर्वोत्कृष्ट आनन्द, पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव ऐसे सिद्ध, उन्हें अनन्त आनन्द होता है। कहते हैं, **तथा शुद्ध-शुद्ध ऐसा वीर्यादिक अन्य गुणरूपी मणियों का समूह होता है।** जिसे सब अनन्त गुण की पर्यायें शुद्ध-शुद्ध हो गयी हैं। वीर्य अर्थात् पुरुषार्थ। **वीर्यादिक अन्य गुणरूपी मणियों का समूह होता है।** अन्य गुणरूपी मणियों का समूह-ढेर होता है वहाँ। आहाहा! कहो, समझ में आया? उसे परमात्मदशा या मुक्तदशा या सिद्धदशा या सिद्ध परमेष्ठी उन्हें कहा जाता है। यह आत्मा का पूर्ण शुद्ध पवित्र पद, वह सिद्धपद है। समझ में आया? १८३ (गाथा)।

णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा।
कम्म-विमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्ग-पज्जंतं॥१८३॥

निर्वाण ही तो सिद्ध है, है सिद्ध ही निर्वाण रे।
हो कर्म से प्रविमुक्त आत्मा पहुँचता लोकान्त रे॥१८३॥

उपादान से पहले बात ली है। **टीका : यह, सिद्धि...** सिद्धि अर्थात् मुक्ति **और सिद्ध...** अर्थात् आत्मा। **सिद्ध के एकत्व के प्रतिपादन सम्बन्ध में है।** मुक्ति की पर्याय और सिद्ध दोनों एकत्व है, पृथक् नहीं। मुक्ति ऊपर है और सिद्ध नीचे है या बाहर है, ऐसा नहीं—ऐसा कहते हैं। सिद्ध की पूर्ण दशा, वही मुक्ति और वे स्वयं मुक्त जीव—दोनों अभेद हैं। अभेद ही हैं। अभेद है अर्थात् भिन्न नहीं... नहीं, ऐसा। दूसरे जैसे आत्मा और दूसरे परमाणु, ऐसा नहीं। बाकी है तो पर्याय पर्याय की। परन्तु यहाँ तो मुक्ति और मुक्तजीव की दशा—सिद्धि और सिद्धपर्याय दोनों एक ही हैं, ऐसा कहना है। सिद्ध की पर्याय और मुक्ति एक ही है। मुक्ति ऊपर होती है, रहती है, यह कहना व्यवहार है, ऐसा कहते हैं। अपने में ही मुक्ति है। समझ में आया? सिद्ध की पर्याय की पूर्णता, वह मुक्ति और वह मुक्तजीव की दशा। समझ में आया?

निर्वाण शब्द के यहाँ दो अर्थ हैं। किस प्रकार? 'निर्वाण ही सिद्ध हैं'... लो,

ठीक! यह निर्वाण, वह सिद्ध (अर्थात्) उसकी पर्याय है, ऐसा। निर्वाण... हुए वह सिद्ध की पर्याय है। वे सिद्ध हैं। ऐसे सिद्ध लेना है न! **'निर्वाण ही सिद्ध हैं'...** परिपूर्ण शान्ति प्रगट हुई, वही सिद्ध है, ऐसा। निर्वाण अलग क्षेत्र है और सिद्ध की पर्याय का अलग क्षेत्र है, ऐसा नहीं, ऐसा कहना है। **ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से। सिद्ध सिद्धक्षेत्र में रहते हैं,...** देखो! **ऐसा व्यवहार है;...** सिद्ध भगवान सिद्धक्षेत्र में रहते हैं, यह व्यवहार है। वे अपनी मुक्तदशा में ही रहते हैं। मुक्ति में रहते हैं सिद्ध। आहाहा! वह सिद्धपर्याय, मुक्ति है, वही उनकी पर्याय है, वही उनका ऐसा कि स्थान है, ऐसा। सिद्ध की पर्याय, वही मुक्ति, ऐसा कहना है। वह निर्वाण, ऐसा। निर्वाण कोई दूसरी चीज़ है और मुक्तपर्याय पृथक् चीज़ है, ऐसा नहीं। सिद्ध लिये हैं न। सिद्ध की पर्याय।

सिद्ध सिद्धक्षेत्र में रहते हैं, ऐसा व्यवहार है; निश्चय से तो भगवन्त निज स्वरूप में रहते हैं;... बस यह विवाद। यहाँ जैसे संसारदशा, उसकी पर्याय मूर्तरूप है, वैसे मुक्तदशा मुक्ति उसकी पर्याय का स्वरूप है। वे ऊपर रहते हैं इसलिए मुक्ति है, ऐसा नहीं है। अन्तिम गाथायें हैं न, (इसलिए) यहाँ फल का वर्णन करते हैं। **उस कारण से निर्वाण ही सिद्ध हैं...** देखो! निर्वाण—पूर्ण शान्ति और पूर्ण कषाय का बुझना होकर अकषायपर्याय हुई, वही सिद्ध है। **और सिद्ध, वह निर्वाण है...** सिद्ध की पर्याय, वही निर्वाण है। समझ में आया? **ऐसे इस प्रकार द्वारा निर्वाणशब्द का और सिद्धशब्द का...** यहाँ 'सिद्ध' कहना है। सिद्ध तो पर्यायरूप हुई न? सिद्ध का जीव है, वह अलग बात है। सिद्ध उसकी जो पर्याय है, वही निर्वाण है। निर्वाण, वही सिद्ध। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं न, भगवान का आत्मा मुक्ति पाया। वह मुक्ति कहीं होगी। ऐसा पाये होंगे? भगवान सिद्धक्षेत्र को पाये। वह सिद्धक्षेत्र, वह क्षेत्र नहीं। अपनी पूर्ण पर्याय को प्राप्त हुए, वह उसका क्षेत्र है। समझ में आया? **निर्वाणशब्द का और सिद्धशब्द का एकत्व सफल हुआ।** लो। दोनों एकत्व है, भिन्न है नहीं। और टीकाकार थोड़ा डालते हैं। **'कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्गपज्जंतं'** है न? **तथा, जो कोई आसन्नभव्य जीव...** जिसे अब मोक्ष नजदीक है, संसार का किनारा आ गया है। ऐसे आसन्न अर्थात् नजदीक, जिसकी भव्यता निकट है। मुक्ति होने की जिसकी योग्यता अत्यन्त नजदीक है। समझ में आया?

ऐसे **आसन्नभव्य जीव परमगुरु के प्रसाद द्वारा प्राप्त...** गुरु ने उसे ऐसा कहा था कि पूर्णानन्द का नाथ तू है, उसका आराधन कर। इसलिए परमगुरु के प्रसाद द्वारा... प्रसादी यह कही उसे। ऐसा भगवान पूर्ण शान्ति और आनन्द से भरपूर पदार्थ है, स्वभाववान है, उसका स्वभाव पूर्ण है, उसका आराधन कर। अर्थात् उसके प्रसाद द्वारा **परमभाव की भावना...** देखा! उन्होंने कहा था, वैसा इसने किया। **परमभाव की भावना...** परमभाव ऐसा पारिणामिक ज्ञायक त्रिकाली स्वभाव शुद्ध आनन्द ध्रुवतत्त्व की भावना अर्थात् एकाग्रता। लो, इस भावना में निश्चयमोक्षमार्ग डाल दिया। भगवान पूर्ण स्वरूप अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द से भरपूर परमभाव की भावना। पुण्य-पाप और व्यवहार की भावना नहीं, ऐसा कहते हैं। और भावना शब्द से कल्पना, चिन्तवना, ऐसा नहीं। अर्थ तो ऐसा करेंगे इसका।

निजभावना। भाई! मेरी निजभावना के लिये मैंने बनाया है। टीका में कहा कि निजभावना अर्थात् अशुभ वंचनार्थ। बनाना है सही न। 'मैंने किया' ऐसा है। 'किया' ऐसा है इसलिए जरा ऐसा अर्थ लिया है। नहीं तो भावना का अर्थ तो स्वरूप की एकाग्रता है। समझ में आया? भाव की भावना। परमभाव की भावना, वापस ऐसा। भाव तो पर्याय को भी कहते हैं, शुभभाव को भी भाव कहते हैं, निर्मल पर्याय को भाव कहते हैं, गुण को भाव कहते हैं और द्रव्य को भी भाव कहते हैं। परन्तु यहाँ परमभाव त्रिकाली स्वभावभाव नित्यानन्द प्रभु, वह परमभाव वस्तु, उसकी भावना (अर्थात्) उसकी सन्मुखता की एकता, वह मोक्ष का मार्ग है, लो! वापस परमगुरु सर्वज्ञ भी कहलाये और दूसरे गुरु को भी परमगुरु कहा जाये। परन्तु इनका कहने का आशय यह था, ऐसा कहते हैं। वह आशय इसने आराधा। समझ में आया?

परमभाव की भावना द्वारा... पूर्णानन्द का नाथ भगवान आत्मा... स्वरूप, वह कहीं दुःखरूप होगा उसका? दुःख तो विकृत है, वह तो अवस्था में होता है, स्वभाव में नहीं होता। स्वभाव परम अतीन्द्रिय अनन्त-अनन्त... ऊपर कहा था न! आत्यन्तिक सुख प्रगट हुआ सर्वश्रेष्ठ। वह अन्दर था। पूर्ण सुख और पूर्ण आनन्द ऐसा उसका स्वभाव, उसकी की भावना—एकाग्रता। यहाँ तो निश्चयमोक्षमार्ग से मुक्ति होती है, ऐसा कहा। 'व्यवहार हेतु' है न? पण्डितजी! नियत का हेतु। नियत की बात की। यह

उन्हें—कितनों को सुहाता नहीं। सुन्दर मार्ग में डाला है। डालेंगे इसमें अब। उसमें डाला है, सुन्दर मार्ग। निश्चय और व्यवहार दो सुन्दर मार्ग है, परन्तु प्राप्ति निश्चय से होगी, ऐसा कहेंगे। समझ में आया? है न यह? कितना है यह?

अभेदोपचार... **सर्वज्ञवीतराग के मार्ग की निन्दा करते हैं...** देखो! निश्चय की बात। उन **स्वरूपविकल (स्वरूपप्राप्ति रहित) जीवों के कुहेतुदृष्टान्तयुक्त कुतर्कवचन सुनकर जिनेश्वरप्रणीत शुद्धरत्नत्रयमार्ग के प्रति, हे भव्य! अभक्ति नहीं करना...** वहाँ वापस यह लिया। देखा! (गाथा) १८६। पहले ऐसा लिया कि **पापक्रिया से निवृत्ति जिसका लक्षण है, ऐसा भेदोपचार रत्नत्रय...** (अर्थात्) व्यवहाररत्नत्रय... और अभेदोपचार-रत्नत्रयात्मक... निश्चय स्वभाव के आश्रय से प्रगट हुई दशा, वह अभेद-उपचार। रत्नत्रयस्वरूप भेद पड़ा न, इस अपेक्षा से। सर्वज्ञवीतराग के मार्ग की निन्दा करते हैं। ऐसे की कोई निन्दा करे कि अरे! ...स्वार्थी अकेले हमारा करते हैं... हमारा करते हैं, हम किसी का कर दें (नहीं)। व्यवहार से भी हमारे कुछ करने का नहीं। आवे उसे जानने का है। किसी का करना नहीं। समझ में आया?

यह गौशाला का करे, गाँव के... तब काका कहलाये, नहीं तो काका किस प्रकार कहलाये? जवान व्यक्ति का करते होंगे या नहीं? नहीं किया अभी तक? आहाहा! लोग कहते हैं कि ...यह तो स्वार्थ के पुतले हैं, लो। हम किसी का कर सकते नहीं, ऐसा कहकर पर के करने में छूट जाते हैं। ऐसा कि हम किसी का कुछ कर सकते नहीं, ऐसा कुछ किया जा सकता ही नहीं—ऐसा कहकर पर से पृथक् पड़ने का ... ठीक खोजा इन्होंने। आहाहा! कोई कहे, ठीक! तुमने खोजा कि यह दान है, वह पुण्य है, धर्म नहीं। और एक व्यक्ति ने ऐसा कहा। ठीक! खोज निकाला है कि दान करने में पुण्य है, धर्म नहीं। इसलिए ... पुण्य नहीं करावे ऐसा। अब अनेक प्रकार के लोग हैं। आहाहा!

यहाँ तो दूसरा कहना है कि दो को सुन्दर कहा, परन्तु वापस **स्वरूपविकल (स्वरूपप्राप्ति रहित) जीवों के कुहेतुदृष्टान्तयुक्त कुतर्कवचन सुनकर जिनेश्वरप्रणीत शुद्धरत्नत्रयमार्ग के प्रति,..** ऐसा। **शुद्धरत्नत्रयमार्ग के प्रति, हे भव्य! अभक्ति नहीं करना...** वह ज्ञान कराया साथ में। समझ में आया? भगवान आत्मा अपने स्वार्थ का साधनेवाला

है भाई! पर का कुछ कर नहीं सकता। लोगों को पर का करे तो बहुत अच्छा लगे। बहुतों की सेवा की, बहुतों की इसने सेवा की है। धूल भी की नहीं, सुन न...! सेवा किसकी करे? यह देशसेवा, परिवारसेवा, जातिसेवा, गाँवसेवा, गौशाला के पशु की सेवा। कहो, समझ में आया? यह ईंटें खड़ी कीं... ऐसा कि किया जा सकता है, यह इनकार करते हैं इसलिए अब करेंगे नहीं। कौन करे, भाई? वह लोगों को अच्छा बहुत लगे। हम तो तुम्हारे सेवक हैं, उपयुक्त अवसर पर हम तो सेवा करने खड़े हैं। आहाहा! पदवी दो इसे बड़ी सेवाभावी की। अरे! ऐसा का ऐसा अज्ञानी अनादि से ठगाता है। किसकी सेवा करे?

यहाँ तो कहते हैं, ज्ञान की इसने कभी सेवा की नहीं। वह आता है न १७-१८वीं गाथा (समयसार) में। किसी ने पूछा, महाराज! यह ज्ञान और आत्मा तो एकरूप है, भिन्न नहीं और आप कहते हो कि आत्मा की सेवा करो, ज्ञान की सेवा करो। वह तो अभेद है, उसमें सेवा किसकी करना? पर की सेवा की बात तो है नहीं, परन्तु यह स्वयं आत्मा और ज्ञान, वस्तु स्वयं और उसका स्वभाव ज्ञान, वह तो अभेद है, उसकी सेवा किसकी? भाई! तूने अनन्त काल में आत्मा के ज्ञान की सेवा नहीं की। आहाहा! ज्ञान और आत्मा एकरूप है, उसकी तूने कभी सेवा नहीं की। आहाहा! यह सेवा की, लो। ऐ पण्डितजी! सेवा मार्ग... क्या है? ... पण्डितजी को याद है। योगीनाम अगम्यम्... वह कौन सी? यह। वह (पर) सेवा नहीं। आहाहा! कितने संसार के ऊपरी! कितने संसार के नायक! आहाहा... ऐसा कहकर लोग उसकी महिमा करते हैं। ऐसा होगा या नहीं? गुलाबभाई! बड़े झबेरभाई जैसे बहुत पड़ें। बड़े हों तो पड़े न! पड़ना चाहिए न! सेवा की, हमने ऐसा किया। यह ऐसे अनेक की बात है न! इनका तो दृष्टान्त। ये सेवाभावी हैं। गजब! कैसा अच्छा लगे लोगों को! परन्तु सेवा किसकी करे? सुन न!

एक शरीर के रजकण की पर्याय कर नहीं सकता। सेवा किसकी करे? यह राग की सेवा करने जाता है तो मिथ्यात्व होता है। आहाहा! कहो, समझ में आया? सेवा अर्थात् मेरे हैं, ऐसा। मैं उन्हें रखता हूँ। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के भाव, वह राग, उन्हें रखता हूँ, इसका नाम सेवा। मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! मूढ़ है, दबोच में आ गया है अन्दर से, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भारी कठिन! अकेला स्व-प्रयोजन को सिद्ध कर सके, ऐसा तत्त्व है। समझ में आया? दयामण्डली, सेवामण्डली, ऐसे मण्डल के नाम

दे, प्रमुख होना हो सामने। यह तो कहते हैं कि यह देते हैं, ओहोहो... उन्होंने तो... देखो तो अग्रदूत है संस्था का। उसको ऐसा हो जाये कि आहाहा... धूल भी नहीं, सुन न! डॉक्टर-बॉक्टर नहीं न? डॉक्टर बहुत सेवाभावी कहलाते हैं। हों पैसे के अर्थी अकेले। सेवाभावी है, अवेतनिक है। धूल भी नहीं, सुन न!

भगवान आत्मा... यहाँ तो यह कहते हैं, देखो! समझ में आया? सिद्ध... आसन्नभव्य जीव... आहाहा! **परमभाव की भावना द्वारा...** यह बात है यहाँ तो। क्या कहा? पूर्णानन्द का नाथ भगवान सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ तीर्थंकर ने कहा, ऐसा जो आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड, अनन्त गुण का मणिरत्न, उसकी अन्तर एकाग्रता, वह उसकी सेवा है और वह उसकी भावना है। यह सच्ची सेवा और सच्ची भावना है। बाकी सब गप्प ही गप्प है। समझ में आया? अपना नाम रखने के लिये, बहुत संसार के अधिपतिरूप से कहलवाना हो, इसलिए बहुतों में रखे नाम। भले बारह महीने में दो दिन जाता हो, परन्तु थोड़ा-थोड़ा नाम रखे। ...बहुत संसार के सेवक थे और कुछ दूसरा कहे... अधिपति थे, ...प्रमुख थे। आहाहा! अरे भगवान! भ्रमणा, वह कैसी परन्तु! आहाहा!

यहाँ तो परमप्रभु आत्मा सर्वज्ञस्वभाव से विराजमान, अनन्त आनन्द से शोभित प्रभु ऐसा जो उसका त्रिकाल परमभाव, उसमें पर्याय अर्थात् एकाग्रता करना, वह भावना, उससे मुक्ति है। समझ में आया? उसमें ऐसा आता है श्वेताम्बर में कि आचार्य हो न, तीसरे भव में मोक्ष जाये। साधु को देरी लगती है। दिक्कत व्यवहार की डाली है। भगवती (सूत्र) में ऐसा आता है। बेचारे आचार्य (होने के) लिये बहुत प्रयत्न करते है। आचार्यपदवी दे तो शास्त्र के अर्थ से तीसरे भव में मोक्ष जाये। अकेले साधु तीसरे (भव में) नहीं जाते। यहाँ तो कहते हैं, आचार्यपद छोड़े तब, साधुपद में आवे तब मुक्ति होती है। आहाहा! जगत को प्रवृत्ति की इतनी महिमा और वह उसे भाती है। आहाहा!

भगवान की स्तुति करता हो, भगवान को वन्दन करता हो, सात-आठ-दस बार जय महाराज... जय महाराज... जय महाराज। कुछ करता है, यह (ऐसा) दिखता है। भाई! यह प्रवृत्ति तो जड़ की दशायें हैं। उसके परिणाम में कुछ हो तो राग की मन्दता, वह प्रवृत्ति पुण्य के परिणाम हैं। समझ में आया? वह आत्मा की भावना नहीं। आहाहा!

यहाँ तो ऐसा कहना है कि परमगुरु ने ऐसा कहा था और ऐसा इसने किया। यह करनेयोग्य है। इसके अतिरिक्त दूसरी किसी चीज़ की महिमा करनेयोग्य नहीं। आहाहा!

आसन्नभव्य जीव... आहाहा! जिसका संसार का किनारा नजदीक आ गया है। भाई! कुन्दकुन्दाचार्य के लिये कहा है न पहले। (प्रवचनसार, गाथा १ से ५)। ओहोहो! प्रवचनसार। 'कुन्दकुन्दाचार्य, जिनके संसार का किनारा निकट आ गया है।' आहाहा! ऐसे परमभाव की भावना करनेवाले... समझ में आया? यह प्रवचनसार के कर्ता स्वयं... आसन्नभव्य जीव... '**कम्मविमुक्को अप्पा**' इसकी व्याख्या करते हैं तीसरे पद की। कहते हैं कि कर्म से मुक्त कैसे हो? कि **परमभाव की भावना द्वारा...** एक ही सिद्धान्त और एक ही सत्य। आनन्द का नाथ भगवान, ज्ञान का सागर, उसमें एकाग्र होने की भावना, वही मोक्ष का मार्ग और वही मुक्ति का उपाय—कारण है।

सकल कर्मकलंकरूपी कीचड़ से विमुक्त होते हैं,... लो। जो कोई आत्मा परमभाव ऐसा जो आत्मा का त्रिकाली स्वभाव, शुद्धभाव, पवित्रभाव, आनन्दभाव—ऐसा जो त्रिकाली आत्मा का परमभाव—उसकी भावना में (अर्थात्) उसकी एकाग्रता के द्वारा **सकल कर्मकलंकरूपी कीचड़ से विमुक्त होते हैं,...** आठों ही कर्म का रहितपना इस भावना से होता है। कहो, समझ में आया? मार्ग की खबर नहीं होती, भटका-भटक करे, यहाँ से मिलेगा, यहाँ से मिलेगा। शास्त्र में आता है कि त्यागी के हाथ में पुस्तक देना, मुनि को त्याग करना, वह धर्म। इसलिए समझ गया... आता है, परन्तु किस अपेक्षा से आता है? उतना राग का अभाव होता है स्वभाव के आश्रय से, इस अपेक्षा से नास्ति से त्याग की बात की है। पुस्तक देना त्यागधर्म यह है।.... आहाहा! त्याग दस प्रकार के धर्म में का... पुस्तक देना, वह धर्म हो गया। लिखा है तब, यह बात चलती है। उसमें लिखा है पद्मनन्दिपंचविंशति, कार्तिकेयानुप्रेक्षा में। आहाहा! ऐई! कथन किया वह खोटा होगा? उसका अर्थ समझे बिना? कथन करके, क्या कथन? कथन किया उसका मेल रहा नहीं। अर्थ करे उसके समझे बिना।

यहाँ तो कहते हैं, भगवान आत्मा एकस्वरूप से प्रभु त्रिकाल है, उसकी अन्तर की एकाग्रता—सन्मुखता की एकाग्रता, वह एक ही मोक्ष का मार्ग और भावना है। वीतरागमार्ग में दूसरी कोई चीज़ है नहीं। अन्यत्र तो कुछ है नहीं। समझ में आया? यह

वहाँ डाला। '**कम्मविमुक्को अप्पा**' उसमें डाला। परन्तु कैसे मुक्त हुए? अपवास करके, मासखमण करके, अठ्ठाई करके निर्जरा हुई, धर्म पाये—ऐसा होगा? आहाहा! तेरे अपवास-बपवास कहाँ थे? बाहर का त्याग, यह आहार तो अपने आप भिन्न ही पड़ा है। ग्रहण कब करता था कि छोड़े? राग को कब ग्रहण करता था द्रव्यस्वभाव में? आहाहा! मात्र द्रव्यस्वभाव में एकाग्र होने से राग छूट जाता है, इसलिए कर्म छूट जाता है, उसे यहाँ 'आत्मा छोड़ता है' ऐसा कहा जाता है। आहाहा! वीतरागमार्ग निरालम्बी मार्ग है, जिसे व्यवहार का आलम्बन नहीं।

ऐसे **कर्मकलंकरूपी कीचड़ से विमुक्त होते हैं,...** कर्मरूपी कलंकरूपी कादव, ऐसा। कर्म का कलंक है उसे। आहाहा! ऐसा जो कादव उससे वि-मुक्त (अर्थात्) पूर्ण विशेष मुक्त होता है। **वे परमात्मा होकर...** वह परमात्मा सिद्ध होकर **लोकाग्रपर्यन्त जाते हैं।** लोक के अन्त में जाता है, वह व्यवहार कहलाता है। है तो वहाँ अपने में और अपने में। यहाँ सिद्ध होता है, वह अपने में। लोकाग्र में जाता है। लोक के अग्र में, सिद्ध भगवान परक्षेत्र के लोक के अग्र में जाते हैं, यह व्यवहारक्षेत्र बतलाया। निश्चय से तो अपनी पर्याय में ही परिणम रहे हैं। आकाश के क्षेत्र में हैं, ऐसा कहना, वह तो एक व्यवहार है। आहाहा! लोकाग्र—लोक के अग्र में—छोर तक जाते हैं, ऐसा कहते हैं। लोक का छोर, वहाँ जाते हैं। अनन्त सिद्ध अपने आनन्द में वहाँ विराजते हैं। आहाहा!

[अब, इस १८३वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:] ३०३।

अथ जिनमतमुक्तेर्मुक्तजीवस्य भेदं,
क्वचिदपि न च विद्मो युक्तितश्चागमाच्च।
यदि पुनरिह भव्यः कर्म निर्मूल्य सर्वं,
स भवति परम-श्री-कामिनी-कामरूपः ॥३०३॥

लो, यहाँ जीव लिया। **श्लोकार्थः—जिनसम्मत मुक्ति में और मुक्त जीव में...** पर्याय उसकी। मुक्त जीव... जिनसम्मत (अर्थात्) वीतराग ने कही हुई मुक्ति, सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने कही हुई सिद्धदशा। **मुक्ति में और मुक्त जीव में हम कहीं भी**

युक्ति से या आगम से भेद नहीं जानते। यह मुक्ति भी वह और सिद्धपर्याय भी वह। **तथा, इस लोक में यदि कोई भव्य जीव...** इस लोक में यदि कोई भव्य जीव **सर्व कर्म को निर्मूल करता है,...** भगवान आत्मा का ध्यान करके और सर्व कर्म को निर्मूल करता है—मूल से उखेड़ डालता है। **तो वह परमश्रीरूपी (मुक्तिलक्ष्मीरूपी) कामिनी का वल्लभ होता है।** तो उसे मुक्तरूपी दशा एक समय भी छोड़ती नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

यह स्त्रियाँ तो आयी और गयी कितनी ही। इन्द्र के एक भव में भी आयुष्य दो सागर और उस (इन्द्राणी की) अल्प स्थिति होती है। उसकी (इन्द्र की) स्थिति में कितनी आवे और मरे और जाये, मरे और जाये। वह तो एक ही है दो सागर तक। इन्द्राणी की स्थिति अल्प होती है। ऐसे-ऐसे तो कितने दस क्रोड़ाक्रोड़ी पल्योपम, ऊपर सागरोपम। उसकी बहुत तो वह .... की बड़ी आयु हो तो। उसकी अस्ति में ऐसी स्त्रियाँ करोड़ों मरकर जाये और आये। वह कहीं वल्लभा कहलाती नहीं। वल्लभा तो छोड़े नहीं एक समय, उसे वल्लभ कहा जाता है। ऐसा कहते हैं न, देखो न! अपने स्वरूप को प्राप्त होने पर आत्मा की मुक्तदशा हुई, वह परिणति एक समय भी उसे छोड़ती नहीं। वह उसकी वास्तविक कामिनी है। आहाहा! **कामिनी का वल्लभ होता है।** ऐसा है न! ऐसे शब्द बहुत बार आते हैं। बहुत कलशों में आ गये। १८३ (गाथा) हुई। आहाहा! १८४।

जीवाण पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी।

देखो! यहाँ पहले उपादान लिया, पश्चात् निमित्त लिया। पहला तो लिया। सिद्ध भगवान परमात्मा यहाँ होते हैं देह में, (पश्चात्) लोकाग्र में जाते हैं। आठ कर्मरहित तो यहाँ होते हैं। इसी प्रकार जो... रूप से जाये... लोकाग्र में। वह अपनी योग्यता ही लोकाग्र में जाने की और लोकाग्र में रहने की है। धर्मास्तिकाय आगे नहीं हैं, इसलिए (आगे) जाते नहीं, ऐसा कहना वह धर्मास्ति का (निमित्त) सिद्ध करने के लिये है। शास्त्र में ऐसा आता है। आगे क्यों नहीं जाते? यहाँ कहेंगे, धर्मास्ति का अभाव है। इतनी ही स्थिति वर्णन करते हैं। वहाँ तक ही धर्मास्ति है। लोकाग्र तक ही धर्मास्तिकाय होता है। यह विवाद पहले से उठा था, लो! इन्दौर के आये थे न पण्डितजी के साथ। देखो! धर्मास्तिकाय के अभाव से सिद्ध आगे नहीं जाते।

जीवाण पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी।
धम्मत्थि-कायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति॥१८४॥

नीचे हरिगीत।

जानो वहीं तक जीव पुद्गल-गति, जहाँ धर्मास्ति है।
धर्मास्तिकाय अभाव में आगे गमन की नास्ति है॥१८४॥

लो, यहाँ वह अभाव है, इसलिए गमन नहीं होता, ऐसा कहा। ऐसा ही आवे, तत्त्वार्थसूत्र में ऐसा आता है। तत्त्वार्थसूत्र। 'धर्मास्तिकाय अभावात्।' ऐसा ही आवे न, निमित्त समझाना हो तो। ऐसा कि, काल न हो तो परिणमन नहीं होता, धर्मास्ति न हो तो गति नहीं होती। देखो! अधर्मास्ति न हो तो स्थिति नहीं होती। वह तो निमित्त को सिद्ध करने की व्याख्या है।

टीका : यहाँ, सिद्धक्षेत्र से ऊपर जीव-पुद्गलों के गमन का निषेध किया है। लोकाग्र स्थित भगवान विराजते हैं, वहाँ से आगे नहीं जाते। क्यों नहीं जाते? कि उनकी अपनी उपादान की योग्यता ही इतनी है और धर्मास्तिकाय का अभाव है, वह निमित्त। समझ में आया? ऐसा कितने ही कहते हैं कि धर्मास्तिकाय का अभाव है, इसलिए सिद्ध आगे नहीं जाते, इतनी उनकी परतन्त्रता है। वरना अनेकान्त रहता नहीं। कथंचित् स्वतन्त्र, कथंचित् परतन्त्र। सिद्ध को भी परतन्त्र ठहराना है अभी। यह अनेकान्त की व्याख्या। ऐसा कहता है एक पण्डित। नीचे रखे हैं.... धर्मास्तिकाय नहीं तो आगे नहीं जाते, इतनी परतन्त्रता नहीं? एकान्त हो जायेगा वरना। अनेकान्त होना चाहिए। कथंचित् स्वतन्त्र, कथंचित् परतन्त्र। ऐसा वहाँ भी परतन्त्र है। यहाँ तो, स्वतन्त्र सिद्ध वहाँ रहे हुए हैं। भगवान पूर्णानन्द की प्राप्ति में ही रहे हुए हैं। परन्तु सिद्ध की वहाँ क्षेत्र में इतना रहने की योग्यता है। लोक का जीव है न! लोक का द्रव्य है तो लोक में रहता है। लोक का द्रव्य अलोक में जाये? इस चर्चा में बड़ा विवाद उठा है।

यह निमित्त। कितने प्रतिशत निमित्त के? कि ५० प्रतिशत और ५० (प्रतिशत) आत्मा के। ऐसा करके १०० प्रतिशत एक साथ होते हैं। यह बात चलती थी लो, तब। समझ में आया? धर्मास्तिकाय ने रोका कितना प्रतिशत? ५०। वह रुका यह ५०

(प्रतिशत) स्वतन्त्र स्वयं के (कारण से), ५० (प्रतिशत) उसके कारण से—ऐसा करके... ऐसा है ही नहीं। सौ में सौ प्रतिशत स्वतन्त्र वहाँ रहे हुए हैं। बहुत डालते हैं, जहाँ हो वहाँ यह बहुत डालते हैं। देखो! सिद्धक्षेत्र से आगे नहीं जाते। धर्मास्ति नाम का निमित्त नहीं, इसलिए (नहीं जाते)। देखो! निमित्त का प्रभाव। आहाहा! यह पण्डितजी को तो सब सुलटा हो गया। वे सुलटी बात करते हैं। कहो, समझ में आया इसमें?

जीवों की स्वभावक्रिया सिद्धिगमन (सिद्धक्षेत्र में गमन) है... क्या कहा? यहाँ आत्मा भगवान पूर्णानन्द का साधन करके सिद्ध होता है, वह यहाँ शरीर में सिद्ध होता है। वह अब जब स्वाभाविक क्रिया सिद्धिगमन—यहाँ से गमन होता है सिद्धक्षेत्र में गमन, वह स्वाभाविक क्रिया है। गमन है, इसलिए विभाविक क्रिया है, ऐसा है नहीं। कहो, समझ में आया? गति करते हैं न यहाँ से। गमन करे—गति करे इतना विभाव है या नहीं? नहीं। वह तो स्वाभाविक्रियासहित का गमन है। वह तो शुद्धस्वभाव की क्रिया का गमन है। विभाव-बिभाव है नहीं। आहाहा!

और विभावक्रिया... नीचे स्पष्टीकरण किया है। कोष्ठक में सुधारा है। **(अन्य भव में जाते समय) छह दिशा में गमन है;..** वह विभावक्रिया। छह काय... छह काय... वह पाठ में... अपक्रम ऐसा है, परन्तु छह काय कर डाला। भाई ने शीतलप्रसाद ने ऐसा कर डाला है। 'छह अपक्रम' मूल तो ऐसा है। छह काय नहीं, परन्तु छह अपक्रम। छह दिशायें। विभाववाले संसारी जीव छह दिशा में जाते हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और अधो—छह। छह दिशाओं में गमन। विभाविक क्रियावाले का छह दिशाओं में गमन। स्वाभाविक क्रियावाले का एकदम सीधा गमन, ऐसा कहते हैं। 'छह काय... गमणे' इतना निकाल देना। छहकाय के क्रम से संयुक्तपना अथवा छह काय का भ्रमण—यह निकाल देना। निकाल दिया है? **(अन्य भव में जाते समय) छह दिशा में गमन है;...** 'अन्य भव में जाते हुए' यह कोष्ठक में है। छह दिशाओं में गमन, वह विभाविक क्रिया का स्वरूप है।

पुद्गलों की स्वभावक्रिया परमाणु की गति है... पुद्गल है न यह जड़ मिट्टी। इसका एक परमाणु ऐसे गति करे, वह स्वभावक्रिया है। जैसे सिद्ध की स्वाभाविकक्रिया गमन की है, वैसे एक परमाणु की भी स्वभावक्रिया है। स्वभावक्रियारूप गति है, लो।

एक परमाणु १४ राजुलोक में जाये ऐसे, तो भी वह स्वाभाविकक्रिया है। बाद की वह पर्याय वहाँ... सिद्ध तो यहाँ से होते हैं, वह सात राजु है। परमाणु भी नीचे हो और ऊपर जाये। यहाँ तो ऐसा सिद्ध करना है कि इतना १४ राजुलोक जाये, तथापि वह स्वाभाविकक्रिया है। गमन इतना करे, इसलिए विभाविक है, ऐसा नहीं है। स्वभाव ही उसका यह है। एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जाता है, वह परमाणु की स्वाभाविकक्रिया है। गमन करे १४ राजुलोक तो भी, ऐसा यहाँ कहते हैं। बहुत गति की है इतनी बड़ी, इसलिए विभाव होगा? ऐसा। समझ में आया?

वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। सर्वज्ञकेवली परमात्मा ने कहा हुआ स्वरूप बहुत सूक्ष्म... बहुत सूक्ष्म है। ऐसा स्वरूप परमेश्वर के अतिरिक्त कहीं नहीं हो सकता। कहाँ अन्तर कितना! अब उसे दूसरे के साथ मिलान करे। समन्वय करो। वह भी धर्म है, यह भी धर्म है। किसके साथ करे? ऐसी दो बातें कीं। सिद्ध सात राजु जानेवाले हैं... यहाँ से सात राजु, समझ में आया? तो वह स्वाभाविकक्रिया है। परमाणु चौदह राजु जाये तो भी स्वाभाविक क्रिया है। एक प्रदेश जाये तो बात पूरी हो गयी। यह तो ठेठ सातवें नरक के पाताल में परमाणु हो और एक समय में सिद्ध है, वहाँ चला जाये। आहाहा! उसे खबर नहीं कि हम ऐसे जाते हैं। उसका वह स्वभाव ही है। तथापि गतिवान को भी इतनी शीघ्र गति कि एक समय में तो असंख्यप्रदेश लोक के—आकाश के (पार करे), तथापि उसे स्वाभाविकक्रिया कही जाती है। विभाविक है नहीं। गमन करे, वह विभाविक ऐसा अर्थ सच्चा नहीं है, ऐसा कहते हैं। गमन करना, वह विभाव है, यह बात सच्ची नहीं है।

स्वाभाविक क्रिया पुद्गलों की—परमाणु की गति है। **और विभावक्रिया...** अब उसमें वापस विभाव। **द्वि-अणुकादि स्कन्धों की गति है।** दो परमाणु से लेकर अनन्त परमाणु। यह शरीर देखो! इसकी विभाविक क्रिया है। अँगुली चलती है, वह अनन्त परमाणु की विभाविक (क्रिया) है। अपने आप। हों! आत्मा के कारण नहीं। बहुत रजकणों का जत्था है, इसलिए उसे विभाव कहा जाता है। एक से आगे बढ़कर जहाँ दो हुए। दो हुए वह विभावक्रिया हुई। द्वि-अणुकादि स्कन्धों की गति है, उसे विभाविक क्रिया कहा जाता है। समय-समय का माप लिया है, ऐसा कहते हैं। वस्तु की स्थिति...

एक समय में अकेला परमाणु गति हो, वह स्वाभाविक क्रिया, दो परमाणु और संसारी जीव गमन करे, वह विभाविक क्रिया।

इसलिए इनकी (जीव पुद्गलों की) गतिक्रिया त्रिलोक के शिखर से ऊपर नहीं है,... तीन लोक से आगे है नहीं। **क्योंकि आगे गतिहेतु (गति के निमित्तभूत) धर्मास्तिकाय का अभाव है;...** लो, ठीक! निमित्त है न। गति के निमित्तभूत धर्मास्तिकाय का अभाव है। उसमें बहुत लिखा है। मोतीलाल ने यह सब बहुत लिखा है। देखो! यह होता है, इसके बिना यह नहीं होता, इसके बिना यह नहीं होता। निमित्त का प्रभाव है। निमित्त अकिंचित्कर माने, उसकी यह बात नहीं सिद्ध होती। आहाहा! अरे भगवान! यह बात बैठी हो न पराधीन अनादि की, इसलिए यह बात (नहीं बैठती कि) सिद्ध का स्वयं का स्वतन्त्र स्वभाव है, इसलिए एक समय में जाते हैं और रहते हैं, जाते हैं और रहते हैं। पर के कारण से जाते हैं और रहते हैं, ऐसा नहीं। धर्मास्तिकाय का अभाव है, लो!

जिस प्रकार जल के अभाव में मछलियों की गतिक्रिया नहीं होती... पानी न हो तो मछली ऐसे कुछ धरती पर चलती नहीं। **इसी से, जहाँ तक धर्मास्तिकाय है, उस क्षेत्र तक स्वभावगतिक्रिया...** दृष्टान्त में भी ऐसा माने। पानी हो वहाँ मछली गति करती है, फिर नहीं कर सकती। वह तो उसकी स्थिति ही ऐसी है। गति करने की स्वयं की योग्यता हो, तब पानी होात है। वापस वे सब शब्द हैं, गतिपरिणत जीव, स्थितिपरिणत जीव। ऐसा है न?

मुमुक्षु : पंचास्तिकाय में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्वत्र ऐसा ही है न! गतिपरिणत जीव को धर्मास्तिकाय निमित्त, स्थितिपरिणत जीव और पुद्गल को अधर्मास्ति निमित्त। **स्वभावगतिक्रिया और विभावगतिक्रियारूप से परिणत जीव-पुद्गलों की गति होती है।** धर्मास्तिकाय हो वहाँ तक स्वभाववाले परमाणु और सिद्ध, विभाववाले दो परमाणु और संसारी की गति वहाँ तक होती है। आगे होती नहीं। ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है, ऐसा बराबर इसे जानना चाहिए। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण १३, बुधवार, दिनांक-१५-१२-१९७१
श्लोक-३०४-३०५, गाथा-१८५-१८६, प्रवचन-२०३

कलश है कलश।

त्रिलोकशिखरादूर्ध्वं जीवपुद्गलयोर्द्वयोः।
नैवास्ति गमनं नित्यं गति-हेतो-रभावतः॥३०४॥

यहाँ, सिद्ध भगवान लोकाग्र में जाते हैं, आगे नहीं जाते, उसका व्यवहार कारण बतलाते हैं।

श्लोकार्थः—गतिहेतु के अभाव के कारण,... निमित्त गतिहेतु... गति का हेतु ऐसे जो धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण (अर्थात् कि) गति के निमित्त के अभाव के कारण... निमित्तपना उसे नहीं। वहाँ यह सिद्ध किया, देखो! पहले लोकाग्र में है, ऐसा ले गये थे उपादान में। यहाँ ऐसा। दोनों प्रकार से समझाना है न! **गतिहेतु के अभाव के कारण,...** आत्मा पूर्णानन्द की प्राप्ति यहाँ अपनी पर्याय में प्राप्त करता है। उसे यहाँ, लोकाग्र में जाकर स्थित है (ऐसा कहा)। यह तो उसका उपादान का स्वयं का निज स्वभाव है। अब उसे व्यवहार से वर्णन करते हैं। गतिहेतु—उसे जो गति करने का निमित्त जो है धर्मास्ति, उसका वहाँ अभाव है।

सदा (अर्थात् कदापि) त्रिलोक के शिखर से ऊपर जीव... ऐसा। त्रिलोक के शिखर से ऊँचे **जीव और पुद्गल दोनों का गमन नहीं ही होता।** वहाँ आगे उसकी स्थिति है। निमित्तपना बतलाया है। उपादान तो लोकाग्र में रहने का स्वयं की योग्यता है। समझ में आया? इसमें तीन प्रश्न उठे थे न, पहले सेठ आये थे तब। धर्मास्तिकाय का अभाव। देखो! निमित्त की मुख्यता। आगे धर्मास्तिकाय नहीं है, इसलिए सिद्ध नहीं जाते। वहाँ लोकाग्र में रहने की स्थिति है, इसलिए आगे नहीं जाते। यहाँ कहाँ...? पहले सिद्ध किया न वह। लोकाग्र में जाते हैं, यह पहले सिद्ध किया। दूसरा... दूसरा इससे विरुद्ध कहे?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : कीमत तो पहले एकड़ा की हो या शून्य की? शून्य की तो बात... दूसरा निमित्त है, उसका ज्ञान कराया है। कीमत उसकी नहीं है। पहली चर्चा में ही यह विवाद उठा था। वह तो पुद्गल और (जीव) का गमन होता नहीं, यह तो स्वयं की योग्यता ऐसी है और निमित्त वहाँ आगे नहीं, ऐसा दोनों को सिद्ध किया। अब १८५ (गाथा), १८५।

णियमं णियमस्स फलं णिद्दिट्ठं पवयणस्स भत्तीए।
पुव्वावरविरोधो जदि अवणीय पूरयंतु समयण्हा॥१८५॥

जिनदेव-प्रवचन-भक्ति-बल से नियम, तत्फल में कहे।
यदि हो कहीं, समयज्ञ पूर्वापर विरोध सुधारिये॥१८५॥

टीका : यह, शास्त्र के आदि में लिये गये नियम शब्द का तथा उसके फल का उपसंहार है। दूसरी गाथा में कहा था '**मग्गो मग्गफलं ति**' मार्ग और मार्ग का फल दो का अब यहाँ उपसंहार करते हैं। **प्रथम तो, नियम...** नाम नहीं दिये परन्तु उसका स्वरूप दिया है। **शुद्धरत्नत्रय के व्याख्यानस्वरूप में प्रतिपादित किया गया;...** समझ में आया? पहले से वहाँ तीसरी गाथा में ऐसा लिया था कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र, यह नियम है। '**णियमेण य जं कज्जं**' नियम से जो जीव को सुख के लिये करनेयोग्य, उसे नियम कहा जाता है। आनन्द की प्राप्ति के लिये करनेयोग्य वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र, उसे नियम कहते हैं। समझ में आया? ऐसे नियम लेना और नियम पालना वह यह। समझ में आया? आत्मा का स्वभाव चैतन्यमूर्ति भगवान पूर्ण आनन्द, उसका ज्ञान, उसकी श्रद्धा, उसमें रमणता—यह नियम। इस नियम का कर्तव्य इसे करना चाहिए। यह नियम इसे करनेयोग्य है। आहाहा! समझ में आया?

वहाँ भी 'सार' शब्द द्वारा उसे कहा। विपरीत का अभाव बतलाने के लिये सार (कहा)। बाकी नियम अर्थात् सम्यग्ज्ञान-दर्शन और चारित्र। ज्ञान-दर्शन और चारित्र, यह नियम। समझ में आया? ज्ञान से बात शुरु की है। नियम अर्थात् कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र अर्थात् कि शुद्धरत्नत्रय। व्यवहाररत्नत्रय के निषेध के लिये शुद्धरत्नत्रय कहा। आहाहा! शुद्धरत्नत्रय अर्थात् कि आत्मा ज्ञान और आनन्द के पूर्ण स्वभाव से भरपूर

पदार्थ, उसके आश्रय से हुआ ज्ञान, दर्शन और चारित्र, उसका नाम शुद्धरत्नत्रय है। वह शुद्धरत्नत्रय कहने से अशुद्धरत्नत्रय(रूप) व्यवहार का उसमें निषेध होता है। समझ में आया? देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का विकल्प-राग, पंच महाव्रत का विकल्प-राग, शास्त्र पढ़ने का... यह शास्त्रज्ञान को विकल्प जान। इन तीनों का निषेध करने के लिये 'सार शब्द परिकथित है', ऐसा पहले आया था न! तीसरी गाथा में आया था। यहाँ निषेध की बात न लेकर, अस्ति से बात ली है।

पहले तो... कोष्ठक है न। 'नियम' शब्द है। '**नियमस्तावच्छुद्धरत्नत्रयव्याख्यान-स्वरूपेण प्रतिपादितः**' अरे! भगवान आत्मा को पूर्ण आनन्द की प्राप्तिरूपी मुक्ति, उसके उपायरूपी शुद्धरत्नत्रय का कारण और वह उसका उपाय। वह शुद्धरत्नत्रय अर्थात् आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप का ज्ञान, उसकी श्रद्धा और उसकी रमणता, इसका नाम शुद्धरत्नत्रय मोक्ष का उपाय, नियम कहने में आता है। कहते हैं कि उसके व्याख्यानस्वरूप प्रतिपादित किया गया है... शुद्धरत्नत्रय के कथन के लिये ऐसा सब कहा है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? शुद्धरत्नत्रय के व्याख्यानस्वरूप प्रतिपादित किया गया है। पहला व्यवहार आया हो, हो, उसे बतलाया हो, परन्तु उसकी (-मोक्ष की) प्राप्ति के लिये इसका (-निश्चय का) वर्णन ऐसा किया गया है।

उसका फल परम निर्वाण... भगवान आत्मा के पूर्ण स्वभाव का अन्तर्मुख स्वसंवेदनज्ञान, अन्तर के आश्रय की श्रद्धा और अन्तर में रमणता का फल परम निर्वाण है। कहो, समझ में आया? उसका फल उस समय आनन्द आवे, ऐसा न लेकर... समझ में आया? शुद्धरत्नत्रय की परिणति, वह आनन्दरूप है। परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि शुद्धरत्नत्रय कारणरूप है, उपायरूप है, इसलिए उसका फल वह निर्वाण है। समझ में आया? जिस समय आत्मा के स्वभाव का भान, श्रद्धा और रमणता हो, उस समय फलरूप तो आनन्द का वेदन है। वह यहाँ लेना नहीं। वह स्वयं शुद्धरत्नत्रय में आनन्द का फल इकट्ठा आ गया है। समझ में आया? यह तो अन्तर्मुख की श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की रमणता द्वारा निर्वाण अर्थात् पूर्णानन्द की प्राप्ति उसका फल है। आहाहा!

उसका फल परम निर्वाण के रूप... ऐसा कहा कि **प्रतिपादित किया गया।** उसके फल का भी उसमें कथन किया गया है। **यह सब कवित्व के अभिमान से नहीं**

किन्तु प्रवचन की भक्ति से... पाठ में है न! '**पवयणस्स भत्तीए**' अहो! प्रवचन—भगवान के कहे हुए भाव और उनके कथन, उनकी भक्ति से **प्रतिपादित किया गया है।** कहो, समझ में आया? मोक्षमार्ग की भक्ति, प्रवचन की भक्ति के लिये यह नियमसार कहा गया है। प्रवचन की भक्ति से कहा गया है। इसके अतिरिक्त, हम कुछ जानते हैं, इसके लिये कहा गया है अथवा हमको इतना आता है, इसलिए हमारी प्रसिद्धि करने के लिये यह कहते हैं—ऐसा नहीं है। मात्र भगवान आत्मा का जो शुद्धरत्नत्रय और उसके—भगवान के कथन की भक्ति से हम तो कहते हैं। समझ में आया?

हम तो उनके सेवक हैं। आहाहा! सेवक अर्थात्? पूर्ण प्राप्ति के कारण की सेवना, वही भगवान की सेवना है। समझ में आया? पूर्णानन्द की, शान्ति की प्राप्तिरूपी मुक्ति के कारण का सेवन, वही भगवान का सेवन है।

मुमुक्षु : सीमन्धर भगवान का....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, सीमन्धर भगवान का... भगवान को कहना है, उसके हम साधक हैं, साधनेवाले हैं, उसके .... हैं। आहाहा! समझ में आया? कहते हैं कि **यदि (उसमें कुछ) पूर्वापर दोष हो तो...** आगे-पीछे कोई शब्दों के व्याकरण आदि नियमों में फेरफार हो तो... समयसार में आया है कि '**छलं न घेतव्वं।**' यह शब्दों में फेर हो तो छल नहीं करना, इतना सुधार लेना तुम्हारे। यहाँ 'सुधार लेना' कहा है। वहाँ उन्होंने कहा है कि वहाँ तू अटकना नहीं, उस बात को (पकड़ कर)। हमारे तो भगवान आत्मा आनन्द की बात करनी है, उसका अनुभव करना। समझ में आया?

यह कोई पण्डिताई और कविपने की चतुराई से कहने में आया है, ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! दिखाव... दिखाव। क्या कहते हैं हिन्दी में? दिखावा। प्रदर्शन करना, दिखावा कि हम ऐसे हैं, चतुर (हैं), ऐसा दिखावा करने के लिये यह नहीं कहा। आहाहा! दुनिया में हमारी प्रसिद्धि प्राप्त हो, इसलिए यह कहा है, ऐसा कहने में नहीं आया। मात्र वीतराग का मार्ग ऐसा आनन्दस्वरूप है, सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप है, उनके आगमों में ऐसा कहा है, उसकी प्रेम और भक्ति से हम यह बात कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

उसमें कोई शब्दों के व्याकरण में, नियम में, काल-भेद में, धातु आदि में कोई फेरफार हो तो **समयज्ञ**—आगम के जानने(वाले) **परमकवीश्वर दोषात्मक पद का लोप...** है न? उसमें पद की दोषात्मक की व्याख्या है। वस्तु का अनुभव जो कहते हैं, वह तो बराबर है। उसमें पदों—शब्दों की कोई शैली में आगे-पीछे, शब्द में... आदि हो, उसका लोप **करके उत्तम पद करना।** पद को अच्छा करना, तुम ऐसे बहुत होशियार कविश्वर हो तो। समझ में आया? पदों की रचना में....

[अब, इस १८५वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:] ३०५ (कलश)।

जयति नियमसारस्तत्फलं चोत्तमानां,
हृदय-सरसि-जाते निर्वृतेः कारणत्वात्।
प्रवचनकृत-भक्त्या सूत्रकृद्भिः कृतो यः,
स खलु निखिलभव्यश्रेणिनिर्वाणमार्गः ॥३०५॥

श्लोकार्थः—मुक्ति का कारण होने से नियमसार... यह 'सार' (शब्द) लिया यहाँ। वह 'नियम' (शब्द) पाठ में था। ... नाम है न अकेला। मुक्ति का कारण... परम शान्ति और परम आनन्द की प्राप्ति। अरे! संसार के दुःखों से थका हो उसे... संसार के स्वर्गादि के सुख भी दुःख है। आहाहा! उनसे जिसे थकान लगी हो, आहाहा! प्रभु! ऐसे दुःख अब सहे नहीं जाते। भक्ति में नहीं आया था? कल आया था। ऐसे दुःख से जिसे मुक्त होना हो, उसे यह मुक्ति का कारण होने से नियमसार कहा गया है। और **तथा उसका फल उत्तम पुरुषों के हृदयकमल में जयवन्त है।** ऐसा कहते हैं। आहाहा! क्या कहा यह? मुक्ति का कारण ऐसा नियमसार ज्ञानी के हृदय में विराजमान जयवन्त वर्तता है। आहाहा! समझ में आया?

परम आनन्द और परम ज्ञान की मूर्ति प्रभु, उसके सन्मुख का ज्ञान, दर्शन और चारित्र ज्ञानी के हृदय में वर्तमान जयवन्त वर्तता है, ऐसा कहते हैं, (अर्थात्) विद्यमान है, ऐसा। आहाहा! समझ में आया? ऐसे अद्धर से बात करते हैं, ऐसा नहीं। है मेरे पास, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **मुक्ति का कारण होने से नियमसार तथा उसका फल उत्तम**

पुरुषों के हृदयकमल में जयवन्त है। मोक्ष कैसा है, उसका भी उसे ज्ञान वर्तता है। आहाहा! **प्रवचन की भक्ति से सूत्रकार ने जो किया है,** दिव्यध्वनि—भगवान की वाणी, उसकी जो भक्ति, उससे सूत्रकार कुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने जो यह किया है, वह वास्तव में, ऐसा। **(अर्थात् श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने जो यह नियमसार की रचना की है),** लो। नियमसार किया है, रचा है, ऐसा कहा, लो! निमित्तरूप से बताते हैं, निमित्तपना बताते हैं। वाणी तो वाणी के कारण से रचती है, परन्तु भाव की रचनावाले जो थे, उन्होंने यह 'वाणी की रचना की', ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया?

अन्तर में वस्तु के पूर्ण स्वभाव के आनन्द के वेदन की दशा में थे, उसमें वे थे, उसकी रचना उन्होंने की थी। परन्तु ऐसी स्थितिवाले प्राणी ने उसे अनुसरती वाणी की रचना भी की, ऐसा कहने का व्यवहार है। आहाहा! समझ में आया? कहनेवाले ने तो नियमसार रचा है। अर्थात् कि अपनी पर्याय निर्मल शुद्धस्वभाव के आश्रय से उन्होंने रची थी, वह नियमसार—भावनियमसार उन्होंने रचा। और उसे अनुसरती वाणी निकली, उसे हम निमित्त से कहते हैं कि उसे हमने रचा, ऐसा। समझ में आया? आहाहा!

कुन्दकुन्दाचार्य और मुनि—दिगम्बर सन्त, गजब काम करते हैं! उसकी बात करते कि नियमसार की, हमने रचा है... हमारा भगवान राग से रहित... 'सार' का अर्थ है न? ऐसा निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र जयवन्त वर्तता है, ऐसा कहा न पहले? वर्तमान है। आहाहा! और उसे अनुसरकर वाणी, वाणी के कारण से रचती है, बोली जाती है, परन्तु निमित्तपना है, इसलिए हम इसे रचते हुए इसे रचते हैं, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया?

प्रवचन की भक्ति से सूत्रकार ने जो किया है,... यह नियमसार रचा है, **वह वास्तव में समस्त भव्यसमूह को निर्वाण का मार्ग है।** समस्त भव्यसमूह को... समस्त भव्यसमूह को... वह भव्य का समूह—ढ़ेर, उसे **निर्वाण का मार्ग है।** नियम है न? उसे नियम मोक्ष का मार्ग, निर्वाण का मार्ग यह है। सन्तों ने रचा है। और वाणी की रचना में निमित्त (थे), इसलिए उन्होंने 'वाणी रची' ऐसा कहा और भव्यसमूह को वह मोक्ष का मार्ग है। आहाहा! १८५ (गाथा) हुई। अब यहाँ १८६ (गाथा)।

ईसाभावेण पुणो केई णिंदंति सुन्दरं मग्गं।
तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे॥१८६॥

जो कोइ सुन्दर मार्ग की निन्दा करे ईर्षा से... ऐसा सुन्दर मार्ग, उसकी कोई निन्दा (करे कि) यह ... स्वार्थ के पुतले हैं, हम हमारा करते हैं, हम हमारा करते हैं। ऐसी निन्दा करनेवाले करो, परन्तु स्वरूप की भक्ति में शिथिलता लाने देना नहीं। समझ में आया?

जो कोइ सुन्दर मार्ग की निन्दा करे मात्सर्य में।
सुनकर वचन उसके अभक्ति न कीजिये जिनमार्ग में॥१८६॥

....उन्मार्ग लिया है निश्चय। पहला... यह लिया है। शुद्धरत्नत्रय मार्ग के प्रति भव्य अभक्ति नहीं करना, ऐसा कहा है न! अन्दर मार्ग की व्याख्या करते हुए निश्चय-व्यवहार कहा.... समझ में आया?

टीका : यहाँ भव्य को शिक्षा दी है। भव्य को शिक्षा दी है, योग्य जीव को कहा गया है। आहाहा! **कोई मन्दबुद्धि...** ऐसा नियम (रूप) मोक्ष का मार्ग शुद्ध रत्नत्रय— स्वद्रव्य के आश्रय से होती दशा, ऐसा मार्ग, उसे नहीं समझनेवाले, ईर्ष्या करनेवाले... समझ में आया? कहा था। बहुत वर्ष पहले यहाँ एक प्रश्न हुआ था। (संवत्) १९९२ के वर्ष। यह सिद्ध भगवान क्या करते हैं? कहा, सिद्ध भगवान किसी का कुछ नहीं करते। वे अपने आनन्द के अनुभव को करते हैं। अरे! ऐसे सिद्ध? यहाँ हम भी थोड़ा-बहुत दूसरे का करते हैं और वे बड़े हुए और कुछ नहीं करते? अरे भगवान! बापू! तुझे खबर नहीं। तब हमारे ऐसे सिद्ध नहीं चाहिए। परन्तु था कहाँ भाई! समझ में आया?

हीराभाई के मकान में प्रश्न हुआ था। वे तो गुजर गये बेचारे। सी.जी. शाह मुम्बई। उसे कुछ धर्म-बर्म का (भान नहीं था)। बस सामने पड़ना (ख्याति लाभ चाहना)। कि यह सिद्ध भगवान पूर्ण होकर, परमात्मा होकर क्या करते हैं? कहा, कुछ नहीं करते पर का (और) अपने पूर्ण आनन्द का अनुभव करते हैं। ले, ऐसे सिद्ध! बड़े हुए और कुछ नहीं करते किसी का, वे बड़े किसके? ऐई पण्डितजी! हम भी यहाँ गाँव में... गाँव में नहीं तो देश में और परिवार में सर्वत्र जहाँ हो वहाँ सुधारा-बुधारा करने के

लिये प्रयत्न करते हैं। वे कुछ नहीं करते किसी का? कहा, हराम है कुछ करे यदि किसी का। तुम भी कुछ नहीं करते किसी का। सिद्ध भगवान... यहाँ भी कौन करता है किसी का? यह तो व्यर्थ में अज्ञानी मूढ़ मानता है। बहियाँ-वहियाँ, नामा-बामा देखता होगा या नहीं यहाँ? यह सब क्या अभी तक किया? ऑडिटर हुए न... ऑडिटर न? बहियों के नामा को (जाँचनेवाले)।

यह हमारे मन्त्री है। कितना काम किया है पोरबन्दर में। देखो न! सामने काका और काकी बहुत महिमा पाते। हमारे पालेज में भी एक काका-काकी थे। मुसलमान थे। पुराने व्यक्ति। गाँव में पहले आये हुए। पहले आये हुए इसलिए काका-काकी कहलाते। हमारे घर के पीछे रहते थे। मुसलमान थे। प्रत्येक गाँव में एक काका-काकी होते हैं, ऐसे पोरबन्दर में यह कहलाते थे। वह तो छोटा। पालेज अर्थात्... और तब तो साधारण थे। तब तो साधारण थे। अब तो... तब तो एकदम साधारण थे। अभी बढ़ गया। तब काका-काकी कहलाते थे। यह बड़े पोरबन्दर के। रहे नहीं, हों! काकी तो चली गयी। यह एक रहे। किसके काका और किसकी काकी? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि हे भव्य जीव! तेरा स्वप्रयोजन मार्ग को साधता (हो और) कोई दुनिया ऐसा कहे कि यह तो ... अकेले स्वार्थी हैं, किसी का कुछ करना नहीं और हम धर्मी। किसी का कुछ करना नहीं। अपना पेट तो कुत्ते (भी) भरते हैं, ऐसा और एक कहता था। ऐ चेतनजी! इन चेतनजी को खबर है नाम क्या है। वे आये थे, ...में से आये थे। वे कहे, कुत्ते भी पेट भरते हैं। अरे प्रभु! क्या कहता है? भाई! तू क्या कहता है यह? साधु नाम धरावे। अपना पेट तो कुत्ते भी भरते हैं। पर का करे वह सही। वाह रे वाह! पश्चात्... चेतनजी है न! उनका नाम तुम्हारे जैसा नाम है। ऐई! खबर है? हिम्मतलाल जेठालाल। आये हैं। वे कहते थे... आहाहा! यह भगवान अपना करने के अतिरिक्त... यह अज्ञानरूप से राग-द्वेष और मिथ्यात्व स्वयं के लिये करता है। वह कुछ पर का करता है? आहाहा! करे किसका परन्तु? जगत के अनन्त तत्त्व अनन्तरूप परिणम रहे हैं। अनन्तरूप रहकर अनन्तरूप द्रव्यरूप से और पर्यायरूप से रहे हुए हैं। अब उनके अनन्त में से एक दूसरे का करे तो अनन्त (पने) कम जो जाये—अनन्त की संख्या रहती नहीं। आहाहा!

कहते हैं कि कोई मन्दबुद्धि... **त्रिकाल-निरावरण, नित्य आनन्द जिसका एक लक्षण...** अब यहाँ शुरु करते हैं, देखो! उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र लिया। यहाँ श्रद्धा... त्रिकाल निरावरण... मोक्षमार्ग तो यह है, नियम यह मोक्षमार्ग है, परन्तु ज्ञान-दर्शन-चारित्र लिया। वहाँ ज्ञान-दर्शन-चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है पहले। यहाँ इस शब्द से शुरु किया है। त्रिकाल निरावरण भगवान आत्मा **नित्य आनन्द जिसका एक लक्षण...** आहाहा! भगवान आत्मा का लक्षण नित्य आनन्द... अतीन्द्रिय नित्य आनन्द जिसका लक्षण है। आहाहा! समझ में आया? कोई मन्दबुद्धि, इतना बस। अब **त्रिकाल-निरावरण, नित्य आनन्द जिसका एक लक्षण...** एक लक्षण है। देखा! यहाँ ज्ञानलक्षण न लेकर आनन्द का लक्षण लिया है। आहाहा! समझ में आया? अतीन्द्रिय आनन्द में विराजमान आत्मा है, वह उसका लक्षण है। आहाहा! राग और पुण्य के परिणाम, वह उसका लक्षण नहीं।

जब बतलाना हो, तब दूसरा बतलावे। वहाँ आता है न पंचास्तिकाय में? उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण—तीन लक्षण है। प्रत्येक पर्याय उत्पाद-व्यय वह भी उसका लक्षण है, परन्तु वह तो सामान्यरूप से लक्षण बतलाना है। यह तो खास गुण को भिन्न करके बतलाना है... समझ में आया? जिसे भिन्न पड़ना है, उसे भिन्न करके बतलाना है। आहाहा! त्रिकाल प्रभु निरावरण वस्तु है। वस्तु को आवरण कैसा? ऐसी चीज़ जो सत्त्व सत्... सत्... सत् का सत्त्व। समयसार में यह आया था कि शुद्ध और अशुद्ध जीव का सत्त्व है, उसके सत्त्व में है। आया था या नहीं? वह तो पर्याय बतलाने के लिये (कहा था)। यह तो द्रव्य बतलाना है। समझ में आया?

शुद्ध-अशुद्ध पर्याय, वह भी जीव का सत्त्व है। सत्त्व अर्थात् उसके सत् के सत्त्व में होता है, कहीं पर में होते नहीं। परन्तु यहाँ तो द्रव्य को बतलाना है, वस्तु कौन सी है! वह तो पर्याय को बतलाना थी। ओहो! तीनों काल में निरावरण प्रभु विराजता है और नित्य आनन्द जिसका लक्षण है। वह सुख और आनन्द वही उसका लक्षण है और आनन्द के लक्षण से वह आत्मा लक्षित हो सकता है। आहाहा! **ऐसे निर्विकल्प निजकारणपरमात्मतत्त्व के...** त्रिकाल निरावरण और नित्य आनन्दलक्षण ऐसे निर्विकल्प—अभेद निज कारणपरमात्मा... अपना कारणपरमात्मा वस्तु। ऐसे **कारणपरमात्मतत्त्व के**

सम्यक्-श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप... ऐसा अपना परमात्मा कारणस्वरूप भगवान की सच्ची अन्तरश्रद्धा, उसका आत्मज्ञान, ऐसे आत्मा में अनुष्ठानरूप—आचरणरूप वह चारित्र।

अनुष्ठानरूप शुद्धरत्नत्रय से... ऐसे सम्यक्-श्रद्धान, ज्ञान, अनुष्ठानरूप। क्या? शुद्धरत्नत्रय। ऐसे शुद्धरत्नत्रय से... इतनी व्याख्या अभी की अब। उससे विरुद्धवाले तेरी निन्दा करे तो अभक्ति करना नहीं, ऐसा सिद्ध करना है। **प्रतिपक्ष...** यहाँ प्रतिपक्ष में यह आया। उसमें और वह प्रतिपक्ष लेने जाये तो वह मिलता नहीं। नियमसार (गाथा ३)। 'व्यवहार के परिहार के लिये...' यह तो उसकी और उसकी वस्तु... विकल्प है न। नियमसार। व्यवहार का परिहार अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय विकल्प के परिहार के लिये सार शब्द जोड़ा है। वहाँ तो उसकी विकारी पर्याय से विरुद्ध, ऐसा। यहाँ तो कहते हैं कि शुद्धरत्नत्रय से विरुद्ध मिथ्यात्वकर्म के उदयवाले, ऐसा लेना है। जिस जगह जो हो वहाँ... तब वे वहाँ चिल्लाहट मचाते हैं कि नहीं, यहाँ ऐसा नहीं। यहाँ ऐसा लेना कि मिथ्यात्व और सम्यग्दर्शन, वह विरुद्ध है, उसके परिहार के लिये मोक्षमार्ग कहा है।— ऐसा कहते हैं। यहाँ तो विरोध करनेवालों को लेना है न! वह तो विरुद्ध पर्याय से रहित नियमसार है, ऐसा कहना है। समझ में आया? आहाहा!

ऐसा अपना कारणपरमात्मा भगवान नित्यानन्द प्रभु शाश्वत् वस्तु की सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान और अनुष्ठानरूप शुद्धरत्नत्रय कि जो मोक्ष का मार्ग है, ऐसे रत्नत्रय से विरुद्ध **मिथ्यात्वकर्मोदय के सामर्थ्य द्वारा...** विपरीत ऐसा दर्शनमोह, उसके उदय की सामर्थ्य द्वारा... उसमें जुड़ने से... है, ऐसा कहना है न! आहाहा! आया न, कर्मोदय है न, वह उसके उदय का सामर्थ्य कहलाता है, उसके उदय का सामर्थ्य। वह आत्मा का सामर्थ्य कहाँ था? **कर्मोदय के सामर्थ्य द्वारा मिथ्यादर्शन...** जिसे मिथ्याश्रद्धा है, मिथ्या**ज्ञान** है, मिथ्या**चारित्र में परायण** है। **परायण वर्तते हुए...** आहाहा! **ईर्षाभाव से अर्थात् मत्सरयुक्त परिणाम से...** ईर्ष्या कि हम ऐसे जाननेवाले हैं, हम ऐसे जाननेवाले हैं, यह तुम सब स्वार्थ के पुतले .... आत्मा का हम करते हैं, आत्मा का करते हैं। ऐसा करके ऐसे सुन्दर मार्ग की कोई निन्दा करे मत्सरयुक्त से—ईर्ष्याभाव से... ऐसे **परिणाम से सुन्दरमार्ग को—**अब सुन्दर मार्ग की जरा व्याख्या करते हैं।

'णिंदंति सुंदरं मग्गं' पापक्रिया से निवृत्ति जिसका लक्षण है, ऐसे भेदोपचार-

रत्नत्रयात्मक... पहला यह व्यवहार लिया। मुनि का मार्ग (जिसमें) पाप के परिणाम से निवृत्ति है (और) अहिंसादि के परिणाम, व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम हैं उसे। **पापक्रिया से निवृत्ति जिसका लक्षण है, ऐसे भेदोपचार-रत्नत्रयात्मक**—व्यवहाररत्नत्रय... व्यवहाररत्नत्रय ऐसा जो उसका विकल्प और अभेदोपचार-रत्नत्रय, यह निश्चय। **अभेदोपचार-रत्नत्रयात्मक सर्वज्ञवीतराग के मार्ग को**—देखो! **भेदोपचार-रत्नत्रयात्मक तथा अभेदोपचार-रत्नत्रयात्मक सर्वज्ञवीतराग के मार्ग को...** प्रमाण का ज्ञान कराया है न जरा! व्यवहार भी ऐसा होता है, आराधना है निश्चय, परन्तु जब तक पूर्ण वीतराग न हो जाये, उसमें व्यवहार ऐसा होता है। व्यवहार ही अलग प्रकार का है वीतराग का। उसमें तू आरोहण कर। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का विकल्प, पंच महाव्रत का विकल्प, उसका सावद्य का त्याग, बाह्यहिंसा का त्याग—ऐसा व्यवहाररत्नत्रयस्वरूप और अभेदोपचार-रत्नत्रयस्वरूप **सर्वज्ञवीतराग के मार्ग को—निन्दते हैं,...** 'मन्दबुद्धि' कहा था पहले से। कोई मन्दबुद्धि इस प्रकार निन्दा करते हैं, ऐसा। समझ में आया?

हमारा कुछ न करे, वे वीतराग किसके? भगवान किसके बड़े? ऐसा कहे। बड़े हों तो बहुतों का करे न। लो, यह तो हम हमारा करते हैं, हम बड़े हैं मोक्ष के मार्ग के। नहीं, ऐसा नहीं होता। दुनिया का करना। कदाचित् भव करना पड़े दुनिया के लिये तो भव करना। समझ में आया? यह बात आ गयी है। समझ में आया? जगत के हित के लिये भव करना पड़ता हो तो हम भव करेंगे। धूल में भी कल्याण होता नहीं जगत का इससे। आहाहा! धूल भी नहीं होता। किसे लाभ होता होगा? स्वयं अपना करे, उसमें और विकल्प कोई आ गया और तीर्थंकरगोत्र बँध गया तो सामनेवाले को (अन्य को) निमित्त हो। वह भी वह करे, तब निमित्त हो या नहीं? उससे वहाँ कहाँ होता है? समझ में आया?

कहते हैं कि अरे! ऐसे मन्दबुद्धि ऐसे वीतरागमार्ग को... 'सर्वज्ञवीतराग शब्द' यहाँ किया है। आहाहा! तीन काल, तीन लोक जिन्हें एक समय में—सूक्ष्म काल में जानने में आ गये हैं। ऐसे सर्वज्ञवीतराग का जो कहा हुआ मार्ग, उसकी कोई निन्दा करे। ... यह तो भगवान को भी मानते नहीं। भगवान को माने तो कहे राग होता है। यह गजब... समझ में आया? ऐसे **सर्वज्ञवीतराग के मार्ग को—निन्दते हैं,...** आहाहा! **उन**

स्वरूपविकल (स्वरूपप्राप्ति रहित)... विकलेन्द्रिय... विकलेन्द्रिय नहीं होते ? दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय—वे विकलेन्द्रिय हैं। पूरी पाँच इन्द्रियाँरहित। **स्वरूपप्राप्ति रहित...** चैतन्यस्वरूप पूर्णानन्द अखण्ड आनन्दस्वरूप की प्राप्ति जिन्हें नहीं है और ऐसे मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान की प्राप्ति उन्हें है। आहाहा!

ऐसे **जीवों के कुहेतु...** हेतु दे खोटे। **कुदृष्टान्त...** खोटे दृष्टान्त दे इसे। समझ में आया ? ऐसे **कुहेतु** और **कुदृष्टान्तयुक्त कुतर्कवचन...** ऐसा। दृष्टान्त दे अपने। ऐसे होता है, फलाना होता है, बहुतों को तिराया है, देखो! मोक्षमार्ग में ले गये। अकेले रहे वे तो स्वार्थ के पुतले कहलाते हैं। परमार्थ करे वह बड़ा पारमार्थिक कहलाता है। ऐई! कितनी ही गौशालाओं में रुकना नहीं पड़ा होगा ? किसके काका कहलाते होंगे ? किसी के काम किये हों तब न! आहाहा! तुम्हारे से तो कुछ होता नहीं, और कहते हो कि दूसरे को समझाने के लिये खड़े हुए। .... तुम्हारा मेल कहाँ है इसमें कहीं ? ऐई! तुम कहते हो कि किसी से किसी का कुछ होता नहीं, और कहे, हम तुमको समझाते हैं। तुम्हार मेल कहाँ है इसमें ? ऐसी वे निन्दा—विरोध करते हैं। तुम कहो कि मौन रहने में लाभ है। और वापस बोलने की बातें तुम करते हो। इसमें मेल कहाँ है तुम्हारे ? ऐई जेठाभाई!

ऐसे कुहेतु रखकर और कुदृष्टान्त देकर तथा कुतर्क के वचन बोले। आहाहा! समझ में आया ? उसमें और तुम कहो कि अकेला क्रमबद्ध होता है, और तुम समझाकर उसकी क्रमबद्ध बदला डालते हो। ...कुतर्क करते हैं। ऐसे कुदृष्टान्त देकर कुतर्क करते हैं। समझ में आया ? जिस समय में जो पर्याय... **मुमुक्षु :** ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो ... लगे उसे। उसके काल में उसकी पर्याय होगी तो फिर तुम उसे 'ऐसा कर' ऐसा समझाने को किसलिए व्यर्थ में लगे हो ? कहो, समझ में आया ? भाई! वाणी के काल में वाणी निकली, यह समझा न साथ में। और विकल्प के काल में विकल्प आया और जानते हैं कि यह विकल्प और वाणी है, ऐसा जानने के काल में ज्ञानपर्याय का स्वभाव, वही जानने का था। समझ में आया ? कठिन मार्ग ऐसा!...

फूलचन्दजी कहते हैं कि देखो! हमने यह किया है। वे सोनगढ़ को मानते ही नहीं। सोनगढ़ कहता है कि कर नहीं सकते और देखो! ऐसा लिखा है कि मैं यह करता हूँ। भारी तर्क... जैन तत्त्वमीमांसा। अरे भगवान! क्या कहते हैं, भाई ? वह तो... परन्तु

समझाने की शैली में भाषा तो यही आवे न! समझ में आया? तुम समझाते हो न! तुम क्रमबद्ध मानते नहीं और पर का कर सकते नहीं, ऐसा भी मानते नहीं। सोनगढ़ कहता है, वह मानते नहीं। आहाहा!

कुहेतु और कुदृष्टान्त सहित... वापस दृष्टान्त दे उसके जैसा। सब अपने आप हो जायेगा? दीपक की ऐसे चांप मारो वहाँ एकदम प्रकाश हो। किसलिए खड़े हुए? अपने आप होता है न? होने दो अपने आप... वहाँ तो खड़े होकर ऐसे दबावे, तब दीपक होता है। एक ओर ऐसा मानो कि नहीं होता, और हम करते हैं तो होता है। इन दो में तुम्हारे मेल कहाँ है? ऐ वजुभाई! आहाहा! ऐसे **स्वरूपविकल जीवों के...** भाई! उसे खबर नहीं। वह कुहेतु रखेगा, कुदृष्टान्त का दृष्टान्त भी उसे मेल आवे ऐसा कहेगा। पंचाध्यायी में कहा है नयाभास का। नयाभास का कहा है। कुदृष्टान्त—उदाहरण दृष्टान्त देकर सिद्ध करेगा, परन्तु वह कुनय है। कुनय है।

ऐसे **कुतर्कवचन सुनकर जिनेश्वरप्रणीत...** वीतराग परमेश्वर जिसने प्राप्त किया है, उनने कहा हुआ—जिनेश्वरप्रणीत... वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर का प्रणीत—उन्होंने कहा हुआ **शुद्धरत्नत्रयमार्ग...** देखो! यहाँ अभेद कहा है। उसमें दो थे, उसे बतलाया है। यह शुद्धरत्नत्रय... शुद्धरत्नत्रयमार्ग... शुद्धरत्नत्रयमार्ग... अकेला स्व के प्रयोजन का मार्ग। जिसमें आत्मा अपना ही कर सके, पर का कुछ जरा भी नहीं, तथा पर से कुछ जरा भी ले नहीं। ऐसा जो **शुद्धरत्नत्रयमार्ग...** शुद्धरत्नत्रय सर्वज्ञ ने कहा हुआ मार्ग, उसके **प्रति, हे भव्य! अभक्ति नहीं करना,...** ऐसा मार्ग हो तो ऐसे निन्दा करनेवाले इतने अधिक झुण्ड क्यों निकलते हैं? ऐसा मानना नहीं। वह तो ऐसा ही होता है। भगवान का कहा हुआ मार्ग, उसमें अभक्ति करना नहीं। आहाहा! समझ में आया?

पूरी दुनिया कदाचित् डोल उठे, परन्तु सत्य से हटना नहीं, भाई! उसमें क्या होगा? ऐसा कुछ होगा? यह सब इतने बड़े-बड़े पण्डित... एक व्यक्ति कल कहता था। ऐसे बड़े महाराज कहलाये, वे सब खोटा करते होंगे? बाह्यत्यागरूप से उनकी कीमत की हो न, इसलिए बड़े कहलाये। संसार में रहे (होने से), स्त्री-पुत्र में रहे दिखते (होने से), समकिती उसे छोटा लगता है। समकिती जीव उसे—मिथ्यात्वी को छोटा लगता है (और) वे बड़े लगते हैं। ऐसा त्याग! स्त्री-पुत्र, सर्व राजपाट छोड़े, बड़ा

धन्धा छोड़ा और ऐसे त्यागी हुए, उनके वचन मान्य हों या नहीं? सुन न अब! त्याग किया ही है कब उसने मिथ्यात्व का? समकित का त्याग किया है उसने तो। उसकी महत्ता (देखकर) उसके वचन बड़े मानना, यह तो तेरी भूल है। समझ में आया?

जिनेश्वरप्रणीत—वीतराग ने कहा हुआ मार्ग... शुद्धरत्नत्रयमार्ग एक ही कहा है, देखो! पाठ में 'जिनमार्ग' है सही न? '**अभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे**' वीतरागी भगवान आत्मा के आश्रय की दृष्टि, ज्ञान और चारित्र में प्रेम नहीं छोड़ना—अभक्ति नहीं करना। एक ही हो तो भी बस है। सत् को संख्या की आवश्यकता नहीं। इसलिए हाँ करनेवाले बहुत मिलें तो सत्य कहलाये, ऐसा है नहीं। आहाहा! **परन्तु भक्ति कर्तव्य है।** अस्ति कही। दुनिया के कुहेतु-कुदृष्टान्तयुक्त कुतर्क के वचन... कुतर्क के वचन... कहते हैं कि केवलज्ञानी के हिसाब से सब जीवों में क्रमबद्ध होता है, श्रुतज्ञानी ऐसा मानता है, परन्तु उसके आचरण में ऐसा नहीं होता। कहो! आहाहा! श्रुतज्ञानी कहता है कि मैं पुरुषार्थ करूँ तत्प्रमाण होगा, पुरुषार्थ करूँ तत्प्रमाण होगा, ऐसा भगवान ने देखा नहीं उसमें यह? आहाहा! समझ में आया?

एक व्यक्ति और ऐसा कहता था ललितपुर का कि यह तुम्हारी बात एकाध को बैठे, ऐसी है। .... रात्रि में वह थे न, नन्दकुमार... उनके गाँव का है। नाम भूल गये। ... रामजीभाई को बहुत विवाद हुआ था। साथ में एक दूसरा था, ललितपुर का पण्डित था। वह बोला, यह तुम्हारी बात एकाध को... भले एकाध को बैठे, परन्तु सत्य है या नहीं अब? अब एकाध को बैठे—न बैठे, उसका क्या काम है यहाँ? न बैठे तो क्या हो गया? वह पण्डित था पण्डित। गुजर गया। छोटी उम्र में गुजर गया। अरेरे! बापू! ऐसा काल आया... करने का कुछ और कर बैठे कुछ। अरेरे! आँखें मिचेंगी। अन्धेरे कमरे में जाकर चौरासी के अवतार में कहाँ अवतरित होगा? बापू! यह अवतार छूटने की बात अर्थात् स्व के आश्रय के मार्ग की क्रिया, अन्तर की क्रिया उसकी, वह जिसे न बैठे, वह ईर्ष्या से निन्दा करे। समझ में आया? **भक्ति करना।** भाई! अर्थात् भगवान पूर्णानन्दस्वरूप की रुचि, ज्ञान और रमणता करना। उसमें शिथिलता नहीं आने देना, ऐसा कहते हैं। अभक्ति करना नहीं। समझ में आया? १८६ टीका का श्लोक।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण १४, गुरुवार, दिनांक-१६-१२-१९७१
श्लोक-३०६-३०७, गाथा-१८७, प्रवचन-२०४

१८६ गाथा के दो कलश हैं। ३०६ वाँ कलश।

[अब, इस १८६वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं:]

देहव्यूह-महीज-राजिभयदे दुःखावली-श्वापदे,
विश्वाशातिकरालकालदहने शुष्यन्मनीयावने।
नाना-दुर्णय-मार्ग-दुर्गम-तमे दृङ्मोहिनां देहिनां,
जैनं दर्शन-मेक-मेव शरणं जन्माटवी-सङ्कटे ॥३०६॥

'**जन्माटवीसंकटे**' कहते हैं कि यह संसाररूपी अटवी विकट स्थल है।

श्लोकार्थः—देहसमूहरूपी वृक्षपंक्ति से जो भयंकर है,... एक देह, दूसरी देह ऐसे अनन्त देह, उनका जो समूह, उनकी पंक्ति-धारा। जैसे वन में वृक्ष की पंक्ति होती है, अटवी में जैसे वृक्ष की पंक्ति का समूह होता है, वैसे संसाररूपी अटवी में देहसमूहरूपी वृक्ष की पंक्ति है। एक के बाद एक... एक के बाद एक... एक के बाद एक देह इसे संसार में मिलती ही रहती है। जिसमें देहसमूह, देह का पूरा ढ़ेर। ऐसे **देहसमूहरूपी वृक्षपंक्ति से जो भयंकर है,...** संसार अटवी। **जिसमें दुःखपरम्परारूपी जंगली पशु (बसते) हैं,...** अटवी में जैसे सिंह और बाघ बसते हैं, वैसे दुःख की परम्परा एक के बाद एक... एक के बाद एक... दुःख तो चला ही करते हैं। संसार में (कोई) दुःखरहित है नहीं।

दुःखपरम्परारूपी जंगली पशु (बसते) हैं,... राग-द्वेष की आकुलता। चाहे तो स्वर्ग में हो, नरक में हो, सेठाई में हो, रंकाई में हो परन्तु उसे दुःख की परम्परा में जंगली पशु बसते हैं। वेरी चीर डाले, ऐसे पशु हैं, संसार अटवी ऐसी है। **अति कराल कालरूपी अग्नि जहाँ सबका भक्षण करती है,...** करालकाल क्षण में सबका नाश कर

डालता है। **कराल कालरूपी अग्नि...** वन को जैसे जलावे, वैसे यह अपने अनेक प्रकार के शरीरादि का नाश कर डालता है। सुविधा-असुविधा सबका करालकाल संसार। पूरा संसार दावानल से सुलग रहा है।

जिसमें बुद्धिरूपी जल सूखता है... वहाँ अन्दर कहीं प्रश्न है। बुद्धिरूपी जल सूख जाता है। आत्मा का ज्ञान क्या है, उसका इसे भान नहीं। संसार की चतुराई, वह भी आत्मा के ज्ञान को सूखा डालती है। समझ में आया? **और जो दर्शनमोहयुक्त जीवों को...** जिसकी श्रद्धा विपरीत है, ऐसे **जीवों को अनेक कुनयरूपी मार्गों के कारण अत्यन्त दुर्गम है,...** कुनय, कुतर्क, कुनय, कुशास्त्र। उसरूपी मार्ग के कारण अत्यन्त दुर्लभ है। उस अटवी में से निकलना... ऐसी अटवी होती है, उसमें जाल, बबूल, काँटे, उल्टे-सीधे भरे हों, उसमें से मार्ग निकालना मुश्किल है। इसी प्रकार यह दर्शनमोह जीव को अनेक कुनय, कुतर्कों द्वारा मार्ग के कारण अत्यन्त दुर्गम हैं। नीचे अर्थ है **कठिनाई से लाँघा जा सके ऐसा;...** यह है। **दुस्तर...** है। चौरासी के अवतार में से निकलना महादुस्तर है। **(संसार-अटवी में अनेक कुनयरूपी मार्गों में से सत्य मार्ग ढूँढ़ लेना...** अनेक जाल, झांखरा, बबूल के काँटे बीच में अटवी में पड़े हों, अब उसमें से मार्ग निकालना कि जिस शहर में पहुँचा जा सके, ऐसी पगडण्डी खोजना जैसे महामुश्किल है, वैसे इस संसार की अटवी में भटकते जीव को **कुनयरूपी मार्गों में से सत्य मार्ग ढूँढ़ लेना...** सत्यमार्ग क्या है, यह खोजना **मिथ्यादृष्टियों को अत्यन्त कठिन है...** कहीं न कहीं भर जाता है। समझ में आया? विपरीत नय के आशय से एकान्त में या पर्याय में या द्रव्य में या एकान्त भेद में अथवा एकान्त अभेद में ऐसा भर जाता है। वस्तु की स्थिति खोजना इस कुनय के कारण से बहुत मुश्किल है। **और इसलिए संसार-अटवी अत्यन्त दुस्तर है।** दुस्तर, तरना अर्थात् अटवी में से निकलना... कहो, धर्म के नाम से भी इतने कुनय वर्तते हैं, उसमें से निकलना और सत्य को खोजना दुस्तर-तरना, वह निकलना महामुश्किल है।

अहो! **उस संसार-अटवीरूपी विकट स्थल...** संसाररूपी अटवी का विकट मैदान... आहाहा! वही **जैनदर्शन एक ही शरण है।** आत्मा का वीतरागीस्वभाव, वह जैनदर्शन है। जैनदर्शन को यह कहा। तेरा स्वभाव वीतराग आनन्दस्वरूप त्रिकाल...

आहाहा! वह एक ही शरण है, दूसरा कोई शरण है नहीं। कहो, समझ में आया? ऐसी दुर्गम अटवी में से निकलने के लिये एक जैनदर्शन का शरण है। **एक ही शरण है।** लो! जैनदर्शन एक ही शरण है, दूसरा कोई नहीं। दूसरा कहाँ?

आत्मा का वीतरागी स्वभाव, वह जैनदर्शन है और उसकी पर्याय की प्राप्ति होना, वह जैनशासन है। त्रिकाली आनन्दमूर्ति भगवान वीतरागस्वरूप का शरण, उसका आश्रय एक ही उद्धार करने का उपाय है। एक श्लोक हुआ। किसी को ऐसा लगे कि यह तो एकान्त है। स्वयं जैनदर्शन की बात एकान्त में डालते हैं। परन्तु यह वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। वीतराग सर्वज्ञदेव ने कहा और प्रगट किया, ऐसा यह स्वरूप जैनदर्शन अर्थात् आत्मा। जिसमें राग नहीं, जिसमें संसार है नहीं, ऐसा जो त्रिकाली स्वभाव, वह एक ही शरण है। समझ में आया? ३०७वाँ (श्लोक)।

लोकालोकनिकेतनं वपुरदो ज्ञानं च यस्य प्रभो-
स्तं शंखध्वनिकम्पिताखिलभुवं श्रीनेमितीर्थेश्वरम्।
स्तोतुं के भुवनत्रयेऽपि मनुजाः शक्ताः सुरा वा पुनः,
जाने तत्स्तवनैककारणमहं भक्तिर्जिनेऽत्युत्सुका ॥३०७॥

उत्सुका, अत्यन्त उत्सुका, अति उत्सुक। अर्थ किया है न? नेमिनाथ भगवान को याद किया है। हाँ, वे तो स्वयं ब्रह्मचारी थे न? बालब्रह्मचारी थे। पद्मप्रभमलधारिदेव बालब्रह्मचारी (थे), इसलिए बालब्रह्मचारी तीर्थंकर को याद किया है।

जिन प्रभु का ज्ञानशरीर... नेमिनाथ भगवान का ज्ञानशरीर, हों! यह ज्ञान उनका शरीर, **सदा लोकालोक का निकेतन है...** घर है। निकेतन अर्थात् घर। भगवान नेमिनाथ प्रभु, जिनका ज्ञानरूपी स्वभाव शरीर, वह लोकालोक का घर है अर्थात् लोकालोक को जानने में समर्थ है, लोकालोक जिसमें ज्ञात होता है। कहो, शब्द तो ऐसा लिया है। भगवान ज्ञानस्वभाव लोकालोक का निकेतन, निकेतन अर्थात् रहने का स्थान है। पण्डितजी! घर है। लोकालोक यहाँ रहते हैं। इसका अर्थ (यह कि) नेमिनाथ प्रभु के ज्ञान में लोकालोक सदा समाहित हैं, ऐसा ज्ञात होता है। ऐसा उनका ज्ञानशरीर है। ज्ञानशरीर। देहशरीर तो जड़ है, मिट्टी है। समझ में आया?

उन श्री नेमिनाथ तीर्थेश्वर का— वे तीर्थेश्वर हैं। तीर्थ के ईश्वर हैं। तीर्थेश्वर। तीर्थ के ईश्वर—तिरनेवाले आत्माओं के भी वे ईश्वर हैं। वे साधक के परमेश्वर हैं, ऐसा कहते हैं। **कि जिन्होंने शंख की ध्वनि से सारी पृथ्वी को कम्पा दिया था...** आता है न? नेमिनाथ भगवान और कृष्ण की रानी रुक्मणि। नेमिनाथ भगवान ने स्नान किया तो वस्त्र अलग कर दिया और रुक्मणि को कहा धो डालिये। रुक्मणि कहती है कि तुम कहनेवाले कौन? हमारे एक बड़े श्रीकृष्ण, वे शंख की ध्वनि फूंकते हैं तो द्वारिका को हिला देते हैं, वे पुरुष भी हमसे नहीं कहते और तुम? नेमिनाथ भगवान गृहस्थाश्रम में थे, तीन ज्ञान के धनी थे। ऐसा कहा, इसलिए भगवान ने वहाँ से... जहाँ शंख था, नाग की शैय्या थी, नाग की शैय्या, पाटी होती है न? पलंग और पाटी। नाग... नाग। नाग की पाटी।

मुमुक्षु : बहुत कोमल...

पूज्य गुरुदेवश्री : कोमली, पोची। श्रीकृष्ण के सोने के लिये नागशैय्या थी। नाग की शैय्या। वहाँ गये और वहाँ जाकर शंख लिया। शंख लेकर फूँका। द्वारिका काँप उठी। शंख फूँका, वहाँ इतनी आवाज का जोर कि द्वारिका काँप उठी। यहाँ तो पूरी पृथ्वी कम्पायमान की। परन्तु वह स्वयं जो स्थान है, उसे पूरा कँपा दिया। शंख को हाथ में लेकर फूँका वहाँ। **जिन्होंने शंख की ध्वनि से सारी पृथ्वी को कम्पा दिया था...** लो! शंख के कारण फूँक पड़ी, वहाँ पृथ्वी काँप उठी। निमित्त से।

मुमुक्षु : मानना या नहीं मानना?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह यहाँ कहाँ सिद्ध करना है? यहाँ तो उन्होंने यह किया, उसमें ऐसा हुआ, इतना सिद्ध करना है। समझ में आया?

जिन्होंने शंख की ध्वनि से सारी पृथ्वी को कम्पा दिया था उनका—स्तवन करने के लिए तीन लोक में कौन मनुष्य या देव समर्थ है? उनका स्तवन करने में तीन लोक में कौन मनुष्य अथवा देव समर्थ हैं? ऐसी जिनकी शक्ति। नेमिनाथ भगवान केवलज्ञान को प्राप्त हुए, पूर्णानन्द की दशा को प्राप्त हुए, उनकी कौन मनुष्य, देव स्तुति करे? क्या करे? उनकी अलौकिक चीज जहाँ (पूर्ण रूप से प्रगट हो गयी), जिनकी पर्याय अनन्त

ज्ञान और अनन्त आनन्दरूप परिणमित हो गयी है, उसका क्या कहना? लोकालोक से भी अनन्त गुना काल, क्षेत्र होता तो जाने, ऐसा जिनके ज्ञान की पर्याय का परिणमन स्वच्छ और शुद्ध है, उनकी स्तुति करने में कौन समर्थ है? समझ में आया? **तीन लोक में कौन मनुष्य या देव समर्थ है?** ऐसा कहते हैं। गणधर भी समर्थ नहीं हैं, ऐसा कहते हैं।

(तथापि) उनका स्तवन करने का एकमात्र कारण जिनके प्रति अति उत्सुक भक्ति है... लो! उनके प्रति अति उत्सुक, उत्साहरूपी भक्ति जगी है, वह करते हैं। आहाहा! आता है न? यह तो विकल्प है। परन्तु उस अशुभ की जब स्थिति न हो, तब ऐसा भाव होता है। अन्दर में स्थिर न हो सके, तब ऐसा विकल्प होता है।

मुमुक्षु : न होवे तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : होता ही है, न हो – ऐसा नहीं है। वीतराग पूर्ण हो, उसे न हो (तो) या वीतराग हो जाए, अथवा अज्ञानी हो जाए। समझ में आया? यह आता है न? वहाँ वीतरागता में कितना काल रहे?

कहते हैं कि **जिन के प्रति...** ऐसे वीतरागी भगवान के प्रति। जिनका स्वभाव अकेला वीतराग पूर्ण हो गया। अहो! जैसा उनका सम्यक् स्वभाव था, उसकी व्यक्त दशा प्रगट हो गयी। जिनस्वरूप ही आत्मा था। वीतरागस्वरूप था, ऐसा पर्याय में पूर्ण प्रगट हो गया। उनके **प्रति अति उत्सुक भक्ति है, ऐसा मैं जानता हूँ।** स्तवन करने का कारण यह एक ही है, ऐसा कहते हैं। दूसरा कोई कारण नहीं है। कहो, समझ में आया? १८६ में आया था न? उसमें से यह निकाला। अब यह अन्तिम, गाथा १८७।

मुमुक्षु : हे भव्य! अभक्ति न कर।

पूज्य गुरुदेवश्री : भक्ति करना। यह निश्चयभक्ति की बात वहाँ तो है और इस व्यवहारभक्ति में निकालते हैं।

मुमुक्षु : महापुरुष ऐसे दोष करें, उनका क्या करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोष करे (नहीं), वह आता है। भाव होता है। भाव होता है न, नहीं होता, ऐसा नहीं है। शुभभाव भी व्यवहार से प्रशंसनीय है न? व्यवहार से।

निश्चय से अप्रशंसनीय है। भूमिका के योग्य ऐसा भाव आता है, होता है।

अन्तिम गाथा १८७।

णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं।
णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावर-दोस-णिम्मुक्कं ॥१८७॥

सब दोष पूर्वापर रहित उपदेश श्री जिनदेव का।
मैं जान, अपनी भावना हित नियमसार सुश्रुत रचा॥१८७॥

ऐसा शब्द तो इन चार शास्त्रों में (नहीं आता)। इसमें ही यह आता है।

मुमुक्षु : मेरे लिये...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, **'मए कदं'** मैंने किया है।

पूर्वापर दोष रहित... उपदेश को जानकर यह किया है, ऐसा कहते हैं। इसमें कोई विरोध है नहीं।

यह, शास्त्र के नामकथन द्वारा शास्त्र के उपसंहार सम्बन्धी कथन है। नियमसार शास्त्र यहाँ पूर्ण होता है। **यहाँ आचार्यश्री (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव) प्रारम्भ किये हुए कार्य के अन्त को प्राप्त करने से...** शुरु किये हुए कार्य के अन्त के छोर को पहुँचने से **अत्यन्त कृतार्थता को पाकर कहते हैं...** कृतार्थता को प्राप्त करके कहते हैं। कृत—मैंने किया-हुआ। जो विचारा था, वह पूरा हुआ। **कि सैकड़ों परम-अध्यात्म-शास्त्रों में कुशल...** टीकाकार तो ऐसा लिखते हैं! कैसे हैं कुन्दकुन्दाचार्य? **सैकड़ों परम-अध्यात्म-शास्त्रों में कुशल ऐसे मैंने...** ऐसा वापस। **'मए कदं'** पूर्वापर जिन का उपदेश सब जाना है, ऐसा कहते हैं। अन्त में ऐसा अर्थ आया न? वह सब पूर्वापर उपदेश सैकड़ों...

मुमुक्षु : इतने सब शास्त्र पढ़े?

पूज्य गुरुदेवश्री : आये हैं वाँचन में।

मुमुक्षु : परन्तु इतने सब?

पूज्य गुरुदेवश्री : इतने सब क्या हजारों होंगे। कहो, समझ में आया? शास्त्र-

स्वाध्याय का बहुत समय होवे तो वह आवे। मुनि को भी स्वाध्याय का काल ध्यान बिना होता है। ध्यान में कितना रह सके? तब स्वाध्याय काल भी होता है। नहीं तो उन्हें सच्चा ध्यान तुरन्त ही आता है, तो भी छठवें गुणस्थान में शास्त्र स्वाध्याय का भाव होता है। बताते हैं, उस स्वाध्याय में बताते हैं, वापस यह न? वीतरागता पूर्णानन्द पूर्णस्वरूप का शरण है, उसका आश्रय है। हेतु तो वहाँ यह है, भले विकल्प है। समझ में आया? उससे जाया नहीं जाता परन्तु यह बताते हैं वह। समझ में आया? आहाहा!

सैकड़ों परम-अध्यात्म-शास्त्रों में कुशल ऐसे मैंने... वे स्वयं। पद्मप्रभमलधारिदेव ने ऐसा कहा। निजभावना के कारण से **निजभावनानिमित्त से**—इसका अर्थ इतना किया। '**अशुभवंचनार्थ।**' विकल्प है अवश्य न? शास्त्र बनाने का विकल्प है, वह अशुभ टलने के लिये, अशुभ को टालने के लिये यह शुभभाव है, इतनी बात है। '**अशुभवंचनार्थ**' **नियमसार नामक शास्त्र किया है।** नियमसार नाम का यह सिद्धान्त मैंने किया है। **क्या करके (यह शास्त्र किया है)? प्रथम अवंचक परम गुरु के प्रसाद से जानकर।** देखा? '**णच्चा जिणोवदेसं**' पहले मेरे गुरु से जाना। गुरु कैसे हैं?—कि अवंचक हैं। **ठगें नहीं ऐसे; निष्कपट; सरल; ऋजु।** जैसा स्वरूप था, वैसा कहते थे। समझ में आया? प्राप्त किया था, तद्नुसार कहते थे। मूल तो ऐसा कहते हैं।

अवंचक परम गुरु के प्रसाद से जानकर। प्रसाद—मेहरबानी से। हमारे परमगुरु प्रभु की मेहरबानी से यह मैंने जाना, ऐसा कहते हैं, देखो! **क्या जानकर? जिनोपदेश को अर्थात् वीतराग-सर्वज्ञ के मुखारविन्द से निकले हुए परम उपदेश को** जाना। लो! वीतराग सर्वज्ञ के मुख-अरविन्द। मुखरूपी अरविन्द—कमल। उसमें से निकले हुए परम उपदेश को हमने जाना है। ठीक। उसे हमने जाना है, ऐसा कहते हैं। **कैसे है वह उपदेश? पूर्वापर दोष रहित है...** पहले कुछ कहा और बाद में कुछ, ऐसा विरोध इसमें है नहीं। पूर्व और अपर, पहले और बाद में। अपर अर्थात् बाद में, पूर्व अर्थात् पहले और बाद में दोषरहित है।

अर्थात् पूर्वापर दोष के हेतुभूत सकल मोहरागद्वेष के अभाव के कारण... मोह और राग-द्वेष के विकार का जिनके अभाव है, उसके कारण पूर्वापर दोषरहित ही उनकी वाणी होती है। ऐसे जो **आप्त हैं, उनके मुख से निकाल होने से...** वह उपदेश

निर्दोष है। कैसा है उपदेश है? ऐसा कहा न? कि वह निर्दोष है। भगवान की वाणी पहले-बाद में विरोध रहित है, इससे वह निर्दोष है।

और (इस शास्त्र के तात्पर्य सम्बन्धी ऐसा समझना कि),... यह सिद्धान्त के सार सम्बन्धी ऐसा समझना कि **जो (नियमसार शास्त्र) वास्तव में समस्त आगम के अर्थसमूह का प्रतिपादन करने में समर्थ है,...** ठीक। अरे! यह तो प्रत्येक को होता है न? अष्टसहस्री का रात्रि में कहा नहीं था पण्डितजी ने? उसमें आता है न, एक अष्टसहस्री में सब आता है।

यह **(नियमसार शास्त्र) वास्तव में...** वास्तव में, ऐसा वापस। **समस्त आगम के अर्थसमूह का...** आगम का अर्थ। पदार्थ का प्रतिपादन करने में समर्थ है। तीन काल, तीन लोक के सभी पदार्थ भगवान ने जो देखे, उन सबको कहने में समर्थ है। यह नियमसार, एक में सब आ जाता है, ऐसा कहते हैं। यह तो समयसार में, उसमें सब प्रवचनसार में सब आ जाता है। ऐसा ही होता है।

जिसने नियम-शब्द से... अब नियमसार का अर्थ करते हैं। **नियम-शब्द से विशुद्ध मोक्षमार्ग सम्यक् प्रकार से दर्शाया है,** लो! **नियम-शब्द से...** नियमसार है न? तो **विशुद्ध मोक्षमार्ग...** शुद्ध मोक्षमार्ग, निश्चयमोक्षमार्ग, यथार्थ मोक्षमार्ग सम्यक्प्रकार से नियमसार ने दर्शाया है। पर की अपेक्षारहित, व्यवहार की भी अपेक्षारहित ऐसा निरपेक्ष मार्ग, विशुद्ध, द्रव्य के आश्रय से प्रगट होता, ऐसे मोक्षमार्ग को जिसेने दर्शाया है। कहो, रात्रि में नहीं थे, नहीं? यह प्रश्न रात्रि में हुआ था, कि अभूतार्थ-असत्यार्थ है न? पर्याय द्रव्य में नहीं, इसलिए असत्यार्थ है न? द्रव्य में पर्याय गौण करके... द्रव्य में पर्याय गौण करके असत्यार्थ... ऐसा न?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, परन्तु यही कहा न? द्रव्य में, ध्रुव में पर्याय है अवश्य, परन्तु उसे गौण करके कहने में आया?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : तब किसमें आती है? रात्रि में चर्चा हुई थी।

पर्याय है। उस पर्याय को गौण करके। द्रव्य की बात यहाँ कहाँ है? द्रव्य जो त्रिकाल है, उसमें पर्याय है नहीं। वह बात यहाँ है ही नहीं। उसका यहाँ काम नहीं। त्रिकाल द्रव्य का मुख्यपना बतलाकर जो पर्याय वर्तती है, उसे भी गौण करके 'नहीं' ऐसा कहा है। पर्याय है, उसे गौण करके 'नहीं', (ऐसा) कहा है। द्रव्य में पर्याय नहीं अथवा द्रव्य में पर्याय है, इसलिए गौण करके कहा, यह यहाँ प्रश्न है नहीं। समझ में आया? ऐ...! तुम भी नहीं थे। याद किया था। चले तब तो...

असत्यार्थ कहा है, वह तो त्रिकाली द्रव्य की मुख्यता दृष्टि कराने को; पर्याय, पर्याय में होने पर भी उसे गौण करके वह पर्याय नहीं है, अविद्यमान है, पर्याय स्वयं अविद्यमान है, वर्तमान अवस्था अविद्यमान है, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? मोहनभाई थे या नहीं? रात्रि में कहा था न? यह चलता था या नहीं? याद नहीं रहा होगा।

भगवान आत्मा के दो अंश हैं। दो अंश हैं, उनमें एक अंश नहीं, उस अंशरूप अंश नहीं।

मुमुक्षु : पूरी वस्तु में अंश नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका यहाँ प्रश्न ही नहीं।

एक त्रिकाली अंश और एक पर्याय अंश, ऐसे दो अंश हैं। उनमें त्रिकाली अंश की अपेक्षा से पर्याय अंश स्वयं नहीं है। वह है, वह स्वयं नहीं। समझ में आया? क्यों नहीं? पर्याय है तो सही, परन्तु उसे वहाँ का लक्ष्य छुड़ाना है और द्रव्य की मुख्यता की दृष्टि करानी है, इसलिए है तो भी वह नहीं है, ऐसा कहने में आता है, ऐसी बात है। समझ में आया? ११वीं गाथा को....

मुमुक्षु : आप बहुत बार कहते हो कि द्रव्य में पर्याय नहीं है, यह इन्हें दृढ़ हो गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए तो यह बात छेड़ी है। हीराभाई! ....परन्तु वह किस प्रकार दृढ़ किया। ऐई! चेतनजी! तुम थे या नहीं? द्रव्य में पर्याय है या नहीं, यह प्रश्न (ही नहीं है)।

मुमुक्षु : आप जब कहते हो, तब इन्हें बहुत आनन्द आता है, बहुत आनन्द आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : चेतनजी! ठीक। स्पष्टीकरण कराते हैं न!

मुमुक्षु : इसमें तो साक्षी हाजिर है न, साक्षी की गैरहाजिरी में बात नहीं होती।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह रात्रि में कहा था, यहाँ जो व्यवहार असत्य कहा है, वह पर्याय को झूठी कहा है। द्रव्य में पर्याय नहीं, यह प्रश्न यहाँ है ही नहीं। द्रव्य में तो पर्याय है ही नहीं। वह तो प्रश्न नहीं। यह तो पर्याय में पर्याय, पर्याय है, वह 'नहीं' ऐसा यहाँ कहना है। क्योंकि त्रिकाल सत्यार्थ का आश्रय लेने के लिये उसे मुख्यरूप करके, पर्याय होने पर भी, उसे गौण करके वह 'नहीं' ऐसा कहा गया है। वह पर्याय गौण करके 'नहीं' कहने में आया है। यहाँ द्रव्य की बात नहीं है। द्रव्य में पर्याय नहीं, यह प्रश्न यहाँ है नहीं। ऐ..! चेतनजी! आहाहा!

मुमुक्षु : सब बात में यह बात आवे तब...

पूज्य गुरुदेवश्री : बात जैसी हो, वैसी जाने। द्रव्य वस्तु सामान्य है, उसमें तो पर्याय है ही नहीं। यह प्रश्न ही नहीं। समझ में आया? अब यहाँ तो पर्याय पर्यायरूप है, भूतार्थ है, व्यवहार से भूतार्थ है। उसे यहाँ निश्चय से असत्य है, ऐसा गौण करके (कहा गया है); अभाव करके असत् है, ऐसा नहीं कहा। समझ में आया? दिलीप था या नहीं?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा लो! वृद्ध को समझावे।

मुमुक्षु : वृद्ध कहाँ है? सब समान हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह वृद्ध है न! इनके पिता का पिता था।

(समयसार) ११वीं गाथा की क्या शैली है! वस्तु स्वयं ऐसे ध्रुव, नित्यानन्द, भूतार्थ, सत्यार्थ, परमार्थ वह वस्तु। बस, उसका आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है। ऐसा मुख्यरूप से उसे 'है' ऐसा कहकर, पर्याय को गौण करके 'नहीं' ऐसा कहने में आया है। यह मुख्यरूप से है, (ऐसा कहने में आया है) और पर्याय जो है, उसे गौण

करके 'नहीं' ऐसा कहने में आया है। कहो, समझ में आया? ऐई! पण्डितजी! रात्रि में आया था।

'**व्यवहारो भूदत्थमस्सिदो...**' कहना है न? व्यवहार अर्थात् पर्याय। रागादि भले हो। उसका कुछ नहीं, अपने पर्याय मुख्य है यहाँ। कहा न कि अनित्य पर्याय नहीं ही, ऐसा मानना तो वेदान्त हो जाएगा। पर्याय पर्यायरूप से नहीं, हों! द्रव्य में नहीं, यह प्रश्न यहाँ है नहीं।

मुमुक्षु : द्रव्य में पर्याय... ध्रुव में?

पूज्य गुरुदेवश्री : ध्रुव में कहाँ है? यह अंश यहाँ है। यह अंश यहाँ नहीं। यह प्रश्न यहाँ नहीं है। यह अंश यहाँ है, यह अंश नहीं। यह अंश यहाँ नहीं, ऐसा नहीं। यह अंश यहाँ है, वह नहीं। क्यों? मुख्य का आश्रय कराने को गौण करके 'नहीं', ऐसा गौण करके 'नहीं' ऐसा अन्तर्भेद निकाल डाला। समझ में आया? यह बात की थी। रात्रि में बहुत की थी। नहीं? अभी आज दोपहर में आयेगी। इसमें याद आ गया। यह आया न? **विशुद्ध मोक्षमार्ग सम्यक् प्रकार से दर्शाया है,...**

मुमुक्षु : आज दोपहर को अधिक आयेगा। क्योंकि ग्यारहवीं गाथा का यह विषय है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका ही है न? यह विषय ही वह है। यह हमारे जेठाभाई ने व्यवस्थित जवाब दिया था। पूछा था तो जवाब व्यवस्थित दिया था। सवेरे पूछा था। रात्रि में क्या चला था। यह तो सीधी बात है।

भगवान आत्मा दो अंश से प्रमाण का विषय है। दो अंश से। एक अंश वर्तमान पर्याय और एक त्रिकाल। वस्तु द्रव्य वह। उसे द्रव्य कहना, पर से भिन्न पाड़ने के लिये। अब दो में से द्रव्य ध्रुव जो मुख्य है, उसे द्रव्य सिद्ध करके उसका आश्रय लेना, यह लक्ष्य छुड़ाने को, वह पर्याय होने पर भी वह नहीं है, वह नहीं, यह है, वह नहीं और यह है। वजुभाई! देखो! तुम रात्रि में नहीं थे।

मुमुक्षु : दोपहर में इससे अधिक आयेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह विचार तो पहले आ गया था। तब और... कोई पूछे कि

...थोड़ा सा ... चाहिए न। कुछ सूझ न पड़ती हो कि क्या पूछना? आहाहा!

जिसने नियम-शब्द से विशुद्ध मोक्षमार्ग सम्यक् प्रकार से दर्शाया है,... यह स्व के आश्रय से सम्यग्दर्शन हो, वह इसमें-नियमसार में दर्शाया है। कारणपरमात्मा को जहाँ-तहाँ वर्णन किया है न? कारणपरमात्मा कहो या द्रव्य कहो। भूतार्थ कहो, सत्यार्थ कहो, कारणपरमात्मा कहो, कारणजीव कहो, सब एक ही है। आहाहा! कहते हैं, **नियम-शब्द से विशुद्ध मोक्षमार्ग...** देखो! यहाँ मोक्षमार्ग को, निश्चयमोक्षमार्ग को भी विशुद्ध शब्द प्रयुक्त किया जाता है। विशेष शुद्ध, ऐसा।

मुमुक्षु : शुभ नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, शुभ नहीं। शुभ नहीं और अकेला शुद्ध भी नहीं। विशेष शुद्ध। ऐसा **मोक्षमार्ग सम्यक् प्रकार से...** वापस। जैसा है, वैसा दिखलाया है। **जो शोभित पंचास्तिकाय सहित है...** पंचास्तिकाय से शोभायमान है। **(अर्थात् जिसमें पाँच अस्तिकाय का वर्णन किया गया है),...** जिसमें पाँच...

मुमुक्षु : दूसरे परपदार्थ जानने का क्या काम?

पूज्य गुरुदेवश्री : वे पर हैं, इसके बिना स्व भिन्न कैसे पड़ेगा? पर को जाने बिना...

मुमुक्षु : परन्तु भिन्न ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भिन्न है, वह कहाँ इसे लक्ष्य में है? भिन्न है, वह तो वाणी में आया। यह पंचास्तिकाय और उसकी ज्ञान की पर्याय, पंचास्तिकाय को जानने की पर्याय, उस पर्याय को भी गौण करके इस पर दृष्टि देना चाहिए। वे पंचास्तिकाय तो कहीं आगे रह गये। समझ में आया? इसमें सब है, ऐसा कहते हैं। पंचास्तिकाय सहित शोभित। पंचास्तिकाय सहित है।

जिसमें पंचाचार-प्रपंच का संचय किया गया है... लो! देखो! उसमें पहला ज्ञानाचार लिया है। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, देखो! पंचाचार-प्रपंच अर्थात् विस्तार। उसका संचय अर्थात् संरचना में आया है। यहाँ पहले ज्ञानाचार लिया, यहाँ समकिताचार पहले नहीं लिया। समझ में आया? यहाँ पहले शब्द में ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र लिखा है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं। नियमसार के शुरुआत में आया न पहले? कल बताया था। **'णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं'** कुन्दकुन्दाचार्य के (शब्द हैं)। टीका में भी ऐसा कहा है। नहीं तो उस पद की संरचना में ऐसा आया। ऐसा कोई कहता है। टीका में ऐसा है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीन में से प्रत्येक का स्वरूप कहने में आता है। लो! और पहले से ही भाषा प्रयोग की है, देखो न! उपयोग को सम्पूर्णरूप से अन्तर्मुख करके ग्रहण करने योग्य निज परमरूप का परिज्ञान, वह ज्ञान है। जानना तो ज्ञान में आता है न!

यहाँ कहते हैं **जिसमें पंचाचार-प्रपंच का संचय किया गया है...** इसमें कितना ढ़ेर पड़ा है, ऐसा कहते हैं। नियमसार में सब वर्णन है। **अर्थात् जिसमें ज्ञानाचार, दर्शनाचार,...** ज्ञान का आचार निश्चय, दर्शनाचार निश्चय। व्यवहार भले हो, वह जाननेयोग्य है। **चारित्राचार, तपाचार...** इच्छानिरोध, **वीर्याचाररूप...** वीर्य की स्फुरणा का आचरण। **पाँच प्रकार के आचार का कथन किया गया है), जो छह, द्रव्यों से विचित्र है...** छह द्रव्यों के निरूपण से विविध प्रकार का सुन्दर। नियमसार में छह द्रव्य का वर्णन है। **(अर्थात् जो छह द्रव्यों के निरूपण से विविध प्रकार का—सुन्दर है), सात तत्त्व और नव पदार्थ जिसमें समाये हुए हैं,...** देखो! सात तत्त्व की व्याख्या है। पुण्य-पाप को आस्रव में समाहित कर दिया और सात तत्त्व को तथा नौ पदार्थ को भिन्न करके **जिसमें समाये हुए हैं, जो पाँच भावरूप विस्तार के प्रतिपादन में परायण है,...** उदयभाव, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक और पारिणामिक—ऐसे पाँच भावरूप, चार पर्याय और एक गुण, ऐसे **विस्तार के प्रतिपादन में परायण है,...** पाँच भाव में चार पर्याय है। उस पर्याय को ही यहाँ अभूतार्थ कहा है। परमपारिणामिकभाव भूतार्थ है, सत्यार्थ है।

जो निश्चय-प्रतिक्रमण,... निश्चय-प्रतिक्रमण—अपने स्वरूप में, राग से हटकर स्थिर होना। पंच महाव्रत के परिणाम और वह सब व्यवहार क्रियाकाण्ड है, परन्तु वह निश्चय होवे उसे। समझ में आया? **सकल परमार्थ क्रियाकाण्ड के आडम्बर से...** अर्थात् कि पुष्कल निरूपण है। आडम्बर का अर्थ इसमें बहुत है। **समृद्ध है...** आहाहा! **(अर्थात् जिसमें परमार्थ क्रियाओं का पुष्कल निरूपण है) और जो तीन**

उपयोगों से सुसम्पन्न है (अर्थात् जिसमें अशुभ, शुभ और शुद्ध उपयोग का पुष्कल कथन है)—शुभ किसे कहना, अशुभ किसे कहना, शुद्ध उपयोग किसे कहना। दो मलिन और एक निर्मल। उसका इसमें पुष्कल वर्णन है।

—ऐसे इस परमेश्वर शास्त्र का... लो! **ऐसे इस परमेश्वर...** परमेश्वर। ग्रन्थाधिराज की जगह परमेश्वर शास्त्र। ठीक! ग्रन्थराज। परन्तु यह तो ग्रन्थ परमेश्वर! आहाहा! **परमेश्वर शास्त्र का वास्तव में दो प्रकार का तात्पर्य है:...** ऐसे परमेश्वर शास्त्र का वास्तव में दो प्रकार का सार है। एक **सूत्रतात्पर्य और (एक) शास्त्रतात्पर्य।** सूत्रतात्पर्य अर्थात् प्रत्येक गाथा में जो कहना है, वह सूत्रतात्पर्य। **सूत्रतात्पर्य तो पद्यकथन से प्रत्येक सूत्र में (-पद्य द्वारा प्रत्येक गाथा के अन्त में) प्रतिपादित किया गया है।** इस सूत्र में क्या कहना है, यह सूत्रतात्पर्य, गाथा में। **और शास्त्रतात्पर्य...** पूरा सब। यह सिद्धान्त शास्त्र इतने सब कहे, उन सबका तात्पर्य **यह निम्नानुसार टीका द्वारा प्रतिपादित किया गया है :**

यह (नियमसार शास्त्र) भागवत शास्त्र है। लो! भगवती शास्त्र है। **भागवत=भगवान का; दैवी; (पवित्र)।** भगवान का शास्त्र। भगवान का शास्त्र। लो! दैवी और पवित्र शास्त्र **जो (शास्त्र) निर्वाण-सुन्दरी से उत्पन्न होनेवाले,...** मुख्यरूपी सुन्दरी परिणति, मोक्षरूपी दशा, आत्मा की परम आनन्ददशा, अतीन्द्रिय आनन्द के अमृत की दशा, उसरूपी परिणति से **उत्पन्न होनेवाले, परमवीतरागात्मक,...** परम वीतरागस्वरूप **निराबाध,... बाधारहित; निर्विघ्न। निरन्तर और अनंग परमानन्द का देनेवाला है,...** मोक्षरूपी सुन्दरी अर्थात् परिणति, उससे उत्पन्न होनेवाले परम वीतरागस्वरूप निराबाध अर्थात् अब विघ्न न आवे, वापस निरन्तर, अन्तर पड़े बिना। **अनंग=अशरीरी; आत्मिक; अतीन्द्रिय** आनन्द। अनंग इस **परमानन्द का देनेवाला है,...** अनंग परमानन्द। अनंग परमानन्द—अशरीरी, आत्मा का जो परम आनन्द, उसका यह शास्त्र देनेवाला है। समझ में आया?

और यह शास्त्र **निरतिशय,... जिससे कोई बढ़कर नहीं है ऐसे; अनुत्तम;...** अनुत्तम अर्थात् उत्तम में उत्तम। **श्रेष्ठ; अद्वितीय।** वैसे तो अण उत्तम का अर्थ ऐसा अर्थ हो जाता है। उसके जैसा कोई मुख्य नहीं। **निरतिशय, नित्यशुद्ध,...** ऐसा जो भगवान

आत्मा कारणपरमात्मा **निरतिशय,...** उसके अतिरिक्त कोई ऊँचा नहीं, ऐसा **नित्यशुद्ध, निरंजन निज कारणपरमात्मा की भावना का कारण है,...** पूर्णानन्द प्रभु अखण्ड आनन्द का अभेदस्वरूप, उसकी भावना का यह कारण है। यह नियमसार उसकी भावना को बताता है। आहाहा! इसे मोक्षमार्ग कहा। समझ में आया? ऐसी भाषा भी कहीं नहीं है।

जो समस्त नयों के समूह से शोभित है,... इसमें बहुत नयों का वर्णन किया है। जो समस्त नयों का ढ़ेर, समूह, उससे शोभित है। व्यवहार किसे कहना? सद्भूत, असद्भूत, उपचार, अनुपचार, निश्चय, यथार्थ, परमार्थ इत्यादि। **जो पंचम गति के हेतुभूत है...** लो! ऐसा यह भागवत शास्त्र है। **पंचम गति के हेतुभूत है...** यह मोक्ष का कारण है। आहाहा! **जो पाँच इन्द्रियों के विस्ताररहित देहमात्र—परिग्रहधारी से (निर्ग्रन्थ मुनिवर से) रचित है**—निर्ग्रन्थ मुनि कुन्दकुन्दाचार्य से रचित है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? उन वस्त्रवालों ने रचा हो, वह यह नहीं है। पाँच इन्द्रिय के फैलाव से रहित है, मुनि अतीन्द्रिय आनन्द में मस्त हैं और बाह्य में देहमात्र परिग्रह है। लो! निर्ग्रन्थ मुनिवर, उनसे यह रचित है।

—ऐसे इस भागवत शास्त्र को जो निश्चयनय और व्यवहारनय के अविरोध से जानते हैं,... जो यह निश्चयनय और व्यवहारनय का अविरोध, दोनों का मेल करके। निश्चय यह और व्यवहार यह। ऐसा। **वे महापुरुष—समस्त अध्यात्मशास्त्रों के हृदय को... हार्द; रहस्य; मर्म। (इस भागवत शास्त्र को जो सम्यक् प्रकार से जानते हैं, वे समस्त अध्यात्मशास्त्रों के हार्द के ज्ञाता हैं।)** इसे बराबर जाने, उसे समस्त अध्यात्मशास्त्र का हृदय उसके हाथ में आ जाता है कि इस जगह यह कहा है, इस जगह इस अपेक्षा से कहा है, इत्यादि। **समस्त अध्यात्मशास्त्रों के हृदय को...** मर्म को, उसके रहस्य को **जाननेवाले और परमानन्दरूप वीतराग सुख के अभिलाषी**—परमानन्दरूप वीतरागसुख आत्मा का आनन्द, उसके अभिलाषी **बाह्य-अभ्यन्तर चौबीस परिग्रहों के प्रपंच को परित्याग कर,...** मुनि की बात लेनी है न? आहाहा! **बाह्य-अभ्यन्तर चौबीस परिग्रहों के प्रपंच को परित्याग कर,...** चौदह प्रकार का अन्तर और दस प्रकार का बाह्य। परिग्रहों के विस्तार को छोड़कर।

त्रिकाल-निरुपाधि स्वरूप में लीन... तीनों काल उपाधिरहित द्रव्यस्वरूप में लीन। स्वरूप में लीन। **त्रिकाल-निरुपाधि स्वरूप में लीन निज कारणपरमात्मा के...** यह वस्तु तीनों काल स्वरूप में लीन ही है, ऐसा कहते हैं। तीनों काल निरुपाधि स्वरूप में यह वस्तु लीन है। ऐसा निज कारणपरमात्मा। लो! **त्रिकाल-निरुपाधि स्वरूप में...** निज कारणपरमात्मा के स्वरूप के। यहाँ अब यह लिया—श्रद्धा-ज्ञान और आचरण। ऐसा जो निरुपाधि तीनों काल स्वरूप में लीन ही वस्तु है। उसके **स्वरूप श्रद्धान—** उसका श्रद्धान, उसका **ज्ञान—**त्रिकाली कारणपरमात्मा के स्वरूप का श्रद्धान, निज कारणपरमात्मा के स्वरूप का ज्ञान, निज कारणपरमात्मस्वरूप में आचरण... आहाहा!

आचरणात्मक भेदोपचार-कल्पना से निरपेक्ष... तीसरी गाथा में कहा था। शुरु किया, तब तीसरी गाथा में कहा था। निरपेक्ष रत्नत्रय से शुरु किया। अन्त में योगफल आया। **भेदोपचार-कल्पना से...** व्यवहार की कल्पना। व्यवहार श्रद्धा, व्यवहार उस सब उपचार से निरपेक्ष है। वह है तो निश्चय होता है, ऐसा नहीं। उसकी अपेक्षारहित। **ऐसे स्वस्थ रत्नत्रय में परायण वर्तते हुए,... स्वस्थ=निजात्मस्थित। (निजात्मस्थित शुद्धरत्नत्रय भेदोपचार-कल्पना से निरपेक्ष है।) ऐसे स्वस्थ...** स्व अर्थात् अपने में रहे हुए **रत्नत्रय में परायण वर्तते हुए,...** ठीक! उसमें परायण वर्तते हुए। रत्नत्रय में परायण वर्तते हुए।

शब्दब्रह्म के फलरूप शाश्वत सुख के भोक्ता होते हैं। लो! समयसार में अन्तिम लिया, सुख पा जाता है। **शब्दब्रह्म के...** देखो! शब्दब्रह्म का फल यह। वीतरागी दिव्यध्वनि के शास्त्र का फल यह है। **शब्दब्रह्म के फलरूप शाश्वत सुख...** आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द, उसका वे जीव **भोक्ता होते हैं।** समझ में आया? अब इसके चार श्लोक कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पौष शुक्ल-१, शनिवार, दिनांक-१८-१२-१९७१
श्लोक-३०८-३११ तथा १-३, प्रवचन-१

अन्तिम कलश है न!

सुकवि-जन-पयोजानन्दि-मित्रेण शस्तं,
ललितपदनिकायैर्निर्मितं शास्त्रमेतत्।
निजमनसि विधत्ते यो विशुद्धात्मकाङ्क्षी,
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥३०८॥

इस ओर अर्थ है। पूरा करते हैं, यह नियमसार।

श्लोकार्थः—सुकविजनरूपी कमलों को आनन्द देनेवाले... जैसे कमल को खिलने में सूर्य निमित्त है, उसी प्रकार सुकविजनरूपी कमलों को आनन्द देनेवाले सूर्य... **(-विकसित करनेवाले) सूर्य ने...** ऐसा। कविजनरूपी कमलों को आनन्द देनेवाले सूर्य... जैसे कमल को खिलने में सूर्य कारण है, उसी प्रकार सुकविजनरूपी कमलों को आनन्द देनेवाले सूर्य हैं। **ललित पदसमूहों द्वारा...** बहुत ऊँचे पद के समूहों द्वारा **रचे हुए इस उत्तम शास्त्र को जो विशुद्ध आत्मा का आकाँक्षी जीव...** विशुद्ध अर्थ पवित्रता के अर्थ में है, अत्यन्त शुद्ध। विशुद्ध निर्मल आनन्द पवित्रधाम भगवान को यहाँ 'विशुद्ध' शब्द के अर्थ में कहा है। नहीं तो विशुद्ध तो शुभभाव को भी कहा जाता है, परन्तु यहाँ विशुद्ध पूरे आत्मा को (कहा है)। निर्मलानन्द प्रभु अकेला ज्ञानानन्द से भरपूर आत्मा ऐसे विशुद्ध आत्मा का आकांक्षी जीव (अर्थात्) उसकी जिसे अभिलाषा है, ऐसा जीव **निज मन में धारण करता है,...** निज मन में शास्त्र के भाव को धारण करता है। मन में अर्थात् ज्ञान में। उनका कहा हुआ भाव शुद्ध आत्मा पवित्र, उसे श्रद्धा-ज्ञान से धारता है, वह जीव **वह परमश्रीरूपी कामिनी का वल्लभ होता है।**

मोक्ष का मार्ग और मोक्ष दोनों बतला दिये। वह परमश्री (अर्थात्) परम आनन्दरूपी लक्ष्मी, मुक्ति—सिद्धपद की पूर्ण आत्मा की दशा, उसरूपी कामिनी की जो परिणति—

स्त्री, उसका वल्लभ होता है। वह पर्याय अब उसे कभी नहीं छोड़ेगी। पूर्णानन्द की प्राप्ति... ग्रन्थ में कहे हुए भाव... स्वभाव का आश्रय लेने से भाव (उत्पन्न होते हैं), वह भाव मोक्ष का मार्ग है। उसे—मोक्ष के मार्ग को जिसने अन्तर में धारण किया, पूर्ण पवित्र भगवान आनन्दस्वरूप की श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता से मार्ग को धारण किया, वह अल्पकाल में पूर्णानन्द की प्राप्तिरूपी मुक्ति को प्राप्त करेगा, ऐसा कहा। ३०९ (कलश)।

पद्म-प्रभाभिधानोद्घ-सिन्धुनाथ-समुद्भवा।
उपन्यासोर्मिमालेयं स्थेयाच्चेतसि सा सताम्॥३०९॥

श्लोकार्थः—पद्मप्रभ नाम के उत्तम समुद्र से उत्पन्न होनेवाली जो यह उर्मिमाला... टीका को ऊर्मिमाला (की उपमा दी है)। उर—हृदय की माला धारावाही। पद्मप्रभ स्वयं मुनि हैं—दिगम्बर सन्त हैं, आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के झूले में झूलनेवाले हैं, वे कहते हैं कि ऐसे पद्मप्रभ नामक उत्तम समुद्र से उत्पन्न होनेवाली जो यह ऊर्मिमाला—हृदय की अन्दर ऊर्मियों से हुई, यह कथा है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! टीका — सत्पुरुषों—धर्मात्मा के ज्ञान में यह भाव स्थिर रहो। यह ठीका स्थिर रहो अर्थात् भाव स्थिर रहो। टीका का भाव तो यही है। परम निरपेक्ष सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र (कि जो) व्यवहार के निमित्त की अपेक्षारहित दशा है, उसे यहाँ मोक्ष का मार्ग कहा है। ऐसे **कथनी (टीका), वह सत्पुरुषों के चित्त में स्थित रहो।** ज्ञानी के ज्ञान में ही वह स्थिर होती है, ऐसा कहते हैं, अज्ञानी को वह होती नहीं। आहाहा! इसमें कहा हुआ भाव पूर्णानन्द प्रभु ऐसा आनन्द और ज्ञान के स्वभाव का सागर आत्मा। उसमें भाव—उसकी पर्याय में यह वस्तु ऐसी है, ऐसे स्थिर होकर रहो। ऐसा यहाँ आशीर्वाद अथवा मांगलिक किया है। अन्तिम मांगलिक है न उनका। ३१० (कलश)।

अस्मिन् लक्षणशास्त्रस्य विरुद्धं पदमस्ति चेत्।
लुप्त्वा तत्कवयो भद्राः कुर्वन्तु पदमुत्तमम्॥३१०॥

श्लोकार्थः—इसमें यदि कोई पद लक्षणशास्त्र से विरुद्ध हो... अनुभव से विरुद्ध नहीं। कोई शास्त्रों के शब्दों के लक्षण... शास्त्र अनेक प्रकार के हैं, शास्त्रों का काल, भेद, इत्यादि शब्द विरुद्ध हों, **तो भद्र कवि उसका लोप करके उत्तम पद करना।**

सरल प्राणी—भद्र जीव, उन शब्दों के मेल में कुछ अमेल होता हो तो उसका लोप करके उत्तम पद करना। इस प्रकार अपनी निर्मानता बतायी है। शब्दों में, हों! शब्दों की रीति की पद्धति में। कोई काना, मात्रा फेरफार हो (तो) तात्पर्य (जैसा)। अन्तिम कलश ३११।

यावत्सदागतिपथे रुचिरे विरेजे,
तारागणैः परिवृतं सकलेन्दुबिम्बम्।
तात्पर्यवृत्तिरपहस्तितहेयवृत्तिः,
स्थेयात्सतां विपुलचेतसि तावदेव॥३११॥

श्लोकार्थः—जब तक तारागणों से घिरा हुआ पूर्णचन्द्रबिम्ब... चन्द्रमा के आसपास तारागण रहते हैं, ऐसा जो चन्द्र, वह सदा ही उसकी गति के सुन्दर मार्ग में विराजता है। यह पूर्ण चन्द्र का गोला सदा उसकी गति में... गमन करता है न सदा ही? गति के सुन्दर मार्ग में शोभता है। **सुन्दर गगन में विराजे (शोभे), ठीक तब तक तात्पर्यवृत्ति (नाम की यह टीका)...** चन्द्र जब तक इस गति में शोभता है, तब तक यह टीका शोभित हो, ऐसा कहते हैं। **ठीक तब तक तात्पर्यवृत्ति (नाम की यह टीका)...** तात्पर्यवृत्ति है न? तात्पर्य (अर्थात्) सार। **कि जिसने हेयवृत्तियों को निरस्त किया है...** पूरी टीका में जो पुण्य और पाप विकल्प, निमित्त और सबको जिसने हेय वर्णन किया है। समझ में आया?

भगवान पूर्णानन्द सच्चिदानन्द प्रभु परमात्म अपना निजस्वरूप—स्वभाव, उसे उपादेय करके, उसके अतिरिक्त दूसरी चीज़ों को हेय बनाया है। वास्तव में तो यहाँ पर्याय को हेय बनाया है ५० (गाथा) में। एक ही भगवान आत्मा अभेद (कि जिसमें) पर्याय का भेद नहीं, गुण का भेद नहीं।... क्षायिकभाव की पर्याय भी हेय है। आहाहा! वह परद्रव्य है, स्वद्रव्य की पूर्णता उसमें नहीं, इसलिए वह परद्रव्य है और परभाव है। स्वभाव एकरूप त्रिकाल है, उसकी अपेक्षा से एक समय की पर्याय, यह स्वभाव तो वह परभाव है। यह (त्रिकाली) उपादेय तो वह (पर्याय) हेय है। ऐसा पूरी टीका में ऐसा कहा है। कहो, समझ में आया?

हेयवृत्तियों को... छोड़नेयोग्य परिणति को **निरस्त किया है...** निरस्त किया है।

(अर्थात् जिसने छोड़ने योग्य समस्त विभाववृत्तियों को दूर फेंक दिया है वह)— सत्पुरुषों के विशाल हृदय में... सत्पुरुषों के विशाल ज्ञान में **स्थित रहो।** वृत्तियों को हेय करके, त्रिकाल ज्ञायकभाव को उपादेय करके स्थापित किया है। ज्ञानी के हृदय में यह बात रहो। लो, यह नियमसार वाँचन पूरा हुआ। फिर कहा है इसमें अधिक स्वयं। अन्तिम हिम्मतभाई जेठालाल का नाम डाला है, इसमें डाला है अब। पहले दूसरा उसमें नहीं डाला था। जबरदस्ती डाला न?

(अर्थात् श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री नियमसार परमागम की निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका में) शुद्धोपयोगाधिकार नाम का बारहवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ। बारह अधिकार है इसमें।

इस प्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री नियमसार परमागम की निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित) तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका के श्री हिम्मतलाल जेठालाल शाह कृत गुजराती अनुवाद का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

☆☆☆

यह फिर से शुरुआत होती है। यह पुस्तक है न, वह ऊँची चीज़ है। समयसार से भी कितने ही भाव इसमें ऊँचे हैं। 'परमपारिणामिक, कारणपरमात्मा' तो कह-कहकर... ओहोहो! यह नियमसार तो पूरा करके फिर से तुरन्त का तुरन्त पहली बार आज लिया जाता है, हों! नियमसार आज पूरा किया है और तुरन्त लिया है आज। यह तो पहले लिया जाता है। मंगलाचरण है।

ॐ श्री सर्वज्ञ वीतरागाय नमः

है न पूरा मंगलाचरण।

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ओमकाराय नमो नमः॥१॥

ओमकार बिन्दु सहित नित्यं ध्यायंति सन्तों—मुनियों... यह मोक्ष का देनेवाला और स्वर्ग का भी देनेवाला है। यह **ॐ**काराय नमो नमः। ऐसे **ॐ**कार को नमस्कार हो... नमस्कार हो। जिनवाणी—ओम ध्वनि को यहाँ नमस्कार किया है।

अविरलशब्दघनोघप्रक्षालितसकलभूतलकलङ्का।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान्॥२॥

अविरल—धारावाही शब्द के घन प्रवाह से प्रक्षालित '**सकलभूतलकलङ्का**' अज्ञानरूपी भूतल के कलंक को जिसने धो डाला है। '**मुनिभिरुपासिततीर्था**' मुनि भी सेवन करते हैं तीर्थ को, सरस्वती को, सम्यग्ज्ञान। '**हरतु नो दुरितान्**' हमारे **दुरि** को हर डालो। पहले कहा देव, दूसरा कहा शास्त्र, तीसरा कहा गुरु। 'देव-शास्त्र-गुरु तीन' ऐसा आता है न? पूजा में आता है। इस पद्धति की शैली से वर्णन किया है। पहले देव को, ओमकार वह देव। स्वयं देव है आत्मा देवाधिदेव। दूसरे में सरस्वती—वाणी, तीसरे में गुरु।

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः॥३॥

अज्ञानरूपी अन्धकार के अन्ध को '**ज्ञानाञ्जनशलाकया**' ज्ञानरूपी अंजन शलाका

द्वारा... ज्ञानरूपी अंजन शलाका द्वारा '**चक्षुरुन्मीलितं**'—चक्षु को खोल दिया। ऐसे गुरु को—**तस्मै** नमस्कार।

श्रीपरमगुरुवे नमः, परम्पराचार्यगुरवे नमः

'**सकलकलुषविध्वंसकं**' कैसा है यह शास्त्र? सब पाप-पुण्यादि का विध्वंसक है—नाश करनेवाला है। '**श्रेयसां परिवर्धकं**' श्रेय को बढ़ानेवाला है, आत्मा के कल्याण को बढ़ानेवाला है। '**धर्मसम्बन्धकं**' धर्म का सम्बन्ध करनेवाला-करानेवाला है। '**भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं**' भव्य जीव के मन को ज्ञान देनेवाला—प्रतिबुद्ध करनेवाला है। '**पुण्यप्रकाशकं**' पुण्य को प्रकाशित करनेवाला है '**पापप्रणाशक**' पाप का नाश करनेवाला है। '**इदं शास्त्रं**' यह '**श्री नियमसारनामधेयं**' जिसका नियमसार नाम है। '**अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवा**' उसके—नियमसार के मूल ग्रन्थ करनेवाले तो सर्वज्ञदेव हैं। '**तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः**' बाद के कर्ता गणधरदेव हैं। '**प्रतिगणधरदेवा**' बाद के क्रम-क्रम से जो आचार्य हुए, वे सब प्रतिगणधर... '**तेषां वचनानुसारमासाद्य**' उनके वचनों को अनुसरकर ग्रहण किया हुआ यह नियमसार।

'**आचार्यश्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचितं**' कुन्दकुन्द आचार्य ने रचा। आचार्य क्या कहें तब? एक ओर कहते हैं कि मैं रचा नहीं। ले! सुन। यह तो कथनपद्धति, उसका निमित्त कौन था, ऐसा बतलाते हैं। **श्रोतारः**—सुननेवालों '**सावधानतया शृण्वन्तु**' लो! सावधान होकर सुनो। अब सुनने में तो विकल्प और पुण्य बँधता है। ऐई! भाई! सुनने में उसका ज्ञान होता है न उसे, उसमें यह वाणी निमित्त है। यथार्थ ज्ञान की बात, हों! परलक्ष्यी ज्ञान तो हो गया है। यथार्थ बात है यहाँ। परलक्ष्यी ज्ञान, उसे ज्ञान यथार्थ होता है, उसमें श्रवणपना निमित्त है। '**सावधानतया शृण्वन्तु**' नियमसार।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥१॥

'**मंगलं भगवान् वीरो**' वीर परमात्मा मंगलस्वरूप है। देवाधिदेव महावीर परमात्मा जिनका शासन चलता है, वे मांगलिक हैं (अर्थात्) पाप का नाशक है और पवित्रता की प्राप्ति का करानेवाले हैं। ऐसा मंगल भगवान महावीर हैं। '**मंगलं गौतमो गणी**' गौतम

गणधर मंगल हैं। '**मंगलं कुन्दकुन्दार्यो**' कुन्दकुन्दादि आचार्य, वे सब मांगलिक हैं (अथवा) '**कुन्दकुन्दार्यो**'—स्वयं कुन्दकुन्द आर्य मांगलिक हैं। तीसरे पद में आये हैं यह, देखो! '**जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्**' वीतराग धर्म जगत में मंगलरूप है। पर की उपेक्षा करके स्व की अपेक्षा करावे और वीतरागता प्रगट हो, ऐसा जैनधर्म जगत में मांगलिक है।

सर्वमङ्गलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम्॥२॥

जैनधर्म सर्व मंगल में मांगल्य है।

मुमुक्षु : सब धर्मों में न?

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म अर्थात् आत्मा के सब धर्म।

मुमुक्षु : जगत के सब धर्म....

पूज्य गुरुदेवश्री : सब धर्म कहो तो भले व्यवहार से कहलाये। सब धर्म अज्ञानी के, उसमें भी जैनधर्म ही ऊँचा है। समझ में आया? धर्म ही यह एक है। दूसरा धर्म है ही नहीं कहीं। अज्ञानी ने कल्पित करके बात की है। यह तो सर्वज्ञ से सिद्ध है। वस्तु की स्थिति ऐसी है। ऐसा जो जैनधर्म... जैन का अर्थ—राग और अज्ञान को जीतकर वीतरागता प्रगट करे, वह जैनधर्म। वह तो वस्तु की स्थिति हुई, वह कहीं सम्प्रदाय नहीं। जैनधर्म कोई वाड़ा नहीं। आत्मा आनन्दमूर्ति वीतराग प्रभु है। वीतरागता कहाँ से प्रगट होती है? उसमें वीतरागस्वरूप ही आत्मा का है, वह जैन स्वरूप है। उसका आश्रय करके वीतरागता पर्याय में प्रगट होती है, वह जैनधर्म है। समझ में आया? वही वस्तु का धर्म है। विश्व का वह धर्म है। वही धर्म है, दूसरा कोई धर्म है नहीं। '**सर्वकल्याणकारकं**' सर्व कल्याण करने में वह स्वयं जैनधर्म ही कल्याण का करनेवाला है। दुनिया में कल्याण बहुत प्रकार के हैं, परन्तु उसका ... यह कल्याण है। '**प्रधानं सर्वधर्माणां**' प्रधानभूत है '**जैनं जयतु शासनम्**' जैनं जयतु शासनम्। उसका ज्ञान, उसका शासन, शिक्षा जयवन्त वर्तो। यह मांगलिक किया।

ॐ

परमात्मने नमः।

ॐ... भाव ओमकार। द्रव्य ओमकार वाणी, विकल्प। भाव ओमकार आत्मा।— उसे नमस्कार। **परमात्मने नमः** परमस्वरूपी ऐसा भगवान आत्मा, उसे नमस्कार।

श्रीमद्— स्वरूपलक्ष्मीवाले **भगवत् कुंदकुंदाचार्यदेव प्रणीत**

श्री

निमयसार

जीव अधिकार

श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचिततात्पर्यवृत्तिः इसकी टीका। टीका का नाम तात्पर्यवृत्ति है। अब स्वयं मांगलिक करते हैं। पद्मप्रभमलधारिदेव सन्त हैं, दिगम्बर मुनि हैं, वनवासी हैं।

त्वयि सति परमात्मन्मादृशान्मोहमुग्धान्
कथमतनुवशत्वान्बुद्धकेशान्यजेऽहम्।
सुगतमगधरं वा वागधीशं शिवं वा
जितभवमभिवन्दे भासुरं श्रीजिनं वा॥१॥

आहाहा! **श्लोकार्थः—हे परमात्मा! 'त्वयि सति'**—तेरी अस्ति होने पर भी... आहाहा! परमात्मा सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर की **'सति'**—अस्ति होने पर भी हम दूसरों को कैसे वर्णन करें? ऐसा कहते हैं। **'त्वयि सति'** है न? **तेरे होते हुए...** नाथ! तेरे होने पर भी... जहाँ आत्मा की पूर्ण दशा—परमात्मदशा प्रगट हुई, वीतरागता प्रगट हुई, परम आनन्दता प्रगट हुई—ऐसा स्वभाव प्रगट किया, ऐसी तेरी अस्ति में... आहाहा! तेरी मौजूदगी में प्रभु! **'त्वयि सति'** पूर्ण आनन्द और ज्ञान सम्पन्न ऐसी दशावन्त प्रभु! तेरी अस्ति—मौजूदगी होने पर भी... आहाहा! **मैं अपने जैसे...** अर्थात् मैं जरा रागवाला हूँ, ऐसे संसारी प्राणी, ऐसा कहते हैं मूल तो। हैं तो मुनि स्वयं। अरे! तेरी अस्ति प्रभु परमात्मा... देखो! आया। यहाँ अस्ति नहीं, परन्तु परमात्मा की अस्ति है, ऐसा सिद्ध करते हैं यहाँ तो। आहाहा! समझ में आया?

भगवान विराजते हैं परमात्मा। प्रभु! तूरी अस्ति—तेरी मौजूदगी—तेरा होनापना में जो दूसरे जीव भानरहित उन्हें मैं कैसे नमन करूँ? तेरी मौजूदगी में उन्हें कैसे नमूँ? कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? हे परमात्मा! '**त्वयि सति**'—**तेरे होते हुए...** '**मादृशान्मोहमुग्धान्**' मेरे जैसे संसारी जीव ऐसे **मोहमुग्ध**—मोह में मुग्ध हुए **और कामवश...** काम है न? पाठ में '**अतनु**' है। वह कामदेव को 'अतनु' कहा जाता है। शरीररहित काम, ऐसा कहा जाता है। 'अतनु' ऐसा कहा जाता है न! उसे शरीर नहीं और काम है। ऐसे अतनुवश... भोग और काम के वश ऐसे **बुद्ध को...** आहाहा! क्षणिक माननेवाले वे बौद्ध भी मोहमुग्ध—इच्छा के आधीन हुए हैं, वे सब। आहाहा! मिथ्यात्व और राग-द्वेष... समझ में आया?

तथा ब्रह्मा-विष्णु-महेश को क्यों पूजूं? आहाहा! प्रभु तेरी अस्ति—तेरे जिनस्वभाव की अस्ति से हमको दूसरे को वन्दन का भाव कैसे हो? वे सब मोह से मुग्ध हुए और काम के वश हो गये हैं, स्वरूप के वश से वे छूट गये हैं। आहाहा! ऐसे ब्रह्मा-विष्णु-महेश को कैसे पूजूँ? आहाहा! यह तो भेद बताये हैं, हों! द्वेष नहीं किया। प्रभु! ऐसा आत्मा वह आपने प्रगट किया, ऐसी परमात्मदशा; बहिरात्मपना छोड़कर, अन्तरात्मा में एकाकार होकर परमात्मदशा प्रगट की। प्रभु! वह तो तू अकेला परमात्मा है। तेरे समक्ष ऐसे मोह में मुग्ध हुए, भ्रमणा में पड़े हुए और विषय के वश, काम के वश हो गये, ऐसे ब्रह्मा-विष्णु-महेश को कैसे नमन करूँ? समझ में आया?

नहीं पूजुंगा। '**अजेऽहम्**' है न? '**अजेऽहम्**' ऐसे को मैं कैसे पूजूँ? तब? '**जितभवमभिवन्दे**' **जिसने भवों को जीता है, उसकी मैं वन्दना करता हूँ...** ...पंचास्तिकाय में आता है न, भाई! 'णमो जिणाणं' जिसने भव को जीता। आहा! ...यहाँ से यह शुरु किया है। जिसने भव का अभाव किया है। आहाहा! लो, नौ बजे। वीतरागभाव... वीतरागभाव जिसने प्रगट किया है प्रभु! भव का अभाव किया। यह करने का तो यही हो, वह आपने किया। भव—चार गति का अभाव... आता है, पंचास्तिकाय की पहली गाथा में आता है। **जिदभवाणं**—जिसने भव को जीता है। यह शैली ऐसी है... पंचास्तिकाय की पहली गाथा में। ओहो प्रभु! जिसने भवों को जीता है (अर्थात्) जिसे भव ही नहीं, ऐसा आत्मा जिसने प्रगट किया है। आहा! वस्तु तो यह है। भव का अभाव

करना और स्वभाव की प्राप्ति करना—उत्पत्ति करना, है उसे ... प्रगट में लाना, भव का अभाव करना।

ऐसे, जिसने भवों को जीता है। '**जिन**' शब्द से शुरु किया है यह। **उसकी मैं वन्दना करता हूँ...** उसे मैं आदर करता हूँ। जो भववाले हैं और भव हैं, वे जीव तो अनादि से भटकते हैं, उन्हें मैं कैसे (वन्दन) करूँ? वे तो मेरे जैसे हैं, ऐसा कहते हैं। मैं जैसे भव में हूँ, वैसे वे भव में हैं, ऐसा। आहाहा! **उसे प्रकाशमान ऐसे श्रीजिन कहो...** है न? '**भासुरं**' अन्तिम शब्द है। अन्तिम पद में है। '**भासुरं श्रीजिनं वा**' '**भासुरं श्रीजिनं वा**' उसे **प्रकाशमान ऐसे श्रीजिन कहो...** परन्तु ऐसे, हों! जिसने भव जीते हैं और आत्मा की पूर्ण प्राप्ति जिसने की है। आहाहा! हे परमात्मा! आहाहा! यह देव को वन्दन करते हैं पहले मांगलिक में, परन्तु उसका क्या स्वरूप है, ऐसा जानकर (वन्दन करते हैं)। मुझे भी भव का अभाव करना है, इसलिए तुझे ही मैं तो वन्दन करता हूँ। समझ में आया? **प्रकाशमान ऐसे श्रीजिन कहो...** ऐसी दशावन्त को **सुगत कहो...** ऐसी दशावन्त को। वह (बौद्ध) सुगत, वह सुगत नहीं। उसका अर्थ करेंगे, हों! देखो! नीचे (फुटनोट में) है।

१. बुद्ध को सुगत कहा जाता है। सुगत अर्थात (१) शोभनीकता को प्राप्त... एक बात। **अथवा (२) सम्पूर्णता को प्राप्त।** सुगत—सु-(गत अर्थात्) पूर्ण को प्राप्त। आत्मा की ज्ञान और आनन्ददशा परमात्मा आपको पूर्ण प्राप्त है। इसे जिन कहो या उसे सुगत कहो। उसे सुगत कहो। यह बौद्ध है, वह नहीं, वह सुगत है। जिसकी परमानन्द आदि शोभनीक दशा—इष्ट दशा पूर्ण प्रगट हो गयी है और जो सुगत—पूर्ण है। शोभनीक है और पूर्ण है। सम्पूर्ण शोभनीकता को प्राप्त **श्री जिनभगवान...** उसका अर्थ करते हैं अब दो का। शोभनीकता को प्राप्त और सम्पूर्णता को प्राप्त। **(१) मोहरागद्वेष का अभाव होने के कारण शोभनीकता को प्राप्त हैं...** ऐसा। हे नाथ! आपको मोह-राग-द्वेष जरा भी नहीं, इसलिए आप शोभा को प्राप्त हो। समवसरण और इन्द्र वन्दन करते हैं, इसलिए (शोभा है), ऐसा नहीं, ऐसा कहते हैं। आपको मोह और राग-द्वेष रहित पूर्ण स्वरूप की सावधानी से पूर्णता की प्राप्ति है, इसलिए आप ही शोभनीक हो।

दूसरी व्याख्या। सम्पूर्ण की व्याख्या। सम्पूर्णता को प्राप्त श्रीजिन भगवान। सुगत।

और (२) केवलज्ञानादि को प्राप्त कर लिया है, इसलिए सम्पूर्णता को प्राप्त हैं;... लो। केवलज्ञान, केवलदर्शन... अरे! ऐसी पर्याय की अस्ति की प्रतीति होना। समझ में आया? ऐसी बड़ी जिसकी सत्ता जगत में है, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य आदि पूर्ण पर्यायों का अस्तिपना है, प्रभु! तेरी अस्ति है... तेरी अस्ति है। तेरी अस्ति में ऐसे को मैं क्यों वन्दूँ? ऐसी अस्ति का जिसे अन्तर स्वीकार हो गया है। समझ में आया? **केवलज्ञानादि को प्राप्त कर लिया है...** पूर्ण वस्तु तो थी, उसमें पर्याय प्रगट करके पूर्णता की, ऐसी पूर्णता को प्राप्त हुए, इसलिए आप ही सम्पूर्ण हो। आहाहा!

इसलिए उन्हें यहाँ सुगत... कहा जाता है। ... दूसरी बात। '**अगधर**' था न '**अगधर**' अगधर कहते हैं। क्या कहा? अग अर्थात् गति नहीं, ऐसा? अ-ग—गति नहीं जिसे, गमन नहीं। पर्वत बड़े। ऐसा का ऐसा पड़ा है एक जगह। अगधर। **गिरिधर कहो...** परन्तु ऐसे भगवान को, हों! **२. कृष्ण को गिरिधर (अर्थात् पर्वत को...** कहते हैं न! पर्वत को तर्जनी अँगुली से 'प्रिय मेरे पर्वत को तोला' ऐसा आता है। भजन में आता है कहीं। ऐसा कहते हैं, भगवान! तुम गिरिधर हो। समझ में आया? **श्री जिनभगवान अनंत वीर्यवान होने से उन्हें यहाँ गिरिधर कहा है।** लो, वीर्य—अनन्त बल शक्तिरूप से जो था, उसे प्रगट किया अनन्त वीर्य और उसके द्वारा अनन्त स्वरूप की रचना स्वयं प्रगट की, उसे यहाँ गिरिधर कहा जाता है। समझ में आया? कहो, देवजीभाई! यह है। आहाहा!

अनंत वीर्यवान होने से उन्हें यहाँ गिरिधर कहा है। अनन्त वीर्य को जिसने रचा, वीर्य से अनन्त स्वरूप की रचना की, ऐसे गिरिधर (अर्थात्) धार रखा है अनन्त गुण की पर्याय को; इसलिए आपको गिरिधर कहा जाता है परन्तु भगवान ऐसे हों उन्हें। उन्हें जिन कहो, उन्हें सुगत कहो, उन्हें अगधर—गिरि के धारक कहो। आहाहा! समझ में आया? इसके ज्ञान में उसका माप आना चाहिए। ऐसे भगवान हैं, उसका इसे निःसन्देहरूप से (ज्ञान होना चाहिए)। ऐसे भाव के धारक परमात्मा हैं, ऐसा कहा है न? (कौन) कह सकता है यह? प्रभु! तुम ऐसे हो और अब हम किसे मानें? आहाहा! हम तो तुम्हारे सेवक हैं, ऐसा कहते हैं। ऐसा जो स्वभाव प्राप्त किया, उसे हम सेवन करनेवाले हैं, दूसरे को हम नहीं सेवन करते। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

फिर उसे जिन कहो, गिरिधर कहो। **वागीश्वर कहो...** है न वागीश्वर? बाघेश्वर नहीं, हों! बाघ के ऊपर बैठनेवाली ऐसी सरस्वती, वह नहीं। वागीश्वर—वाक्... वाक्—वचन के ईश्वर। हे भगवान! आप तो वचन के ईश्वर हो। आपको (ही) ऐसी दिव्यध्वनि होती है। समझ में आया? **ब्रह्मा को अथवा बृहस्पति को वागीश्वर...** वाक्-ईश्वर, वाक्-वाणी **(अर्थात् वाणी के अधिपति)...** ईश्वर अर्थात् अधिपति कहते हैं, ब्रह्मा अथवा बृहस्पति को। **श्री जिनभगवान दिव्यवाणी के प्रकाशक होने से उन्हें यहाँ वागीश्वर कहा है।** आहाहा! आप तो ऐसे हो, परन्तु वाणी में भी दिव्यध्वनि को धारण करनेवाले हो, ऐसा कहते हैं। प्रकाशक हो। वाणी की बात की। ऐसी वाणी तो प्रभु तुझे ही होती है, इसलिए तू ही वागीश्वर है।

वह नहीं गाया था, क्या? 'नमो देवी वागेश्वरी जिनवाणी।' वहाँ वे कहे, नमो देवी वाघेश्वरी... बाघ के ऊपर बैठनेवाली थी न सरस्वती। ऐसे के ऐसे। वाकेश्वरी—वाणी में ईश्वर ऐसी वाणी—दिव्यध्वनि के आप प्रकाशक हो, इसलिए आप ही वाणी के स्वामी हो, वाणी के करनेवाले हो। समझ में आया? आया न यह ब्रह्मा... वागीश्वर... वाक्—वाणी के प्रकाशक होने से वागीश्वर कहा है। ओहोहो! वह पूर्णानन्द पूर्ण प्रभु, उनकी वाणी में तो पूर्णता ही आवे। ऐसी दिव्यध्वनि आवे अलौकिक! भाग्यवान उसे सुने, उसका कल्याण हो जाये—ऐसा कहते हैं। समझ में आया? वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर श्री तीर्थंकरदेव की यह व्याख्या है। उसे यह सब नाम लागू पड़ते हैं। दूसरे नाम ले... गये हैं, ऐसा यहाँ है नहीं। वस्तु यह है। आहाहा!

पश्चात्, **शिव कहो। ४. महेश को (शंकर को) शिव कहा जाता है।** जिनभगवान कल्याण—शिव की व्याख्या। **श्री जिनभगवान कल्याणस्वरूप होने से...** पूर्ण कल्याण, वीतरागी कल्याण, आनन्दरूपी कल्याण... आता है न नमोत्थुणं में? 'सिवमयल मरुय...' 'सिव' आता है या नहीं? 'सिवमयल मरुयमणंत मख्खयमव्वाबाह...' यह नमोत्थुणं में आता है। नमोत्थुणं किया नहीं होगा। गुलाबभाई? नमोत्थुणं किया है? सामायिक-बामायिक नहीं की होगी। पैसे को नमोस्तु किया होगा? ऐसा नमोत्थुणं में आता है। सामायिक में आता है। सातवाँ पाठ आता है। 'नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं आईगराणं

तिथ्थयराणं संयंसंबुद्धाणं पुरिसुत्तमाणं पुरिससिहाणं...' करते-करते 'सिवमयल मरुयमणंत मख्खयमव्वाहिमपुणरावित्ति...'

सिवं... हे परमात्मा! आप कल्याणस्वरूप हो। पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान आपको प्रगट हुआ है। राग का कण नहीं और शरीरादि की चीज़ भी जिसे नहीं, ऐसा अशरीरी परमात्मस्वरूप आपने प्रगट किया। वह आप ही शंकर हो। सुख को प्राप्त करे, वह शंकर। समझ में आया? शिव—शंकर—पूर्ण सुख को प्राप्त किया। आनन्दमूर्ति... जैसा आत्मा का आनन्दस्वभाव था, उसे पर्याय में—अवस्था में आपने पूर्ण आनन्द प्रगट किया है। आपको अब विकल्प भी नहीं, वाणी भी नहीं, शरीर भी नहीं। **उन्हें यहाँ शिव कहा गया है।** लो। **शिव कहो।** यह एक श्लोक का अर्थ हुआ। मंगल किया। देव की व्याख्या करके मांगलिक किया।

अब वाणी। दूसरा श्लोक वाणी का है। 'देव-शास्त्र-गुरु तीन' ऐसा आता है न?

वाचं वाचंयमीन्द्राणां वक्त्रवारिजवाहनम्।
वन्दे नयद्वयायत्त-वाच्य-सर्वस्व-पद्धतिम्॥२॥

श्लोकार्थ :—वाचंयमीन्द्रों का... वाचंयमींद्रो... नीचे। वाचंयमींद्रो—वाणी के यमी के इन्द्र। वाणी के यमी के इन्द्र। वाचंयमींद्रो—वाणी के मौन के यम में इन्द्र। **वाचंयमीन्द्र=मुनियों में प्रधान...** वाचंयमी अर्थात् मुनि। वाचम्+यमी। वाचम्-यमी—वाणी में मौन घरनेवाले ऐसे जो मुनि, उनमें इन्द्र (अर्थात्) जिनदेव। एक ओर कहा कि वाणी के प्रकाशक हो। ऐई! यहाँ कहते हैं कि तुम मौन के संयमियों में भी प्रधान हो। भगवान मौन ही है। वह वाणी तो वाणी के कारण से निकलती है। आहाहा! गजब! वाचम्+यमी+इन्द्रो... **मुनियों में प्रधान अर्थात् जिनदेव;...** अथवा वाचम् अर्थात् **मौन सेवन करनेवालों में...** ऐसा। वाचम्+यमी—वाणी में मौन सेवन करनेवालों में **श्रेष्ठ अर्थात् जिनदेव; वाक्संयमियों में...** वाणी के **इन्द्र समान अर्थात् जिनदेव।** बहुत शब्द स्पष्ट किये बहुत। वाचम्+यमी... वाचम्+यमी अर्थात् मुनि। वाचम्+यमी... मौन है, मुनि, वह मौन हैं। **(वाचंयमी=मुनि; मौन सेवन करनेवाले; वाणी के संयमी।)** उसमें आप प्रधान हो। आहाहा! वह वाणी कहीं तुम्हारी नहीं। वह मौन ही है भगवान। आत्मा, वह मौन ही है। उसमें विकल्प और वाणी है ही कहाँ? आहाहा! समझ में आया?

जिनभगवन्तों को **वाचंयमीन्द्रों का (जिनदेवों का) मुखकमल जिसका वाहन है...** मुखकमल लिखा है न। **वक्र** अर्थात् मुख। **वारिज** अर्थात् कमल। **वाहनाम्...** जिनदेव का मुखकमल जिसका वाहन है वाणी... वाणी। आहाहा! देखो! मुखकमल जिसका वाहन है। ठीक! मुख लिया जहाँ-तहाँ। वाणी है, वह तो दिव्यध्वनि भगवान की है। उसमें भिन्न करके शैली ली है पंचास्तिकाय में। मुखारविन्द—मुखरूपी कमल में से, प्रभु! आपकी वाणी निकलती है। भगवान तो मौन हों ऐसे। पूरे देह में से वाणी निकले ॐ ध्वनि। पूरे शरीर में से ॐ ऐसी ध्वनि निकलती है। परन्तु लोग मुख की मुख्यता से भाषा कहते हैं न, इस अपेक्षा से बात कही जाती है।

मुखकमल जिसका वाहन है... किसका? वाणी का। और **दो नयों के आश्रय से सर्वस्व कहने की जिसकी पद्धति है,...** देखो! यहाँ से कितने ही निकालते हैं। देखो! दो नयों की पद्धति। बराबर है, दो नयों का ही कथन होता है। कथन तो द्रव्य-पर्याय का, निश्चय-व्यवहार का दो कथन होता है। नहीं होता तो अकेला ही हो, ऐसा होगा? दो नयों का कथन है अर्थात्? उसमें एक नय आदरणीय है और एक नय छोड़नेयोग्य है, ऐसा कब दो निश्चित हो? कथन तो दोनों के होते हैं या नहीं? उसका अर्थ कि द्रव्य का अकेला कथन हो और पर्याय नहीं तो एकान्त हो गया। छोड़नेयोग्य... दो प्रकार कहे तो दो प्रकार में एक आदरणीय और एक छोड़ने(योग्य)। दोनों समान हों तो ऐसे दो भेद क्यों पड़े? दोनों समान हो तो भेद क्यों पड़े? तो एक में जाये सब।

द्रव्य त्रिकाली भगवान उपादेय है, ऐसी वाणी भी आपकी है और एक समय की पर्याय है, रागादि अस्ति है। है, उसे बतलाते हैं, परन्तु हेय बतलाते हैं, ऐसी वाणी भी आपकी है। समझ में आया? आहाहा! दिगम्बर मुनियों ने तो जंगल में रहकर ऐसी बातें की थीं! आहाहा! कहते हैं कि वाणी जिनदेवों का मुखकमल, उसका वाहन है और **दो नयों के आश्रय से सर्वस्व...** भाषा ऐसी है न वापस। आहाहा! सर्वस्व पद्धति... सर्वस्व पद्धति... सर्वत्र दो नय होते हैं। मोक्षमार्ग कहे तो दो, सम्यग्दर्शन कहे तो दो। कथन-कहने में पद्धति है न वाणी की। उसमें यह निकालते हैं न बहुत। पद्धति की बात है यहाँ तो। समझ में आया? सम्यग्ज्ञान कहे तो दो, चारित्र कहे तो दो, आनन्द के दो प्रकार एक सुख और दुःखादि दशा। ऐसे प्रत्येक में दो-दो प्रकार का कथन (होता है)।

संसारी और सिद्ध—जीव के दो भेद। जीव तो निश्चय से (एक), उसके भेद संसारी-सिद्ध यह व्यवहार। सब—सर्वस्व जगह दो नय है।

तब उसमें से निकालते हैं कि क्रमबद्ध में क्रम और अक्रम दो चाहिए। वह पर्याय क्रमबद्ध भी और पर्याय अक्रम भी, ऐसा। गुण अक्रम और पर्याय क्रम... क्रमबद्ध पर्याय है, वह पर्याय क्रमबद्ध ही है और दूसरे की अपेक्षा से उसे अक्रम कहा जाता है। अक्रम अर्थात् फेरफार हो, ऐसा नहीं। दूसरे की अपेक्षा से उसे अक्रम कहा जाता है, परन्तु अपनी अपेक्षा से क्रम कहलाता है—ऐसे दो नय का कथन है। दूसरे की अपेक्षा से अक्रम कहलाता है अर्थात् क्रम बदल जाता है, ऐसा नहीं। जैसे स्वद्रव्य को द्रव्य की अपेक्षा से द्रव्य कहा जाता है, परद्रव्य को इस द्रव्य की अपेक्षा से अद्रव्य कहा जाता है और इसकी अपेक्षा से उसे अद्रव्य कहा जाता है, ऐसा। आहाहा! ... विवाद... करते हैं न। आड़ी-टेढ़ी होती है। एक क्रमसर है और आड़ी-टेढ़ी होती है। वह की वह आड़ी-टेढ़ी हो तो उसके दो भाग कहाँ रहे? वह तो भिन्नता की बात हो गयी। एक की एक क्रमबद्ध ही है, गुण अक्रम है। गुण अक्रम (अर्थात्) एक साथ है, तब पर्याय क्रम है। यह दो हुई, यह दो नय का कथन हो गया। अथवा क्रमपर्याय क्रम से ही है, दूसरे की अपेक्षा से—दूसरा जो है उस दूसरे की पर्याय भी क्रम है। उसकी अपेक्षा से यह (पहले की पर्याय) अक्रम है (अर्थात्) ऐसा क्रम यह नहीं, ऐसा। समझ में आया?

वे कैसे? तुलसी है न। तेरापंथी। उसने एक बार पूछा था एक बार। अपना सतीश रहता था न पहले। वहाँ जाकर पूछा था कि क्रमबद्ध क्या है? तुलसी ने कहा कि निश्चय से क्रम और व्यवहार से अक्रम। मार गप्प। यह कहे, व्यवहार से अक्रम अर्थात् क्या? उसका अर्थ क्या? तुसली अभी बड़ा है न तेरापंथी का आचार्य। कुछ खबर नहीं होती। यह दुनिया में इकट्ठे होकर बड़ा ठहरावे। आहाहा! यहाँ तो वीतराग, जिसकी सर्वस्व दो नयों के आश्रय से कहने की पद्धति है। अस्ति-नास्ति। स्व से अस्ति, पर से नास्ति। पर से नास्ति व्यवहार हो गया, स्व से अस्ति निश्चय है। दो कथन, प्रत्येक में दो नय की कथनी है। समझ में आया? **दो नयों के आश्रय से सर्वस्व...** ऐसा यहाँ वजन है न। **कहने की जिसकी पद्धति है,...** 'कहने की जिसकी पद्धति' ऐसा है न? '**नयद्वयायत्तवाच्यसर्वस्वपद्धतिम्**' ऐसा है। कहने की पद्धति है। निरूपण... निरूपण

दो प्रकार से है। कथन का प्रकार दो है—द्रव्य का—पर्याय का। निश्चय का-व्यवहार का, अभेद का-भेद का। समझ में आया?

सर्वस्व कहने की जिसकी पद्धति है, उस वाणी की (जिन भगवन्तों की स्याद्वादमुद्रित वाणी की) मैं वन्दना करता हूँ। पहले देव की पहिचान करके वन्दन किया, फिर वाणी की पहिचान करके वाणी को वन्दन किया। समयसार में (कलश-२) ऐसा आता है न? '**अनंतधर्मणस्तत्यं पश्यति प्रत्यगात्मनः**' वाणी को नमस्कार किया है। है न? वह तो भगवान की वाणी है न! स्वभाव में जा... स्वभाव में जा, विभाव से हट। यह वाणी वीतराग की है न! **(जिन भगवन्तों की स्याद्वादमुद्रित वाणी की) मैं वन्दना करता हूँ।** अब गुरु की बात। देव, शास्त्र और गुरु।

सिद्धान्तोद्धश्रीधवं सिद्धसेनं
तर्काब्जार्कं भट्टपूर्वाकलंकम्।
शब्दाब्धीन्दुं पूज्यपादं च वन्दे
तद्विद्याढ्यं वीरनन्दिं व्रतीन्द्रम्॥३॥

अपने गुरु को वन्दन करते हैं और दूसरे भी गुरु हैं, उन सबको साथ में (वन्दन करते हैं)। **श्लोकार्थ :—उत्तम सिद्धान्तरूपी श्री के पति सिद्धसेन मुनीन्द्र की,...** यह सिद्धसेन 'सन्मतितर्क' के रचनेवाले, वे यह नहीं। उस समय नाम... यह तो महा उत्तम सिद्धान्तरूपी स्त्री के पति सिद्धसेन मुनि... कितने ही इसमें से यह निकालते हैं। कि देखो! सिद्धसेन को भी वन्दन किया है। वहाँ तक ऐसा समभाव था। ऐ भीखाभाई! सिद्धसेन दिवाकर हुए न श्वेताम्बर में। बिल्कुल नहीं। यहाँ मुनि किसका वन्दन करे? यह तो स्वयं ९०० वर्ष पहले हुए हैं न टीकाकार। टीकाकार हैं न, इनके पहले हो गये सिद्धसेन दिवाकर। उस समय सिद्धसेन नाम देनेवाले बहुत मिलते हैं। बहुत नाम मिलते हैं। स्वयं वन्दन करते हैं, वे दिगम्बर सन्त हैं। सिद्धसेन मुनि दिगम्बर वनवासी (सन्त हैं)। श्वेताम्बर के जो 'सन्मतितर्क' को करनेवाले, उन्हें वन्दन करे कभी?

उत्तम सिद्धान्तरूपी श्री के पति... लो। देखा! उत्तम सिद्धान्त जिन्होंने सिद्ध किये—साबित किये हैं, ऐसी सिद्धान्तरूपी लक्ष्मी के पति सिद्धसेन मुनिन्द्र को... उसमें

तो चलता है वहाँ हों, यह। देखो! सिद्धसेन को भी दिगम्बर मुनि वन्दन करते थे। उस समय ऐसा समभाव था। अरे! चल... चल ... खोटा। समझ में आया? यह तो कोई दिगम्बर सन्त सिद्धसेन ऐसे हुए हैं कि जो उत्तम सिद्धान्तरूपी स्त्री के पति हैं। उन्हें और सिद्धसेन को... है? (दिगम्बर के) शास्त्र को खोटे ठहराकर अपनी बात सच्ची कहे। दिगम्बर के... एक समय में दो उपयोग को खोटा ठहराते हैं। वे सिद्धसेन नहीं। समझ में आया? ऐसा मार्ग जगत को कठिन पड़ता है। लोगों को ऐसा लगता है कि यह तो द्वेष है। अरे बापू! यह तो सत्य की वस्तु है। सत्य ही ऐसा होता है।

उत्तम सिद्धान्तरूपी श्री के पति सिद्धसेन मुनीन्द्र की मैं वन्दना करता हूँ। ऐसा कहते हैं। **तर्ककमल के सूर्य भट्ट अकलंक मुनीन्द्र की,...** लो, तत्त्वार्थराजवार्तिक बनानेवाले तर्ककमल के सूर्य। **तर्करूपी कमल को प्रफुल्लित करने में सूर्य समान।** अकलंकदेव को नमन करते हैं, लो। अर्थ प्रसिद्ध हुए हैं न शास्त्र के। टीकाकार है न यह तो। अकलंकदेव पहले हो गये, यह बाद में हुए। समझ में आया? तर्ककमल के सूर्य... है न? '**तर्काब्जार्कं**'—तर्करूपी कमल के अर्क—सूर्य समान। अर्क (अर्थात्) सूर्य। '**भट्टपूर्वाकलंकम्**' ऐसे अकलंकदेव को मैं नमन करता हूँ। अब, '**शब्दाब्धीन्दुं**' '**शब्दाब्धीन्दुं पूज्यपादं च वन्दे**' **शब्दसिन्धु के चन्द्र पूज्यपाद मुनीन्द्र की...** सर्वार्थसिद्धि में ऐसी टीका की है न पहली तत्त्वार्थसूत्र की। शब्दसिन्धु के चन्द्र कहे हैं। आहाहा!

शब्दरूपी समुद्र को उछालने में चन्द्र समान। तत्त्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि है। उन्हें वन्दन करते हैं। ओहो! कैसे हो आप? **शब्दसिन्धु के चन्द्र...** जैसे चन्द्र को पूर्णिमा आवे और समुद्र उछले, वैसे शब्द को उछालने में चन्द्र समान हैं। टीका सर्वार्थसिद्धि की देखो तो...! समझ में आया? ऐसे पूज्यपाद मुनिन्द्र को **और तद्विद्या से...** इन तीनों से **समृद्ध** हैं मेरे गुरु, ऐसा कहते हैं। **वीरनन्दि।** उत्तम सिद्धान्तरूपी स्त्री के पति भी हैं, तर्ककमल के सूर्य भट्ट अकलंकदेव जैसे भी हैं और शब्दसिन्धु के पूज्यपाद जैसे भी है। **तद्विद्या से (सिद्धान्तादि तीनों के ज्ञान से) समृद्ध वीरनन्दि मुनीन्द्र की मैं वन्दना करता हूँ।** गुरु को वन्दन करते हैं। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

-:प्रकाशकः-
श्री कुंदकुंद-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,
विले पार्ला, मुंबई
www.vitragvani.com